क्रिश्चियनिटी कृष्ण-नीति है



पुरुषोत्तम नागेश ओक

"क्या कृस्ती-पंथ कृष्ण-मन्दिर विवाद से उत्पन्न मत है ?
क्या बाईबल कृष्ण मन्दिर विवाद की प्रतीक-कथा ही है ?"

समाधानकारी उत्तर इसी ग्रंथ में मिलेगा—

क्रिश्चियनिटी

अर्थात् कृस्ती पंथ

कृष्ण-नीति है

Christianity is Chrisn-nity

का हिन्दी अनुवाद

लेखक : *पुरुषोत्तम नागेश ओक*

अनुवादक : जगमोहन राव भट्ट

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली - 05

मूल्य 75.00
प्रकाशक हिन्दी साहित्य सदन
2 बी.डी. चैम्बर्स , 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग , नई दिल्ली-110005
email: indiabooks@rediffmail.com
फोन 51545969 , 23553624
फैक्स 011-23553624
संस्करण 2005
मुद्रक संजीव आफसैट प्रिंटर्स, दिल्ली-51

विषय-सूची

प्राक्कथन

इस पुस्तक के शीर्षक 'क्रिश्चियनिटी कृष्ण-नीति है' से पाठकों में मिश्रित प्रतिक्रिया उत्पन्न होने की सम्भावना है। उनमें से अधिकांश सम्भवतया छलित एवं भ्रमित अनुभव करते हुए आश्चर्य करेंगे कि कृष्ण-नीति क्या हो सकती है और यह किस प्रकार क्रिश्चियनिटी की ओर अग्रसर हुई होगी।

यह सामान्य मानव धारणा है। किसी भी नई पुस्तक को उठाने पर यह समझा जाता है कि इसमें कुछ नया कहा गया है। और जब वह पुस्तक वास्तव में कुछ नया कहती है तो उसकी प्रतिक्रिया होती है—"क्या हास्यास्पद कथन है, ऐसी बात हमने कभी सुनी ही नहीं।" कहना होगा कि भले ही कोई उसे समझने का बहाना बना रहा हो, किन्तु वह अपने मन और बुद्धि से उससे तब ही सहमत होता है जबकि वह उसकी अपनी धारणाओं से मेल खाता हो।

यहाँ पर यह सिद्धान्त लागू होता है कि यदि किसी को स्नान का भरपूर आनन्द लेना हो तो उसे पूर्णतया नग्न रूप में जल में प्रविष्ट होना होगा। इसी प्रकार यदि किसी नए सिद्धान्त को पूर्णतया समझना है तो उसे अपने मस्तिष्क को समस्त अवधारणाओं, अवरोधों, शंकाओं, पक्षपातों, पूर्व धारणाओं, अनुमानों एवं सम्भावनाओं से मुक्त करना होगा।

ऐसी सर्व-सामान्य धारणाओं में आजकल एक धारणा यह भी है कि ईसाइयत एक धर्म है, जिसकी स्थापना जीसस क्राइस्ट ने की थी। यह पुस्तक यह सिद्ध करने के लिए है कि 'जीसस' नाम का कोई था ही नहीं, इसलिए कोई ईसाइयत भी नहीं हो सकती। यदि इस प्रकार की सम्भावना से आपको किसी प्रकार की कँपकँपी नहीं होती है तो तभी आप इस पुस्तक के पारदर्शी सिद्धान्तरूपी जल में अवगाहन का आनन्द उठा सकते हैं, जोकि

गरमागरम साक्ष्यों और मनभावन तर्कों से सुवासित किया गया है।

कुछ लोगों को यह आत्म-प्रकाश हो सकता है कि 'क्रिश्चियनिटी' संस्कृत का क्राइस्ट-नीति है जिसका अभिप्राय है क्राइस्ट द्वारा उपदिष्ट, प्रतिपादित या आचरित जीवन-दर्शन।

इस पुस्तक में हमने अपनी उन खोजों की व्याख्या की है कि क्राइस्ट कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था ही नहीं, अतः क्रिश्चियनिटी वास्तव में प्राचीन हिन्दू, संस्कृत शब्द कृष्ण-नीति का प्रचलित विभेद है, अर्थात् वह जीवन-दर्शन जिसे भगवान् कृष्ण, जिसे अंग्रेजी में विभिन्न प्रकार से लिखा जाता है, ने अवतार धारण कर प्रचलित, प्रतिपादित अथवा आचरित किया था।

कृष्ण, जिसको क्राइस्ट उच्चरित किया जाता है, यह कोई योरोपीय विलक्षणता नहीं है। यह भारत में आरम्भ हुआ। उदाहरणार्थ —भारत के बंग प्रदेश में जिन व्यक्तियों का नाम कृष्ण रखा जाता है उन्हें क्राइस्ट सम्बोधित किया जाता है।

हम इस खोज का श्रेय नहीं लेते कि जीसस क्राइस्ट कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, क्योंकि कम से कम विगत दो सौ वर्षों से असंख्य जन यह सन्देह करते रहे हैं कि क्राइस्ट की कथा औपन्यासिक है। नेपोलियन जैसे अनेक प्रमुख व्यक्ति समय-समय पर स्पष्टतया इस सन्देह को उजागर करते रहे हैं। हाल ही में अनेक योरोपीय भाषाओं में, योरोपियन विद्वानों द्वारा अपने परिपूर्ण शोध-प्रबन्धों में कृष्ण-कथा की असत्यता को प्रकाशित किया है।

किन्तु हम अपनी निम्न विशिष्ट खोजों का श्रेय लेते हैं—(१) क्राइस्ट-कथा का मूल कृष्ण है, (२) यह कि बाइबल धार्मिक ग्रन्थ से सर्वथा पृथक् एक कृष्ण-मत से भटके प्रकीर्ण, संहतीकृत लाक्षणिक लेखा-जोखा है, (३) यह कि जीसस की यह औपन्यासिक गाथा सैंट पौल के जीवन के उपरान्त ही प्रख्यात की गई, और (४) यह कि नए दिन का प्रारम्भ मध्यरात्रि के बाद मानने की योरोपीय परम्परा उनमें कृष्ण-पूजा के आधिक्य के कारण प्रचलित हुई।

हिन्दू परम्परा में कृष्ण का जन्म दैत्यों के अत्याचार एवं अनाचार के अन्धकारमय दिनों का स्मरण कराता है। कृष्ण का जन्म शान्ति, सम्पन्नता

और सुखमयता के नवयुग के नवप्रभात का अग्रदूत है। मध्यरात्रि से दिन के आरम्भ की **योरोपियन** पद्धति वास्तव में हिन्दू भावना का ही प्रस्तुतीकरण है जो अपनी ही प्रकार से यह सिद्ध करती है कि योरोप हिन्दू-अंचल था।

योरोपीय विद्वानों की यह खोज कि जीसस क्राइस्ट कोई काल्पनिक चरित्र है, केवल अर्धसत्य है जो कि और अधिक भ्रम उत्पन्न करता है क्योंकि यह बताने में यह खोज असफल रही है कि जीसस क्राइस्ट कथा क्यों और कैसे आरम्भ हुई।

सर्वाधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि यदि जीसस क्राइस्ट जैसा कोई चरित्र था ही नहीं तो फिर क्रिश्चियनिटी के विषय में यह सब संभ्रम क्यों फैला?

प्रस्तुत पुस्तक उसी अन्तिम सूत्र को निर्दिष्ट करती हुई बताती है कि क्रिश्चियनिटी और कुछ नहीं अपितु हिन्दुंओं के कृष्ण-मत का योरोपियन तथा पश्चिम एशियाई विकृति है।

इसी प्रसंग में हम इस पुस्तक में यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि क्योंकि जीसस कोई जीवित व्यक्ति नहीं था, अतः बाइबल भी धर्मग्रन्थ किंचित् भी नहीं अपितु जेरुसलम और कौरिंथ स्थित कृष्ण मन्दिरों के संचालकों के परस्पर मतभेद का कुछ संहतीकृत और कुछ लाक्षणिक कथामात्र एवं उसका परवर्ती संस्करण है।

पृथक् हुए भाग ने कृष्ण मन्दिर की व्यवस्था को हथियाने के सीमित से निमित्त के लिए एक विद्रोहात्मक आन्दोलन आरम्भ कर दिया। सौल अथवा पौल इसका नेता था। यह पौल ही है जिसका वृत्त-चित्रण बाइबल में किया गया है। बारह देवदूत यहूदी समुदाय के वे बारह वर्ग हैं जिनकी सहायता की पौल ने इच्छा की थी। इसलिए जीसस के छद्मवेश में पौल ही बाइबल का मुख्य पात्र है।

यथातथा उनकी बड़ी-बड़ी अपेक्षाओं से कहीं परे पौल, पैटर, स्टीफन आदि द्वारा संचालित आन्दोलन एक प्रवाह में परिवर्तित होकर असहाय आन्दोलनकर्ताओं को कृष्ण-मत से दूर ले जाता हुआ और उनको किसी अज्ञात तट पर, जिसे वे अब भी भयाक्रान्त-से कृष्ण-नीति ही मानते रहे, जो अब क्रिश्चियनिटी कही जाती है।

बाइबल उस संघर्ष का लाक्षणिक लेखा-जोखा है जिसे आन्दोलनकर्ताओं ने साहस जुटाकर प्राप्त किया, जो अब यहूदी नागरिकों तथा रोमन अधिकारियों को खतरा बन गए हैं। यहूदियों को यह भय था कि यदि ये सब क्रिश्चियन बन गए तो यह विशिष्ट संस्कृति धँस जाएगी। दूसरी ओर रोमन अधिकारियों को यह भय होने लगा कि कृष्ण-मन्दिर-विवाद इस परिमाण में बढ़ गया है कि वह स्वयं प्रान्तीय प्रशासन के विरुद्ध खुले विद्रोह के रूप में भयावह सिद्ध हो रहा है।

उनका भय निराधार नहीं था, जैसा कि कालान्तर में इसने जुडाइज्म को अन्धकार में विलीन कर क्रिश्चियनिटी को स्थापित किया और रोम की क्रिश्चियन-पूर्व की संस्कृति को तहस-नहस कर भूमिसात् कर दिया।

चार शताब्दों की इस अराजकता की अवधि में विद्रोहियों ने, जैसा कि यहूदियों ने रोमन अधिकारियों को सूचित किया, समय-समय पर उन्हें उनके अपराधों के लिए दण्डित किया।

यहूदी रोमन अधिकारियों को सूचित करते थे, क्योंकि वे जीसस के मिथक को उन्मत्तता और हिंसा द्वारा फैलाकर उनकी शान्ति को भंग कर रहे थे। इस दिशा में रोमन अधिकारी उनके विरुद्ध कार्य करके उन नए दंगों को रोककर अथवा शान्त कर उन्हें उपकृत कर रहे थे।

यह आन्दोलन स्पष्टतया झड़पों, मुठभेड़ों, हत्याओं, सामूहिक अवरोधों, निष्कासनों, कर न देना जैसा कि मन्दिर के भीतर धन-विनिमय कारों के खातों से विदित होता था, बड़े जोरों से फैल गया। और तब यह प्रश्न उत्पन्न हो गया कि जो कर देय है क्या उसे सीजर के पास जमा करा दिया जाय? उस विद्रोह को समाप्त करने के प्रयास में विद्रोहियों को इतने पत्थर मारे गए कि वे मर गए अथवा उन्हें फांसी पर लटका दिया गया।

यही वह संघर्ष है जो बाइबल में अंकित और वर्णित है। यही कारण है कि पौल तथा अन्य लोग, जो उस आन्दोलन में सीधे वा किसी अन्य प्रकार से सम्मिलित थे, बाइबल में उनका पत्र-व्यवहार भी समाहित है।

काल्पनिक जीसस का अभिव्यक्तिकरण विद्रोहियों में सामान्यतया और पौल में विशेषतया किया गया है। काँटों का मुकुट और जनसमूह की अवज्ञा, अवमानना, परिश्रम और अन्त में फाँसी पर लटकाना—यही आन्दोलन-

कर्ताओं की कथा का सार है। जीसस का अवतार मुख्य रूप से उन यहूदियों के अनुरूप ही बैठता है जो आन्दोलनकर्ताओं के विषय में रोमन प्रशासन को सूचित करते रहे हैं जबकि पुनर्जीवित होना विद्रोहियों के शक्तिशाली गुट के रूप में होने का प्रतीक है।

बाइबल का संहतीकृत और संघर्ष के लाक्षणिक इतिहास के रूप में अध्ययन किया जाय तो तभी उसमें कुछ सार दिखाई देता है।

क्योंकि बाइबल की ऐसी वास्तविकता अज्ञात और अविदित रहती रही थी इसलिए विद्वान् और बाइबल के विद्वान् इसके वर्णन और धर्म से अनुकूलता के संगतीकरण में कोई संयोग पाने में अब तक बड़ी कठिनाई का अनुभव करते रहे थे। उनके लिए बाइबल अब तक बेमेल तथा परस्पर विरोधी अनियमितता एवं आपाधापी में गूँथे गए तत्त्वों का पिण्ड-सा है। अब तक बाइबल का प्रत्येक पाठक यही आश्चर्य करता रहा कि वास्तव में बाइबल का अभिप्राय क्या अभिव्यक्त करना है? यह ऐसी दिखाई देती थी मानो इसके बेमेल संकलन में बाइबल धर्म चर्चा और वर्णन, जीवनवृत्त और प्रार्थना, विनती और प्रवचन और क्रोध और परित्याग, ये सब परस्पर अस्त-व्यस्तता से मिश्रित हैं। इस रहस्य को अब हमने सर्वप्रथम उद्घाटित किया है। विभ्रम, कतराना, असंगतता, गुप्तता तथा रूपकता संघर्ष के प्रकार और इसके अनपेक्षित, निरुद्देश्य और अवांछितता के कारण उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार ब्रिटिशर्स ने मसालों का व्यापार करते-करते ही भारत का ताज ले लिया, उसी प्रकार जिन्होंने किन्हीं एक-दो कृष्ण मन्दिरों का अधिकार पा लिया उन्होंने बड़े आश्चर्य एवं संभ्रम अथवा लज्जा से पाया कि उनका प्रबल घोष सम्पूर्ण समसामयिक साम्प्रदायिक ढाँचा उनके सिरों पर ही टूट रहा है। इसलिए परिस्थितियों से विवश होकर उनको अपने संघर्ष का संहतीकृत, भ्रमात्मक, लाक्षणिक, अस्तव्यस्त, आलेख ही अपना धर्मग्रन्थ स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार मानवता का बहुत बड़ा भाग अन्ततः चाटु-कारितापूर्ण, अविश्वसनीय पाठ्य-सामग्री को मुक्ति एवं धर्म स्वीकार करना जनसामान्य की बुद्धिविहीनता का प्रतिबिम्ब है। जनसामान्य का यह स्वभाव होता है भीड़ का अनुसरण करना, यह जाने बिना कि इसका गन्तव्य और उद्देश्य क्या है। बाइबल की वास्तविकता की मेरी खोज से न केवल क्राइस्टो-

लौजी के अध्ययन एवं बाइबल और तत्सम्बन्धी धर्म में ही अत्यधिक गड़बड़ उत्पन्न करेगी अपितु समसामयिक संसार के सम्पूर्ण धार्मिक प्रकार को गड़बड़ा देगी।

कथमपि यह मुझ पर आ पड़ा है कि संसार की अनेक मुख्य ऐतिहासिक एवं धार्मिक अवधारणाओं का मैं पर्दाफाश करूँ। पन्द्रह वर्ष पूर्व मैंने अपनी अद्भुत खोज की घोषणा की थी कि भारत अथवा अन्य किसी भी देश का कोई भी ऐतिहासिक भवन; यथा—लालकिला और ताजमहल, समरकन्द का तामरलेन का तथाकथित मकबरा, किसी भी विदेशी आक्रमणकर्ता का, जैसा कि सामान्यतया उसे उसके नाम से बताया जाता है, उसका नहीं है। प्रत्येक तथाकथित ऐतिहासिक मस्जिद या मकबरा, भारत में हो अथवा विदेश में, वह अधिग्रहीत हिन्दू सौध ही है। परिणामतः इण्डो-अरब शिल्प-कला का सिद्धान्त बहुत बड़ा मिथक है। इसके परिणामस्वरूप समस्त संसार में विद्यमान ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक एवं शिल्प-विधा सम्बन्धी अध्ययन में निहित मूल त्रुटियाँ उजागर नहीं हो पाईं। इसीलिए आज संसार-भर के विद्वान् बड़े जोर-शोर से काल्पनिक इस्लामी भवनों के सम्बन्ध में अपने पूर्व-कृत्यों का पुनरावलोकन कर रहे हैं।

जीसस और बाइबल के सम्बन्ध में मेरी खोज, जो कि उसी प्रकार दूरगामी और विचलित करने वाली है, कुरान के भी आलोचनात्मक अध्ययन के लिए विवश करेगी। क्योंकि उसके विषय में भी यह कहना कि वह 'आसमान से नाजल' हुआ था, जीसस को सर्वथा ऐतिहासिक पुरुष और बाइबल को धार्मिक ग्रन्थ मानने के समान ही है। क्योंकि कुरान में जीसस तथा कुछ और आगे बढ़कर बाइबल की भाँति प्रकाश दिखाने की भविष्य-वाणी की गई है, वह एक प्रकार से विभ्रामक दौड़-सी है। किन्तु क्योंकि अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कोई ईसा नहीं है तो फिर कुरान कहाँ रह सकती है? यदि कुरान के विषय में मान लिया जाय कि वह स्वर्ग में स्थित फलक का प्रतिलेख है जो अरेबिया में प्रसारित किया गया है तो बताइए त्रुटि कहाँ है? क्या स्वर्ग का लेख त्रुटिपूर्ण है अथवा उसके अरब में उतरने पर उसमें गड़बड़ी की गई है? विद्वान् और जनसामान्य समान रूप से इसे जानने को उत्सुक होंगे।

क्राइस्ट ने ध्वन्यात्मक रूप में संत्रास किया। जब उसको उस प्रकार से उच्चारण करें तो हम उसे हिन्दू, संस्कृत शब्द कृष्ण से मिलता-जुलता पाएँगे।

'नीति' प्रत्यय भी संस्कृत का है। इसलिए 'क्रिश्चियनिटी' शब्द वास्तव में कृष्ण-नीति को अभिव्यक्त करता है अर्थात् भगवान् कृष्ण द्वारा प्रतिपादित अथवा आचरित जीवन-दर्शन।

अंग्रेजी में क्राइस्ट को अनेक प्रकार से लिखा जाता है जैसे कि देवनागरी में कृष्ण को। परन्तु क्योंकि अंग्रेजी में 'क्रिश्चियनिटी' एक ही मानक रूप में समस्त विश्व में लिखी जाती है, हमने इस पुस्तक में कृष्ण और कृष्ण-नीति पर समकक्ष लेखन पर स्थिर रहकर इस बात पर बल दिया है कि उसके अन्य प्रकार केवल ध्वन्यात्मक विभेद हैं।

रोमन वर्णमाला की अपूर्णता तथा विभिन्न भाषाओं द्वारा इसके ग्रहण ने लेखन में अत्यधिक विभ्रम उत्पन्न कर दिया है, संस्कृत शब्द 'ईश' अलियास ईशु अंग्रेजी, ग्रीक तथा लैटिन भाषा में विभिन्न प्रकार से लिखा जाता है। इशायुस, इयासियुस, इसेयुस, इयेसुस, इसुस और जेसुस—ये कुछ इसके अनेक नामों में से हैं। इसी प्रकार सिलास, सिलुस और सिल्वानुस, स्टेफेन, स्टीफन तथा स्टिफानुस आदि ध्वनि-विभेद त्रुटिपूर्ण रोमन लिपि के कुछ लक्षण हैं; यदि इसलिए पाठक इस पुस्तक में कोई एक नाम विभिन्न स्थानों पर अनेक प्रकार से लिखा गया पाते हैं तो उनकी निराशा में लेखक स्वयं सहभागी है।

एक बार फिर अपने खोजपूर्ण कार्य की ओर आते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि सर्वथा अप्रत्याशित, किंचित् नहीं, अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, अत्यन्त भयावह और निराशाजनक परिणाम इस खोजपूर्ण कृति के होंगे, खोज जो पाश्चात्य विद्वान् जिन्होंने शैक्षिक क्षेत्रों में दो शताब्दों तक राज्य किया है, उन्होंने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी भयंकर भूल की है जो कि उनके शब्दकोशों एवं विश्वकोशों तथा अन्य लेखों को नष्ट कर देगा। इसको प्रदर्शित करने के लिए इस पुस्तक के पृष्ठ ११७ पर हमारे द्वारा उद्धृत उद्धरण का उल्लेख करेंगे।

वहाँ ग्रीक शब्द 'हीरोसोलिमा' को इस प्रकार कहा गया है जिसका अभिप्राय होता है होली सलम अर्थात् होली जेरुसलम। यह भयंकर भूल है।

हीरोसोलिमा संस्कृत शब्द हरि-ईश-आलयम् का भ्रष्ट ग्रीक रूप है जिसका अभिप्राय है भगवान् हरि अथवा भगवान् कृष्ण का आसन, स्थान अथवा नगर। नगर के पवित्र होने की भावना केवल इसके भगवान् हरि के निवास होने के कारण अनुमानित है।

इसी प्रकार जब एन्साइक्लोपीडिया जुडेशिया हिब्रू का मूल 'ही', दिव्य संज्ञा का संक्षिप्त रूप, बताता है तो वह यह बताने में असमर्थ रहता है कि वह दिव्य संज्ञा क्या थी। वह दिव्य संज्ञा है 'हरि' अलियास कृष्ण।

इसलिए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यहाँ तक कि उनके अपने विशिष्ट क्षेत्र में भी पाश्चात्य विद्वान् वास्तविकता से कितनी दूर निकल गए हैं, अपने अर्धपक्व और भली प्रकार न समझी गई खोजों में लगे रहने की अपेक्षा पाश्चात्य विद्वान् सदा-सदा के लिए यह स्वीकार कर लें कि संस्कृत भाषा और हिन्दू परम्पराएँ मुख्य विश्व संस्कृति के रूप में मानव-सभ्यता की जड़ में समाहित हैं, तो उपयुक्त होगा।

इसलिए यह आशा की जाती है कि पाठक इस पुस्तक को अनेक कारणों से उपयोगी पायेंगे।

—पु० ना० ओक
१५-६-१९७८

अध्याय १

ईसाई पंथ कैसे चला ?

कृतयुग में मानव जाति के निर्माण से महाभारतीय युद्ध (अनुमानतः ईसवी सन् पूर्व ५५६१वाँ वर्ष) तक विश्व के हर प्रदेश में वैदिक सभ्यता ही थी।

उस युद्ध में हुए भीषण संहार के कारण वैदिक विश्व-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। आगे चलकर उसके खण्डराज्य सुरीय (Syria), असूरीय (Assyria), मेसोपोटेमिया (महिषीपट्टनीय), बॅबिलोनिया (बाहुबलिनीय) आदि कहलाने लगे।

वैदिक चातुर्वर्णाश्रमी समाज-जीवन भंग होकर रह गया। ऋषि-मुनियों के आश्रम नष्ट हो गए। संस्कृत शिक्षा-प्रणाली टूट-फूटकर उसी के भ्रष्ट उच्चारों से विविध प्राकृत प्रादेशिक भाषाएँ बनती चली गईं।

वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारतवाली सुसूत्र सामाजिक जीवन-प्रणाली भंग होकर आस्तिक से नास्तिक तक, तथा विविध देव-देवताओं को प्रधानता देनेवाले अनेक पंथ, उपपंथों में जनता बँट गई।

इस प्रकार भारत में ही आरम्भ में बौद्ध, जैन तथा आगे चलकर, महानुभाव, सीख, आर्यसमाजी, सनातनी, वीरशैव, वैष्णव, शैव, द्रविड़ पंथ निर्माण होते गए। इन सबकी ध्वजपताका केशरिया उर्फ नारंगी ही रही, यह विशेषता देखें।

उधर पाश्चात्य देशों में भग्न वैदिक समाज के पंथ Essenese (ईशानी यानी शैव), Stoics (स्तविक यानी स्तवन उर्फ जाप करनेवाले), Malencians (मॅलेन्शीयन्स् यानी म्लेंछ), Sadduceans (सॅडुशियन्स् यानी साधुजन), Palestinians (पॅलेस्टीनियन्स् यानी पुलस्तिन् ऋषि के अनुयायी, Romans (रोमन्स् यानी रामपन्थी), कृष्णियन्स् उर्फ कृस्तियन्स्

उर्फ कृष्णपन्थी (जो ख्रिश्चन् यानी ईसाई कहे जाते हैं) इस्लामी, यहूदी आदि कहलाए गए।

आगे चलकर यह पंथोपपंथ वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम्, योगवासिष्ठ, पुराणों आदि से बिछड़ते-बिछड़ते उस मूलगामी साहित्य को भूलते गए। संस्कृत भाषा का उनका बढ़ता अज्ञान भी एक कारण बना। कुछ पंथों ने वेदों को देववाणी मानने से इन्कार करना भी आरम्भ किया।

उनमें से कुछ पंथों में हठी, क्रोधी, दुराग्रही व्यक्ति उत्पन्न हुए जो सम्पत्ति तथा अधिकार प्राप्त करने की लालसा से किसी प्रकार अधिकाधिक लोगों को निजी पंथ के अनुयायी बनाने की होड़ में लगे हुए थे। पीटर और पॉल ऐसे ही दो व्यक्ति मूलतः कृष्णपंथी थे। किन्तु आगे चलकर उन्होंने कृष्ण के बजाय 'कृस्त' अपभ्रंश का लाभ उठाकर कृष्ण-नीति उर्फ भगवद्गीता प्रचारक पंथ को त्याग दिया। ईशस् कृष्ण (iesus Chrisn) का उच्चारण (jesus christ) जीसस कृस्त (अथवा क्राइस्ट) करते-करते पीटर तथा पॉल आदि के अनुयायियों ने बातों-बातों में बालकृष्ण के जीवन से मिलता-जुलता जीसस क्राइस्ट का एक काल्पनिक चरित्र भी बुनना चाहा। कुमारी माता के गर्भ से जीसस का चमत्कारी जन्म, जॉन द्वारा उसका उपनयन तथा निरपराध जीसस को यकायक, बिना कारण दिया गया क्रूर मृत्युदंड इन तीन घटनाओं की अंटसंट जीवनकथा अनुयायियों को सुनवा-सुनवाकर उस समय के शासकों के विरुद्ध जनता को भड़कानेवाले भाषण पीटर तथा पॉल देने लगे। इसी कारण पीटर तथा पॉल दहशतवादी तथा आतंकवादी माने जाते थे। उनका अन्त भी भीषण हुआ। तथापि भविष्य में जब ईसाई पंथ का प्रभाव तथा अधिकार बढ़ा तब पीटर और पॉल को Saint यानी सन्त की उपाधि से सम्मानित किया गया। अब वे दोनों सन्त ही समझे जाते हैं। पीटर तथा पॉल ने निजी जीवनकाल में जो दुर्व्यवहार किया या अनेक लोगों से शत्रुता की, उसका ब्योरा दबाये जाने के कारण अब सारे ईसाइयों की यही धारणा बन गई है कि पीटर तथा पॉल सादा, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करनेवाले सन्त ही थे।

इतिहास में ऐसा बार-बार होता दिखाई देता है। छल, बल, कपट

आदि से इस्लाम का प्रसार करनेवाले मुसलमान फकीर भी सन्त ही कहे जाते हैं।

सन् १९८०-९० के दशक में भारत के पंजाब प्रान्त में सिक्खों को हिन्दुत्व से पृथक् दर्शानेवाले आतंकवादी भी निजी अनुयायियों में सन्त ही कहे जाते हैं। जिसकी लाठी उसकी भैंस।

आतंक तथा दमन से फैलाए गए सारे पंथों का प्रारम्भिक इतिहास दुष्टता से भरा होने से उसे दबाकर एक नया झूठा इतिहास प्रसृत किया जाता है। अतः सत्य इतिहास का ज्ञान चाहनेवालों को इतिहास के अध्ययन तथा विवरण करने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है।

जीसस क्रस्त के चरित्र की बात ही लें। कहते हैं कि एक कुँवारी की कोख से उनका जन्म हुआ। इस कथन में वदतो व्याघातः का दोष साफ दिखाई देता है क्योंकि गर्भवती होने से कौमार्य का भंग हो जाता है। आंग्ल भाषा का Virginity (यानी कौमार्य) शब्द ही लें। वर्ज्यं जननं इति ऐसा उसका संस्कृत विवरण है। अतः कुँवारी के गर्भ से जीसस का जन्म असंभव है।

कहा जाता है कि क्रस्त बड़ा ही सौजन्यशील तथा मृदु स्वभावी था। किसी ने एक गाल पर थप्पड़ मारा तो प्रहारक की सुविधा हेतु दूसरा गाल भी उसके सम्मुख करना चाहिए, ऐसा उपदेश क्रस्त करता रहा। यह यदि सत्य होता तो वह अपने आपको यहूदियों का राजा कहलवाकर रोमन शासन उल्टा देना चाहता था, यह आरोप हास्यास्पद प्रतीत होता है। अतः कील ठोककर क्रस्त मारा गया, यह कथा कपोलकल्पित सिद्ध होती है। उसे देहदंड दिए जाने से पूर्व वह मेज पर १२-१३ शिष्यों सहित साथ भोजन ले रहा है, ऐसा एक चित्र ईसाई जनता में बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। किन्तु जानकार विद्वान् कहते हैं कि इस काल में तो रोमन शासन में लोग वैदिक प्रथा के अनुसार भूमि पर बैठकर ही भोजन किया करते थे, अतः Last Supper वाला चित्र सर्वथा कपोलकल्पित है।

उसी प्रसंग का एक और मुद्दा यह है कि रोमन शासन की पुलिस जब जीसस की तलाश में वहाँ पहुँची तो (Judas Iscariot) ज्यूडस इसकॅरियट नाम के शिष्य ने विद्यमान १२-१३ व्यक्तियों में जीसस के प्रति

अंगुली-निर्देश कर जीसस को पकड़वाया।

यह बात भी इस कारण मनगढ़न्त लगती है कि जीसस यदि प्रसिद्ध धार्मिक नेता था तो १२-१३ व्यक्तियों के गुट में उसका पता लगाना कौन-सी बड़ी बात थी। अतः ज्यूडस इस्कॅरियट के अंगुली-निर्देश की बात भी काल्पनिक लगती है।

जीसस के हाथ तथा दोनों पैर यदि कीलों से क्रूस पर ठोके गए थे तो रक्तस्राव के कारण उसकी तुरन्त मृत्यु अटल थी। फिर भी तीन दिनों के पश्चात् जीसस के पुनर्जीवित होकर सीधा स्वर्गारोहण करना अटपटा-सा लगता है।

जीसस को ईसाई लोग परमात्मा का अवतार मानते हैं। और परमात्मा सर्वशक्तिमान कहा जाता है। ऐसे सर्वशक्तिमान ईश्वरावतार को धोखे से पकड़कर झूठे आरोप में देहदंड दिया जाना भी जँचता नहीं।

ईसाइयों की मान्यता है कि जीसस को कीलें ठोकने से उसके शरीर से जो रुधिर बहा वह उसे परमात्मा माननेवाले अनगिनत व्यक्तियों के सारे पापों को सदियों तक धोता रहेगा।

इस तर्क में तो कई दोष दिखाई देते हैं। एक दोष यह है कि जीसस की मृत्यु यदि स्वेच्छा से किया हुआ आत्मसमर्पण अर्थात् आत्महत्या नहीं थी तो उसके शरीर से निकला रुधिर विश्व के अन्त तक उसका नेतृत्व कबूल करनेवाले असंख्य व्यक्तियों के पाप धोता रहेगा, यह धारणा विश्वासयोग्य नहीं लगती।

दूसरा दोष यह है कि किसी के शरीर से निकला रक्त तुरन्त गाढ़ा बनकर सूखे रूप में केवल दाग बनकर रह जाता है। ऐसे सूखे दाग दूसरों के पाप कैसे धो सकेंगे?

तीसरा दोष यह है कि मानव रक्त स्वयं एक दुर्गंधयुक्त जन्तुभरा पदार्थ होते हुए दूसरों के पाप कैसे धोएगा?

जीसस का नेतृत्व कबूल करने वालों को ही पापमुक्ति प्राप्त होगी, दूसरों को नहीं—इस कथन में भी ईश्वरीय आध्यात्मिक निष्पक्षता के बजाय स्वार्थी राजनयिक पक्षपातपूर्ण सौदेबाजी की झलक दिखाई पड़ती है।

अवतारी व्यक्ति वही कहलाता है जो सारे संकटों पर विजय प्राप्त कर विरोध का दमन कर सके। निराधार आरोपों में एकाएक किसी के हाथों असहाय अवस्था में मारा जानेवाला व्यक्ति सर्वशक्तिमान परमात्मा-स्वरूप कैसे कहा जा सकता है ?

जीसस की जीवनी में और भी कई त्रुटियाँ दिखती हैं। उसके निवास-स्थान का पता अज्ञात है। जीसस के भाषण सुनने तथा आशीर्वाद पाने के लिए भक्तगणों की तथा अन्य समर्थकों की भीड़ लगा करती होती तो जीसस का घर एक प्रसिद्ध स्थान होता। किन्तु जीसस की जीवनकथा काल्पनिक होने से जीसस के घर के पते का अभाव स्वाभाविक ही है।

जीसस का जन्मवर्ष, जन्मवार, जन्मतारीख तथा जन्मसमय सभी अज्ञात हैं। ईसवी सन् पूर्व ६८ या ६३ या ४ वर्ष ऐसे जीसस के जन्मवर्ष की बाबत विविध अनुमान प्रचलित हैं। जीसस क्रुस्त उर्फ ईसा के जन्मदिन से ही ईसवी सन् की गणना यदि प्रारम्भ होती तो ईसा का जन्म ईसवी पूर्व ६८, ६३ या ४ वर्ष में हुआ होगा, ऐसे अनुमान करते रहने की नौबत ही नहीं आती।

जीसस के जन्मवार के सम्बन्ध में तो कोई अनुमान भी प्रचलित नहीं है।

जीसस का जन्मोत्सव २५ दिसम्बर को मनाया जाता है। तथापि ईसाई विद्वान् मानते हैं कि प्राचीन काल में मकर संक्रान्ति २५ दिसम्बर को पड़ने से उस दिन संक्रान्ति का उत्सव मनाया जाता था। अतः मुट्ठी-भर, नगण्य ईसाईपंथी लोगों ने उसी उत्सव को जीसस का जन्मोत्सव कहना आरम्भ कर दिया।

जीसस की जीवनी में उसका जीवन-समय रात के १२ बजे का नहीं आँका गया है, तथापि गिरजाघरों में २५ दिसम्बर की रात को १२ बजे जीसस का जो जन्म मनाया जाता है, वह सर्वथा निराधार है, यह ईसाई विद्वान् स्वयं मानते हैं।

२५ दिसम्बर को यदि जीसस का जन्म हुआ, तो ईसवी सन् गणना का आरम्भ १ जनवरी से क्यों किया जाता है ? उससे अर्थ यह निकलता है कि स्वयं ईसा का जन्म ईसवी सन् आरम्भ से एक सप्ताह पूर्व हुआ। यह

बात तर्कसंगत नहीं। यदि सत्यमेव जीसस कोई ऐतिहासिक व्यक्ति होता तो ईसा के जन्मदिन तथा ईसवी सन् आरम्भ दिन भिन्न नहीं होते। इसी से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जीसस की सारी जीवनी एक कपोल-कल्पित कथा है।

सन् १९८६ में लंदन के बी० बी० सी० दूरदर्शन द्वारा चार-पाँच विद्वानों की चर्चा का कार्यक्रम दर्शाया गया था जिसका विषय था कि जीसस ऐतिहासिक व्यक्ति था या कपोलकल्पित ?

ईसाई पंथ के लिए सारे योरोपीय जनों में Christianity कृश्च्या-निटी (यानि कृस्तनीति) शब्द प्रचलित है। यदि कृष्ण-नीति से वह कोई भिन्न पंथ होता तो योरोपीय वाक्प्रचार में Hinduism, Communism, Buddhism की तरह उसे Christianism कहा जाता। किन्तु उसे कृश्च्यानिटी यानी कृस्तनीति इसलिए कहा जाता है कि वह वस्तुतः कृष्ण-नीति (यानी भगवद्गीता के भक्तों का) पंथ था।

आँग्ल भाषा या अन्य योरोपीय भाषाओं में 'नीति' ऐसा कोई स्वतन्त्र शब्द नहीं है, किन्तु संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में धर्मनीति, विदुरनीति, नीतिशास्त्र आदि शब्दों से देखा जा सकता है कि नीति एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र शब्द है। इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि जीसस नाम का कोई व्यक्ति कभी था ही नहीं। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् वैदिक सभ्यता छिन्न-भिन्न होने पर अनेक पंथों में एक कृष्ण-नीति पंथ था। उसी की एक शाखा पीटर, पॉल जैसे संतापी व्यक्तियों के नेतृत्व में अलग होकर कृस्तनीति उर्फ कृश्च्यानिटी कहलाने लगी।

प्राचीन ग्रीस तथा रोम के लोगों में ईशस् कृष्ण का उल्लेख बोलने की भाषा में तथा लिखित रूप में भी iesus chrisn के बजाय jesus christ होने लगा, अतः कृष्ण-कथा के स्थान पर एक कल्पित जीसस का मनगढ़न्त चरित्र तैयार किया गया। भारत में भी बंगाली तथा कन्नड जन कृष्ण नाम का उच्चारण कृष्ट ही करते हैं।

जो नास्तिक होकर अपने आपको नाममात्र ईसाई कहलाते हैं उन्हें तो ऊपर प्रस्तुत ब्योरे से कोई फर्क नहीं पड़ता; किन्तु अन्य जो भोलेभाले आस्तिक लोग जीसस की जीवनकथा को सही मानकर उसके नाम से

पूजा, जाप, यात्रा आदि करते रहे हैं, उनका इस पुस्तक के पठन से भ्रम-निवारण अवश्य होगा।

निष्पक्ष अन्वेषण में श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों योरोपीय विद्वानों ने यूरोप तथा अमेरिका में ईसामसीह की कथा को कपोलकल्पित सिद्ध करने वाले ४०० से अधिक ग्रन्थ व लेख लिखे हैं। फिर भी ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबल का मुद्रण, वितरण तथा बिक्री और धर्म-प्रचार, संन्यासी-संन्यासिनियों के आश्रम आदि विश्व का सर्वाधिक आर्थिक लाभ कराने वाला धंधा वर्तमान विश्व में बड़ी तेजी में होने के कारण उपलब्ध अकाट्य प्रमाणों के प्रति आँखें मूँदकर धनलिप्सा के नशे में ईसाई धर्म-प्रसार का कार्य बड़ी धूमधाम से आगे ही आगे ढकेला जा रहा है। इस कार्य में जुटे ईसाई अधिकारी ईसाई पंथ की निर्मूलता सिद्ध करने वाले उस विपुल साहित्य की जानबूझकर नाकाबंदी किए हुए हैं ताकि जनता को इस खंडनात्मक साहित्य का पता ही नहीं चले।

कृस्तपंथी नगण्य मुट्ठीभर लोगों को सन् ३१२ ई० सन् के आसपास क्रूर रोमन सम्राट् Constantine (यानी कंस देसन्) का योगायोग से साथ मिल जाने पर शाही सेना के छल-बल से यूरोप में सामान्य जनता को ईसाई बनाने का अभियान शुरू हुआ। फिर भी रोम से आरम्भ किए गए इस क्रूर पंथ-प्रसार को पूरे यूरोप खण्ड को निगलने में ६०० वर्ष की प्रदीर्घ अवधि लगी।

उस अवधि में यूरोप की वैदिक सभ्यता का नामोनिशान मिटाने हेतु ईसवी सन् पूर्व का सारा इतिहास भी नष्ट किया गया ताकि प्राचीन वैदिक जीवन-प्रणाली की तुलना में ईसाई अध्यात्मवाद फीका तथा अर्थहीन प्रतीत न हो।

लगभग ३०० वर्ष पश्चात् ईसाई पंथ प्रसार का अनुसरण करते हुए इसलाम का प्रसार भी छल तथा कपट के मार्ग से ही किया गया।

राजनयिक पक्षों की भाँति इसलामी तथा ईसाई व्यावहारिक पंथ हैं। चंद नेताओं की महत्त्वाकांक्षा से उनका उदय हुआ। जुल्म-जबरदस्ती से वे पंथ जनता पर थोपे गए। एक धर्मग्रन्थ (बाइबल वा कुराण) तथा एक नेता (ईसा या मोहम्मद) के प्रति निष्ठा की जबरदस्ती करने वाले पंथ धर्म नहीं

कहलाए जा सकते।

धर्म तो केवल दिनभर का आचरण कैसा हो, इसका मार्गदर्शन करता है। उसमें किसी व्यक्ति या ग्रन्थ की निष्ठा जनता पर थोपी नहीं जाती।

वैदिक सभ्यता ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो माता की तरह सारी जनता को केवल सदाचरण का प्रशिक्षण देते हुए किसी एक व्यक्ति, ग्रन्थ, पूजा-पद्धति या आध्यात्मिक सिद्धान्त का उसे गुलाम नहीं बनाती।

ईसाई तथा इसलामी पंथ-परम्परा में सारी जनता का आध्यात्मिक शिकार कर समस्त जनता को ईसाई या मुसलमान बनाने का लक्ष्य रहता है। इतिहास इसका साक्षी है। यूरोप के समस्त जन तथा सऊदी अरब स्थान से अफगानिस्तान तक के लोग इसी शिकार तंत्र के द्वारा जबरन ईसाई या मुसलमान बनाए गए। किसी अन्य पंथ-प्रणाली को मानने वाला वहाँ एक भी नहीं बचा। सबका सफाया कर दिया गया। इस प्रकार समस्त जनता का मानसिक तथा आध्यात्मिक शोषण अथवा भक्षण करने वाली ईसाई तथा इसलामी पंथ-परम्पराओं को उसी तरह एक सार्वजनिक संकट माना जाना चाहिए जैसे किसी गाँव की गलियों में सिंह, बाघ, चीते या भेड़िए के आगमन से।

यदि ईसाई तथा इसलामी पंथों की ऐसी सर्वभक्षी परंपरा नहीं होती तो वे भी वैदिक जनजीवन में उसी तरह समा जाते जैसे बौद्ध, जैन, सनातनी, आर्यसमाजी, सिख आदि मेल-मिलाप तथा भाईचारे से जीवन व्यतीत करते हैं। किसी अन्य पंथ के अनुयायी को फुसलाकर, बहकाकर या छल-बल-कपट द्वारा निजी पंथ में घसीट ले आने की किसी भी वैदिक पंथ की प्रथा नहीं है। वैदिक परंपरा की यह विशेषता है कि वह बड़ी उदारता से 'पिंडे पिंडे मतिर्भिन्ना' की भावना से अनेकानेक पूजा-प्रार्थना की परि-पाटियों तथा आस्तिक से नास्तिक तक की विचारधाराओं को एक माँ की भाँति केवल स्वीकार ही नहीं करती, अपितु बड़ी वत्सलता से, ममता से उन्हें गोद में लेती है।

अतः जीसस उर्फ ईसामसीह की जीवनी को कपोलकल्पित सिद्ध करने में जनसामान्य को यथार्थ ज्ञान कराना ही लेखक का एकमात्र उद्दिष्ट है। अपने-आपको इसलामी, ईसाई या किसी अन्य पंथी कहलाना अधिकतर

लोगों के लिए एक औपचारिकता होती है। उसकी सचाई या तर्कसिद्धता आँकने की आवश्यकता उन्हें कभी प्रतीत नहीं होती। किन्तु जो भोलेभाले, धार्मिक, आध्यात्मिक, भावुक प्रवृत्ति के लोग होते हैं उन्हें जीसस के अस्तित्व की सत्यासत्यता जाननी आवश्यक है।

उसी प्रकार इतिहास के अध्येताओं के लिए भी जीसस की यथार्थता जाननी आवश्यक होगी। ऐसे विविध दृष्टि से इस विषय को बड़ा रोचक तथा महत्त्वपूर्ण समझकर अगले प्रकरणों में प्रस्तुत विवरण को खुले मन से पढ़कर पाठक उस पर चिंतन करें।

जो बात ईसाई पंथ की है, वही इसलाम की है। दोनों वैदिक सभ्यता के खंडहर हैं। अन्तर केवल इतना है कि ईसाई पंथ प्रवर्तक ईसामसीह एक कपोलकल्पित व्यक्ति है जबकि मोहम्मद पैगंबर वास्तविक व्यक्ति थे।

कृस्तनीति यानी कृष्णनीति नामानुसार ईसाई पंथ पुस्तक बाइबल में प्राप्त उपदेश भगवद्गीता से भिन्न नहीं है। बाइबल में प्रस्तुत दोहे (Psalm) 'साम' कहलाकर स्पष्टतया ईसाइयों की सामवेदी परंपरा दर्शाते हैं। उसी प्रकार मोहम्मद का कथन है कि (ईसाई या यहूदियों से) प्राचीनतम धर्म-ग्रन्थों का (यानी वेदों का) पुरस्कार ही उनका उद्देश्य है।

मसजिद की छत से की जाने वाली नमाज की पुकार का ताल, सुर तथा ठेका भी ठेठ सामगायन प्रणाली का ही होता है।

इस प्रकार इसलाम तथा ईसाई पंथों में उनके वैदिक स्रोत के विपुल प्रमाण विद्यमान हैं।

अध्याय २

चिर-स्थायी दुराग्रही सन्देह

क्रुस्ती-पंथ पिछले १६०० वर्षों में विश्व-व्यापकता की इतनी ऊँची अलंध्य सीमाओं पर पहुँच चुका है कि जन-सामान्य एकदम हक्का-बक्का रह जाएगा यदि उसे बताया जाए कि इस (क्रुस्ती) ईसा-पंथ का कोई तल, आधार है ही नहीं—यह निराधार, झूठा तथा भ्रामक है।

यह आम धारणा कि क्रुस्त (ईसा)-पंथ का आविर्भाव, प्रारम्भ जीसस क्राइस्ट (क्रुस्त) से ही हुआ होगा, सामान्य जन-चिन्तन, धारणा के बड़े दोष को उजागर कर देती है। जनता तो बातों को सदैव के लिए स्वीकार, मान्य कर लिया करती है। क्रुस्त-पंथ इस बात का सुस्पष्ट, जीता-जागता उदाहरण है कि समय बीतते-बीतते कोई भी मात्र सुनी-सुनाई जनश्रुति किस प्रकार कट्टर आस्था, विश्वास का रूप ले लेती है। लोग पहले यह विचार बना लेते हैं कि जीसस (ईसा) ने किसी महान् आदर्श, कार्य के लिए अपना बलिदान किया था और फिर अपना मन भी उसी अनुरूप ढालने का यत्न करते हैं कि हमें भी उसी का अनुसरण करना चाहिए। किन्तु जैसा आस्कर विल्डे ने कहा था, "कोई बात मात्र इसीलिए सत्य होनी जरूरी नहीं है (क्यों) कि एक व्यक्ति उसके लिए मर जाता है, अपने प्राण गँवा देता है।"

इस प्रकार, जबकि साधारण, भोले-भाले लोग किसी भी बात के झूठ से अनजाने रह जाते हैं तभी जानकार, निपुण, निष्णात व्यक्ति लुप्त आधार के बारे में सतर्क, गम्भीर चुप्पी बनाए रखते हैं क्योंकि कबूतरों के झुंड के समान ही वे भी ऐसे बाह्य आडम्बर में ज्यादा रुचि रखते हैं जहाँ वे शक्ति और सत्ता के अपने घोंसले, घर, अड्डे बना सकें।

फिर भी गतिशील पीढ़ियों की कोटि-कोटि सन्तानों में से कुछ पक्षिगण

उक्त दोष का आभास कर लेते हैं और अपने साथियों को उस ढह सकने वाली सदोष-संरचना के प्रति सावधान करने के लिए यदा-कदा स्वर गुंजाते रहते हैं और भविष्य में स्वयं उनको भी नष्ट कर देने वाली संरचना को बताते रहते हैं।

बड़े लोगों की भूमिका ऐसी ही होती है। वे तो दो रूप में महान् होते हैं—प्रथमतः वे मूल दोष को खोज पाते हैं और दूसरा, उस सम्बन्ध में (लोगों को सत्य बताकर सचेत, सावधान करने के लिए) शोर-शराबा करने का साहस करते हैं।

कृस्त-पंथ के सम्बन्ध में भी समय-समय पर ऐसे लोग हुए हैं—सामने आए हैं जिनको ज्ञात हो गया था कि जीसस (ईसा) नामक कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं और इसीलिए उसके नाम की कोई शिक्षाएँ हो ही नहीं सकतीं।

उसी (तथ्य) से संकेत, इंगित लेकर हमने, इस ग्रंथ में, स्पष्ट कर दिया है कि कृस्त (क्राइस्ट) कृष्ण का ही मिथ्या-नाम, अयथार्थ नामकरण है और कृस्त (क्रिश्चियन) पंथ में चली आ रही विकृतियाँ हिन्दू देव-पद्धति—धर्म-विज्ञान, दार्शनिकता और कर्म-काण्ड ही हैं।

चूँकि कोई जीसस था ही नहीं, इसलिए तथाकथित कृस्त-युग के प्रारम्भिक ६० से ७० वर्ष तक जीसस क्राइस्ट के बारे में कोई चर्चा ही नहीं थी। मिथ्यावाद उसके बाद शुरू हुआ। फिर भी, ऐसे विवेकशील सैंकड़ों व्यक्ति रहे होंगे जिनको जीसस के अस्तित्व पर, उसकी विद्यमानता पर सन्देह रहा होगा। किन्तु या तो उन लोगों ने अन्य लोगों के साथ अपने सन्देहों पर विचार-विनिमय करने की परवाह नहीं की, अथवा जीसस-समर्थक विपुलता के शोर-शराबे में उनकी आवाजें खो गईं, गुम हो गईं। किन्तु आधुनिक युग में पिछले दो शतकों में ऐसे गौरवशाली व्यक्ति सम्मुख आए हैं जिनके असहमति के स्वर ऊँचे उठे हैं और बहुसंख्यक-प्रशंसा के तुमुल घोष में भी सादर सुने गए हैं।

विल डूरन्ट ने विवाद का सारांश इस प्रकार रखा है—

"जीसस ४ ईसवी पूर्व—ईसा पश्चात् ३०"....."क्या कृस्त का अस्तित्व था? कृस्त-पंथ (क्रिश्चियनिटी) के संस्थापक जनक की जीवन-कथा मानव-अवसाद (दुःख) कल्पना और आशा का उत्पाद मिथ्या ही है?"

"१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बोलिंगब्रोक की मित्र-मंडली, वोल्टेयर को भी चौंकाते हुए, निजी चर्चा में जीसस की कभी भी विद्यमानता की सम्भावना को नकारती थी। वोल्ने ने भी सन् १७९१ में अपनी पुस्तक 'साइंस आफ़ एम्पायर' में इसी शंका को पुष्ट किया था। नेपोलियन ने सन् १८०८ में वीलैंड नामक जर्मन विद्वान् से भेंट करने पर पूछा था कि क्या वह कृस्त की ऐतिहासिकता में विश्वास रखता है?"[१]

जीसस की ऐतिहासिकता के बारे में ऐसे चिरस्थायी, आग्रही सन्देहों और तथाकथित कृस्ती (ईसाई) सिद्धान्तों, मतों की वैधता के बारे में शंकाएँ होते हुए भी कृस्ती-पंथ पर अपना अत्यधिक शक्तिशाली और सुदृढ़ अधिकार रखने वाले पादरी-साम्राज्य ने सामान्य जनों को सार्वजनिक, खुले रूप में अपनी शंकाओं की चर्चा करने से पूरी तरह निरुत्साहित, हतोत्साहित किया।

चूँकि पश्चिमी देशों ने १८वीं शताब्दी से समस्त राजनीतिक सत्ता स्वयं में एकाधिकृत कर ली है और पश्चिमी विद्वत्ता व राजशासन-तन्त्र पर उनके ईसाई पादरी वर्ग का पूर्ण प्रभाव हो चुका है, इसलिए ईसा की ऐतिहासिकता के बारे में किसी भी प्रकार की गम्भीर पूछ-ताछ, छान-बीन को लोगों के सामने खुलकर आने की छूट, अनुमति दी ही नहीं गई। किन्तु २०वीं शताब्दी के अन्त में रूढ़िवादिता, कट्टरवादिता शिथिल हो जाने के साथ ही "आधुनिक मानस की दूरगामी क्रियाओं में एक सर्वाधिक महत्त्वशाली कलाप बाइबल की उच्चतर समीक्षा—इसकी आधिकारिकता और सत्यता पर निरन्तर बढ़ता आक्रमण रही है"—विल डूरन्ट का कहना है।

"इस २०० वर्षीय युद्ध की पहली भिड़न्त," विल डूरन्ट ने कहा है, "हम्बर्ग में पूर्वी-भाषाओं के प्रोफ़ेसर हरमन रीमारस ने चुप्पी में की थी; सन् १७६८ में अपनी मृत्यु के समय वह सावधानी से क्राइस्ट के जीवन पर १४०० पृष्ठों की एक पाण्डुलिपि अप्रकाशित छोड़ गया था। छः वर्षों के बाद गौट् होल्ड लेसिंग ने अपने मित्रों के विरोध पर इसके कुछ अंशों को

१. विल डूरन्ट लिखित 'सभ्यता की कहानी' (दि स्टोरी आफ़ सिविलाइज़ेशन), पृष्ठ ५५३, खण्ड III।

वोल्फेनवटल अंशों के रूप में प्रकाशित कर दिया। सन् १७९६ में हरडर ने मेथ्यू, मार्क और लूके के क्राइस्ट में तथा सेंट जॉन के गॉस्पल के क्राइस्ट में स्पष्टतः असमाधेय मतभेद, अन्तर को साफ तौर पर प्रस्तुत कर दिया।"

सन् १८२८ में हीनरिच पालस ने अपनी ११९२ पृष्ठों की पुस्तक में जीसस के जीवन की समीक्षा करते हुए तथाकथित चमत्कारों का श्रेय प्राकृतिक कारणों को दे दिया।

किन्तु डेविड स्ट्रौस ने 'जीसस का जीवन' (लाइफ़ आफ़ जीसस) नामक अपने निडर, साहसी और मौलिक ग्रन्थ में यह विचार प्रस्तुत कर दिया कि लोकेतर, अति-प्राकृतिक तत्त्व को 'मिथ', मिथ्या की श्रेणी में रखना चाहिए। सन् १८३५-३६ में प्रकाशित उस विशाल ग्रन्थ ने एक भयंकर विवाद को प्रचलित कर दिया।

सन् १८४० में एक अन्य लेखक ब्रूनो बौर ने भावपूर्ण उत्कट विवादी-रचनाओं की एक शृंखला प्रारम्भ कर दी, जिसका उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि जीसस मात्र मिथ्या कल्पना थी, यह उस मत का वैयक्तिक मनघड़न्त रूप था जो दूसरी शताब्दी में यहूदी, यूनानी और रोम की देव, धर्म-विज्ञान पद्धतियों के अवमिश्रण से निसृत हुआ था। सन् १८६३ में अर्नेस्ट रेनन की पुस्तक 'क्राइस्ट का जीवन' (लाइफ़ आफ़ क्राइस्ट) ने अपने युक्ति-चातुर्य से लाखों लोगों को सावधान, चमत्कृत करते हुए और अपने गद्य-लेखन द्वारा लाखों लोगों को सम्मोहित करते हुए जर्मन-आलोचना को एक स्थान पर संग्रहीत कर दिया और गॉस्पल की समस्याओं को सम्पूर्ण शिक्षित संसार के सामने प्रस्तुत कर दिया।

"फ्रांसीसी शाखा शताब्दी के अन्त में अब्बे लौइज़ी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई जिसने बाइबल के उत्तरार्ध (न्यू टेस्टामैंट) की ऐसी कठोर पाठ्यगत समीक्षा, आलोचना की कि कैथोलिक चर्च ने विवश होकर उसे और अन्य आधुनिकतावादियों को जाति-बहिष्कृत कर दिया। इसी बीच पिअरसन, नाबर और मटास की डच शाखा ने इस आन्दोलन को आगे चरम-बिन्दु तक बढ़ाने के लिए लगातार कठोर श्रम करते हुए जीसस की ऐतिहासिक वास्तविकता से इन्कार किया। जर्मनी में, आर्थर ड्रूस ने इस नकारात्मक निष्कर्ष की परिणति सन् १९०६ में परिभाषात्मक सिद्धान्त में

कर दी; और इंग्लैंड में डब्ल्यू० बी० स्मिथ तथा जे० एम० रोबर्टसन ने भी ऐसे ही 'न'-कार के पक्ष में तर्क दिए। दो शताब्दियों के इस वाद-विवाद का निष्कर्ष क्राइस्ट का समूलोच्छेदन प्रतीत हुआ?"[1]

अतः डूरन्ट प्रश्न करता है—"क्राइस्ट के अस्तित्व का कोई प्रमाण कहाँ है? जोसेफस की पुस्तक 'ज्यूस (यहूदियों) की प्राचीनता' (एंटीक्वीटीज़ आफ़ दि ज्यूस) (ईसवी सन् ९३') में प्राचीनतम गैर-ईसाई सन्दर्भ मिलता है।"

जोसेफस ने प्रत्यक्षतः वही अंकित कर दिया है जो उसके समय के प्रारम्भिक ईसाई नेताओं ने लोगों को सार्वजनिक तौर पर बताना शुरू कर दिया था अर्थात् "इस युग (समय) में एक पवित्र मानव, जीसस नाम से, हुआ, यदि उसे मानव कहा जाए तो, क्योंकि वह अलौकिक (चमत्कारी) काम करता था और उसने आदमियों को शिक्षित किया, उन्हें सिखाया तथा आनन्दपूर्वक सत्य को ग्रहण किया। उसका अनुसरण अनेक यहूदियों ने और अनेक यूनानियों ने किया था। वह मसीहा—देवदूत—पैगम्बर था।"

किन्तु डूरन्ट ने प्रत्यक्षतः पर्यवेक्षण किया है कि—"रोमनों को खुश करने के लिए समान रूप से व्यग्र एक यहूदी द्वारा क्राइस्ट की उच्च प्रशंसा—दोनों ही उस समय ईसाइयत से संघर्ष में लिप्त थे—उक्त उद्धरण को सन्देह-युक्त बना देती है और ईसाई विद्वान् इसे लगभग पूर्ण निश्चय के साथ ही प्रक्षिप्तांश कहकर ठुकरा देते, अस्वीकार कर देते हैं।"

यहूदी वाङ्मय—तालमुद—में 'नज़ारेथ के येशवा' के सन्दर्भ उस काल के हैं जब कुस्त-पंथ को सार्वजनिक रूप से अनुयायी प्राप्त होने लगे थे, उसे मान्य करने लगे थे। अतः उन्हें किसी स्वतन्त्र खोज, अन्वेषण पर आधारित नहीं ठहराया जा सकता।

गैर-ईसाई साहित्य में प्राचीनतम ज्ञात ईसा-सम्बन्धी सन्दर्भ उस पत्र में मिलता है जो कनिष्ठ प्लीनी ने ईसाइयों के प्रति व्यवहार करने के बारे में ट्राजन का परामर्श प्राप्त करने के लिए लिखा था।

लगभग पाँच वर्ष बाद रोमन सम्राट् नीरो द्वारा ईसाइयों को पीड़ित

---

१. 'सभ्यता की कहानी', पृष्ठ ५५३-५५४, खण्ड III।

करने का वर्णन टेसिटस ने किया है। उसके अनुसार ६४० ईसवी में सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में ईसाइयों की विद्यमानता थी। ड्रूस उस कथन को प्रक्षिप्त अंश मानकर शंका व्यक्त करता है।

लगभग ६१ वर्षों के बाद फिर सुएटोनियस पीड़ाओं-यातनाओं का उल्लेख करता है और वर्णन करता है कि "क्राइस्ट द्वारा आन्दोलित किए जाने पर यहूदियों द्वारा सार्वजनिक उपद्रव किए गए और इस कारण उन (यहूदियों) को निर्वासित किया गया।"

विल डूरन्ट यह टिप्पणी करने में सही है कि "ये सन्दर्भ क्राइस्ट की अपेक्षा क्रुस्त-पंथियों (ईसाइयों) के अस्तित्व को, उनकी विद्यमानता को ही सिद्ध प्रमाणित करते हैं।"[1]

हमारे अपने इस काल में भी कृस्त-पंथ, ईसाई-मत सारी दुनिया में फैला हुआ विशाल-संख्यक अनुयायियों वाला एक धर्म है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह इतना अतिभव्य, उन्नत निर्माण बिना किसी नींव, आधार के ही है?

उक्त जाँच-पड़ताल करने पर हम पाते हैं कि 'नजारेथ के येशवा' शब्दावली भी हिन्दू शब्दावली 'नन्दरथ के केशव' की अपभ्रंश ही है। भगवान् प्रभु कृष्ण को प्रायः 'केशव' ही सम्बोधित किया जाता था।

जीसस क्राइस्ट का आध्यात्मिक, अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने अनुयायियों, शिष्यों को स्वार्थपूर्ण इच्छाओं, व्यसनों और क्रूरता का परित्याग कर हृदयों को निर्मल, स्वच्छ करने का परामर्श देना हिन्दू धर्म की शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु है जो ईसा-पूर्व युगों में सम्पूर्ण प्राचीन विश्व में प्रचारित, प्रसारित किया गया था।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या ये नैतिक विचार नए थे, विल डूरन्ट ने स्पष्टतः एक नकारात्मक उत्तर दिया है क्योंकि, "क्राइस्ट की धार्मिक शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु, सार-धर्म—भावी, आगामी न्याय और साम्राज्य—यहूदियों में पहले ही एक शताब्दी पूर्व-काल का था।"[2]

---

१. 'सभ्यता की कहानी', पृष्ठ ५५५, खण्ड III।

२. वही, पृष्ठ ५६७।

जीसस के धर्म-प्रचार की अवधि और उस (व्यक्ति) की मृत्यु का वर्ष भी उतना ही अज्ञात और विवादित है जितना उसके जन्म का वर्ष।

जीसस को 'गोलगोथा की पहाड़ी' पर सूली दी गई कही जाती है। वह एक हिन्दू, संस्कृत शब्दावली है जिसका अर्थ है 'गोल पशु-शाला'। स्पष्टतः यह हिन्दू कृष्ण कथा का एक अंश है जो ईसाई-जनश्रुति से जुड़ा चला आ रहा है।

सूली पर चढ़ते समय, कहा जाता है कि, जीसस ने अति दयनीय-भाव से चीत्कार की थी—मार्क और मैथ्यू के अनुसार—"मेरे ईश्वर, मेरे परमेश्वर ! तूने मेरा परित्याग क्यों नहीं कर दिया ?"

किन्तु यह मानते, विचारते हुए कि इस प्रकार का असहाय, नैराश्यपूर्ण उद्‌गार सु-समाचार लेखकों द्वारा प्रतिपादित जीसस के धर्म-संदेश से भिन्न, असंगत होगा, लूके ने जीसस को यह उच्चारित करते हुए लिखा है—"पिता, मैं अपनी आत्मा, चेतना तेरे हाथों में सौंपता हूँ।"

दो दिन बाद, जेम्स और सलोन की माँ मेरी के साथ मेरी मेगडलेन जीसस की कब्र पर गई कही जाती हैं किन्तु उनको वह कब्र खाली, बिना शव मिली बताते हैं। यह इस बात का एक और साक्ष्य है कि चूँकि जीसस का जन्म हुआ ही नहीं था और न ही उसने कोई पाप, अपराध किया था, इसलिए उसे कभी सूली पर न तो चढ़ाया गया और न ही दफनाया गया। अतः स्वाभाविक, सहज ही है कि उसके पिंड, मृत-देह का कोई पता ही नहीं रहा। प्रसंगवश; कह दिया जाए कि मेगडलेन संस्कृत नाम मौद्‌गल्य ही है।

चालीस दिन बाद, क्राइस्ट स-शरीर स्वर्ग पहुँच गए बताए जाते हैं। हिन्दू धार्मिक-ग्रंथों में पाण्डव-भ्राताओं में ज्येष्ठतम युधिष्ठिर स-शरीर ही स्वर्ग में जा पहुँचे थे।

संख्यावाचक ४० अरबों और यहूदियों की शव-पद्धतियों की जरूसलमी-रूढ़िबद्ध प्रकारान्तर ही है।

यदि ईसाई-पंथ की जीसस के वास्तविक जीवन से उत्पन्न अपनी विशिष्ट परम्पराएँ होतीं तो जीसस के मृत्यु-दंड और उसके स्वर्ग स-शरीर पधारने के मध्य का अंतराल ठीक ४० दिन का ही यथार्थतः होना जरूरी न

होता।

यह संख्या भी एक अन्य विवरण है जो जीसस-कथा के झूठे ताने-बाने की ओर स्पष्ट इंगित करता है।

इस प्रकार, जीसस-कथा का हर भाग, प्रत्येक विवरण मिथ्या, झूठा, जाली, अ-प्रामाणिक प्रतीत होता है।

अध्याय ३

निर्णायक मंदिर-नियंत्रण विवाद

जीसस क्राइस्ट की ऐतिहासिकता पर अपनी ही पुस्तक में प्रश्न-चिह्न लगानेवालों में आधुनिकतम व्यक्ति बर्कबेक कालेज, लंदन का प्रोफ़ेसर जी० ए० वैल्स है।[1]

उसकी पुस्तक परिपूर्ण रूप में विकसित, युक्तियुक्त, लगभग ४१६ स्रोतों पर तर्काधारित है जिनकी सूची उक्त पुस्तक के अंत में दी गई है।

यद्यपि श्री वैल्स महोदय ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि नए मत के रूप में ईसाइयत को किसने, कब और क्यों विकसित किया अथवा उस क्षेत्र का मूल धार्मिक विश्वास क्या था जहाँ से ईसाई मत का प्रारम्भ हुआ था, फिर भी श्री वैल्स निर्णायक रूप में यह तो सिद्ध करने में सफल हो गए हैं कि जीसस क्राइस्ट कोई ऐतिहासिक व्यक्ति, सत्य नहीं है।

हमारी सम्भवतः यह प्रथम पुस्तक होगी जो स्पष्ट करेगी कि ईसाई मत (कृस्त-पंथ) हिन्दू-आस्था का यूरोपीय-वैविध्य, रूप है जो हिन्दू अवतार भगवान् कृष्ण से नाम-ग्रहण किये है, व्युत्पन्न है। इस अध्याय में हम प्रोफेसर वैल्स द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से पाठकों को अवगत कराएँगे और उससे यह दर्शा देंगे कि किस प्रकार ईसाई मत का प्रादुर्भाव, प्रारंभ एक कृष्ण-मंदिर-नियंत्रण विवाद में विमत-वर्ग, विरोधी गुट के रूप में ही हो गया था।

प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि, "जीसस की ईसाई-मत के मूल में भूमिका स्पष्ट करने का आह्वान करने पर विभिन्न समर्थक सभी प्रकार के विभिन्न वर्णन प्रस्तुत करते हैं; उदाहरण के लिए, प्रोफेसर बर्कले सन्देह पुनर्जीवन और इस दावे को त्याग देते हैं कि जीसस ने नैतिकता के किसी नए प्रकार के

१. प्रोफेसर जी० ए० वैल्स विरचित 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?'

मानदण्डों की स्थापना की थी।"[१] अन्य धर्म-विज्ञानियों ने ईसा को स्वतंत्रता-सेनानी बना दिया है जबकि बहुत-से अन्य लोग स्वीकार करते हैं कि ईसा के बारे में लगभग रंच-मात्र भी ज्ञात नहीं हो पाया है।

प्रोफेसर ट्रिल्लिग स्वीकार करते हैं कि ईसा के जीवन की किसी भी एक तारीख को निश्चयात्मकता से निर्धारित नहीं किया जा सकता और (कि) यह भी वास्तव में आश्चर्य की बात ही है कि आधुनिक वैज्ञानिक विधियों, प्रचुर-सामर्थ्य-श्रम तथा प्रवीणता होने पर भी अत्यन्त नगण्य ही अभी तक स्थापित, सिद्ध किया जा सका है।[२]

एक नए विश्वास, मत, ईसाई-पंथ का प्रकटीकरण भी मात्र एक निष्कर्ष ही है क्योंकि बाइबल कुछ परस्पर-विरोधी, असम्बद्ध तत्त्वों, बातों का संग्रह है जैसे यहूदी पूर्व-विधान, पॉल और कोरेन्थियों के मध्य—उदाहरणार्थ—हुई कुछ विवादग्रस्त निजी धार्मिक सैद्धान्तिक पत्रावली और सुसमाचार लेखकों द्वारा परस्पर मतभेदवाली, चार ईसाई-धर्म-चर्चाएँ। एक पुस्तक में संग्रहीत ऐसे पंचमेल, विषम तत्त्व क्या किसी नए सिद्धान्त, धर्म का प्रतिपादन करते हैं?

जीसस के जीवन के बारे में प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि, "उनके जीवन के बारे में जो कुछ थोड़ी-बहुत जानी जा सकनेवाली तथाकथित बातें हैं वे (इतनी) अत्यधिक गँवारू, अशोभन हैं और उनसे जीसस पूजा की वस्तु नहीं बन पाता। (नवीनतम सर्वेक्षण देखें—डार्नािग रेवरेंड पी० जी०, दि चर्च एंड जीसस, लंडन, १९६८; मेक आर्थर एच० 'इन सर्च आफ़ दि हिस्टारिकल जीसस', लंडन, १९७०)।[३]

ईसाई-धर्म-सिद्धान्तों से पूर्व में भी लिखे होने पर भी पॉल के पत्र "ऐतिहासिक जीसस के बारे में विस्मयाकुलक रूप से न केवल चुप्पी ही साधे हुए हैं अपितु पॉल के पत्रोंवाला जीसस कुछ बातों में तो धर्म-सिद्धांतोंवाले

---

१. दि माइंड ऑफ़ सेंट पॉल, फोनटाना, १९६५।

२. डब्ल्यू० ट्रिल्लिग, डसेलडोर्फ़, १९६६ की जर्मन पुस्तक 'फ्रेजन ज़र··· जेसू'।

३. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट?', पृष्ठ ३।

जीसस से बिल्कुल असंयोज्य, विरोधी है।

"सभी चारों धर्म-सिद्धान्त, जिनको धर्म-विज्ञानी ७० ईसवी के लगभग की तारीख का अनुमान करते हैं; ईसा-पश्चात् पहली शताब्दी के अन्त के निकट ही लिखे गए होंगे।"—प्रोफेसर वैल्स का कथन है।

जब एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी के लाखों व्यक्तियों वाले व्यापक संसार में ७० से ६० वर्ष पूर्व जन्मे किसी एक पैगम्बर, देवदूत के बारे में चार सुसमाचार लेखक कुछ लिखते हैं तब उस लिखी बात के ऊपर विश्वास तभी जमाया जा सकता है जब अन्य निर्विवाद साक्ष्य द्वारा भी उसकी पुष्टि हो जाए।

प्रोफेसर वैल्स के अनुसार, "कृस्त (क्राइस्ट)-विज्ञान की समस्या यह (प्रदर्शित करना) हैं कि जीसस किस प्रकार पूर्ण ईश्वर और पूर्ण मनुष्य हो सकता है, तथा फिर भी सचमुच एक व्यक्ति ही हो।"[१]

यह समझ पाना अत्यन्त सरल है यदि प्रोफेसर वैल्स को यह अनुभूति होती कि क्राइस्ट (कृस्त) तो हिन्दू अवतार कृष्ण का एक भिन्न उच्चारण-मात्र है। हिन्दू परम्परा में कृष्ण स्वयं परमेश्वर है जिसने भौमिक नियमानुसार मानव-संसार में नियामक भूमिका निभाने के लिए एक मनुष्य के रूप में ही जन्म लिया था।

उन लोगों के लिए, जो कल्पना करते हैं कि यहूदी और गैर-ईसाई साक्ष्य सभी प्रकार के सन्देहों से परे जीसस के अस्तित्व की पुष्टि, विद्यमानता सिद्ध कर देते हैं, श्री वैल्स कहते हैं कि प्रधान यहूदी इतिहासकार जोसेफस है। किन्तु चूंकि जोसेफस लगभग १०० ईसवी के आसपास दिवंगत हो गया, अतः वह प्रत्यक्षदर्शी किस प्रकार हो सकता था? और उसने भी तो कृस्त-पंथियों (क्रिश्चियनों) का कोई उल्लेख नहीं किया है।

जोसेफस के इतिहास-लेखन में जीसस के बारे में मात्र दो उद्धरणों के सम्बन्ध में श्री वैल्स ने कहा है कि, "इनमें से बड़ा उद्धरण काफी निर्णायक रूप में पूर्णतया ईसाई-प्रक्षिप्तांश दर्शाया जा चुका है। यह एक अति उद्दीप्तिकारक वर्णन है जो कोई यहूदी—रूढ़िवादी यहूदी—कभी नहीं

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ८।

लिख सकता था। यदि जोसेफस ने सचमुच ही उसमें विश्वास किया होता जो यहाँ वह कह रहा बताया जाता है तो उसने अपनी टिप्पणी मात्र दस पंक्तियों तक ही सीमित न रखी होती। इतना ही नहीं, यह अवतरण यहूदियों की दुर्दशा से सम्बन्धित सन्दर्भ में आता है जिससे इसका कोई सरोकार नहीं है···अवतरण के अन्य पक्ष···जीसस को न केवल ईसाई ढंग से देखते हैं बल्कि लूके द्वारा प्रतिपादित प्रकार में विशिष्टरूपेण देखते हैं··· ऐसे कार्य, निर्माण हैं जो निश्चित रूप से जोसेफस को उपलब्ध न थे···दूसरे अवतरण (उद्धरण) में उस एक असंयमित उच्च पादरी सदुशियन के बारे में एक अनुच्छेद में आधा दर्जन शब्द हैं जो ईसवी ६२ में सन्हेद्रिन के सम्मुख 'कानून को तोड़नेवाले' के रूप में अनेक व्यक्तियों को लाया था और 'उनको पत्थर फेंककर मारने के लिए सौंप दिया था।' उन शिकार व्यक्तियों को जेम्स और खास अन्य वर्णन किया गया था तथा जेम्स को विशिष्टतया 'जीसस का भाई, उसको क्राइस्ट पुकारा गया' बताया। यह असंभाव्य है कि जोसेफस ने जीसस का उल्लेख चलते-चलते, अनायास ही यहाँ कर दिया हो जबकि वह इसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं करता।"[1]

अनेक विद्वान् 'जीसस का भाई, उसको क्राइस्ट पुकारा गया' शब्दों को प्रक्षिप्तांश मानते हैं। सम्भावना है कि जोसेफस की पाण्डुलिपि पढ़ते समय किसी ने जेम्स को 'जीसस का भाई, उसको क्राइस्ट पुकारा गया' मानकर एक पार्श्व-टिप्पणी अंकित कर दी हो। उस पाण्डुलिपि से तैयार की गई परवर्ती प्रतियों में लेखक ने मूल-पाठ के साथ ही उक्त पार्श्व-टिप्पणी को मिला दिया हो।

(जोसेफस द्वारा उल्लेखित) जेम्स स्वयं ही एक यहूदी था, न कि एक ईसाई।

जब यहूदी पादरी गुरु अर्थात् रब्बी लोग जीसस का वर्णन शुरू करने लगते हैं तो "वे अपने तिथिक्रम में इतने अस्पष्ट, अस्थिर, अनिश्चित हैं कि वे जीसस के लिए जिन तारीखों का उल्लेख करते हैं, उनमें २०० वर्षों तक

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १०-११।

का अन्तर आ गया है।"[1] ऐसा इस धारणावश हुआ कि वह नाम किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से सम्बद्ध था।

एक आधुनिक यहूदी विद्वान् गोल्डस्टीन "स्वीकार करता है कि ईसवी युग की प्रथम सवा दो शताब्दियों के विशाल रब्बी-साहित्य में जीसस-सम्बन्धी पाँच अधिकृत अवतरण निर्णायक रूप से (जीसस की) ऐतिहासिकता को सिद्ध, प्रमाणित नहीं करते क्योंकि इनमें से किसी को भी पर्याप्त रूप से पूर्वकालिक घोषित नहीं किया जा सकता। अधिकांश ईसाई विद्वानों ने स्वीकार किया है कि जीसस के बारे में विश्वसनीय जानकारी के मूल-स्रोत के रूप में तालमुद निरर्थक, बेकार है। बौर्नकम्म घोषणा करता है कि इस (तालमुद) ने जीसस को एक जादूगर, एक प्रलोभक और राजनीतिक आन्दोलनकर्ता बना दिया है और उसकी निन्दा, भर्त्सना को उचित ठहराने का यत्न किया है।"[2]

अन्य गैर-ईसाई सन्दर्भ भी (जिन्हें श्री वैल्स ने 'पागान' कहा है) जिन्हें ईसा-युग के प्रथम १५० वर्षों में लिखा गया, समान रूप से अविश्वसनीय हैं।

मार्क (१५ : ३३) ने तीन घंटे तक छाए रहे उस घटाटोप अंधकार का उल्लेख किया है जिसने जीसस को सूली पर चढ़ाए जाने पर समस्त पृथ्वी को आच्छादित कर दिया था। किन्तु चूंकि, ईसाई-धर्मग्रन्थों के अनुसार जीसस की मृत्यु पास्कन (ईस्टर) के समय हुई थी, उस समय सूर्य-ग्रहण होना असम्भव है। खगोलशास्त्रीय नियम के अनुसार सूर्य-ग्रहण केवल नव-चन्द्र वार को ही हो सकता है।

टेसीटस में क्राइस्ट या क्रिश्चियनिटी के बारे में सन्दर्भ निरर्थक, निरुपयोगी हैं क्योंकि टेसीटस ने ईसवी सन् १२० के आसपास अपने वर्णन लिखे होने के कारण उसने मात्र ईसाई दृष्टिकोण, धारणा को ही अंकित कर दिया। यदि टेसीटस ने सूली चढ़ाने की जानकारी किसी स्वतंत्र रोमन स्रोत

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?' पृष्ठ १२।

२. जीसस ट्रान्स आई फ्रेजर, लंदन, १९६०—लेखक जी० बौर्नकम्म न्यू टेस्टामैंट के प्रोफेसर, हीडलबर्ग, पृष्ठ २८।

से निष्कर्ष-स्वरूप ग्रहण की होती तो उसने पीलेट को (मुख्तार) राज्यपाल घोषित न किया होता। टिबेरियस के सम्मान में पीलेट द्वारा समर्पित एक भवन के बारे में सन् १९६१ में पाए गए एक शिलालेख में पीलेट को 'जूडिआ का परिपूर्ण' कहा गया है। इतना ही नहीं, टेसीटस द्वारा प्रयुक्त उपाधि एक पुरावशेष ही है क्योंकि आश्वस्तर धारण करनेवाले प्रांतीय राज्यपाल क्लाडियस के काल से ही अर्थात् ईसवी सन् ४१ से ही 'राज्यपाल श्रीमन्' उपाधि ग्रहण करने लगे थे। टेसीटस ने भी क्राइस्ट उपाधि को उसी प्रकार इस्तेमाल किया है मानो यह नाम जीसस के बजाय खास नाम ही था।

पीलेट द्वारा जीसस के मृत्युदंड का तथाकथित अविवादित अभिलेख टेसीटस और धर्मग्रन्थों का यही एक अवतरण, उद्धरण है। वे सब सुनी-सुनायी बातें ही निकलती हैं।

यह विचार, कि जीसस को पीलेट के अधीन मृत्युदंड दिया गया था, ईसवी सन् ११० के आसपास तक ही सत्य माना गया था। यद्यपि न तो यहूदियों-विधर्मियों नें और न ही ईसाई-साहित्य ने मार्क से पहले उसका कोई उल्लेख किया था।

डिओ केस्सियस ने, जिसने ईसवी २२९ के परवर्ती काल में भी शासन का इतिहास लिखा था, ईसाइयों या ईसाई-पंथ के बारे में लेशमात्र उल्लेख भी नहीं किया है।

पोरफीरी का निष्कर्ष है कि सुसमाचार लेखक सामान्यतः अविश्वस-नीय हैं और उनकी लिखी सामग्री ईजाद, काल्पनिक, झूठी मात्र है।

सेल्सस ने, जो जीसस को पंथेरा[1] नामक एक सैनिक की अवैध सन्तान मानता था, यह जानने के लिए कोई स्वतन्त्र रूप से जाँच नहीं की कि जीसस का वास्तव में जन्म हुआ भी था। उसने जीसस के जीवन-वृत्त के बारे में अफवाहों पर ही विश्वास कर लिया।

जीसस के पाँच सुने-सुनाए अनुयायी थे—मथाई, नक्काई, नेत्जर, बूनी और टोडाह। कुछ विद्वान् अयुक्तियुक्त तर्क देते हैं कि बूनी जोन या

१. 'हेलेनिक स्टडीज़ के जर्नल' में डा० आर० ई० विट्ट का लेख, पृष्ठ-२२४ (१९७२)-२२३-२२५।

निकोडेमस है, नक्काई लूके है और नेत्ज़र एन्ड्रू है।

पॉल के नाम से सम्बन्धित पत्रों को प्रारम्भिक ईसाई-साहित्य के रूप में विश्वास किया गया है। यदि जीसस ईसवी ३० के आसपास होता, तो ईसवी ६० के आसपास लिखें गए पत्रों ने ऐसा उल्लेख कर दिया होता।

श्री वैल्स टेसालोनियनों को दूसरे पत्र की और कोलोसियनों तथा एफेसियनों को लिखे गए पत्रों की आधिकारिकता के बारे में सन्देह करते हैं।[1] वह पत्र को 'सर्वाधिक संदेहयुक्त' समझता है क्योंकि इसमें पॉल के समय विद्यमान रहे गिरजे-सम्बन्धी संगठन से भी अधिक विकसित संगठन को निरूपित किया गया है। स्वामिभक्तों को आश्रित कहा जाता है, प्रत्यक्षत: क्राइस्ट पर ही नहीं अपितु गिरजाघर के अधिकारियों पर (आश्रित) (जो १ पत्राचार ३ : ११ की स्पष्ट अवहेलना/उल्लंघन में है) है।

श्री वैल्स का कहना है कि, "पॉल विशिष्ट अभिलाक्षणिक रूप में उसके प्रति भगवान् और सूर्य का पुत्र जैसी उपाधियों का उपयोग किया है ···ये वो उपाधियाँ हैं जो यहूदियों में पहले ही विद्यमान थीं और गैर-ईसाई धर्मों में भी थीं। पॉल कल्पना कर लेता है कि ईश्वर ने जीसस को जब विश्व का उद्धार करने भेजा, उससे पहले ही वह (जीसस) एक अलौकिक व्यक्तित्व के रूप में विद्यमान था, अस्तित्व में था।"

उपर्युक्त एक अति महत्त्वपूर्ण पर्यवेक्षण है। फिर भी पॉल का कथन गलत ढंग से ही लगभग उन्नीस सौ वर्षों तक समझा जाता रहा है—उसकी व्याख्या अशुद्ध हुई है। उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि पॉल के दिनों में ही ईशस कृष्ण का उच्चारण जीसस क्रूस्त (क्राइस्ट) होने लगा था। हिन्दू-परम्परा के अनुसार कृष्ण पृथ्वी पर वास्तव में विश्व का उद्धार करने के लिए ही अवतरित हुए थे। भगवान् कृष्ण ने 'भगवद्गीता' में स्वयं ही घोषित किया हुआ है कि वे विश्व में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए, साधुओं (सज्जनों) की रक्षा करने के लिए और दुष्टों का संहार करने के लिए अवतार लेते रहते हैं। अत:, पॉल सही है। यह तो संसार के लोगों ने ही उसे गलत समझा और उसके कथनों की अशुद्ध व्याख्या की है क्योंकि

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ १७।

पॉल का मन्तव्य तो सदा कृष्ण से ही रहा है (जिसे स्वयं उसने और उसके समय, काल के यूरोपीय व अरबों ने क्रुस्त (क्राइस्ट) के रूप में उच्चारण किया था)।

श्री वैल्स की शिकायत है कि पॉल ने इस तथ्य का कोई संकेत नहीं दिया कि जीसस के पार्थिव शरीर का पतन कब हुआ। श्री वैल्स ने हमारे युग के प्रथम दशक में फिलस्तीन में जीसस की विद्यमानता को भी चुनौती दी है—एक ऐसी धारणा जिसके बारे में पॉल में बहुत ही थोड़ा (लगभग नगण्य) साक्ष्य है। यह तो छाया को पकड़ने के लिए उसका पीछा करना है और रस्सी को साँप मानकर उसके पीछे लगने का व्यर्थ श्रम करना है। पॉल सारे समय जिसकी चर्चा करता है वह भगवान् कृष्ण है जो उसके समय में इसी रूप में पूजा जाता था। उसका कोई प्रयोजन जीसस क्राइस्ट नाम से पुकारे जानेवाले व्यक्ति से न था, बल्कि मात्र ईशस कृष्ण से ही था।

इससे बौर्नकम्म का वह आश्चर्य स्पष्ट, सुबोध हो जाता है कि पॉल[1] ने नजारथ के रब्बी, देव-दूत और चमत्कारी व्यक्ति के बारे में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है जिसने कर-संग्राहकों और पापियों के साथ खाना खाया था, या शिखर पर जिस उपदेश को दिया गया था, ईश्वर के साम्राज्य की उसकी नीति-कथाओं और पाखंडियों व लेखकों से जो उसके संघर्ष हुए थे (उनकी कोई चर्चा ही नहीं है)। उसके पत्रों में भगवान् की प्रार्थना का भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है।[2] तथ्यतः जीसस का यह कथन कि "हमें यह भी नहीं मालूम कि हमें प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए" (रोम० ८:२६), प्रार्थना के बारे में उसके अज्ञान को अपने में समेटे, छुपाए हुए है जिसको ईसाई-धर्मग्रन्थों का जीसस इन शब्दों से प्रारम्भ करता है—"तब इस प्रकार से प्रार्थना करो।"

पॉल उन संघर्षों, झगड़ों के बारे में भी कुछ नहीं कहता जो एक ओर

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १८।

२. जीसस ट्रान्स आई फ्रेज़र, लंदन, १९६०—लेखक जी० बौर्नकम्म, पृष्ठ ११०।

जीसस और दूसरी ओर यहूदी या रोमन सत्ताधिकारियों के मध्य हुए कहे जाते हैं।

पॉल ऐसे किसी चमत्कार का भी वर्णन नहीं करता जो जीसस द्वारा किया गया विश्वास किया जाता है और न ही वह किसी ऐसे धर्मोपदेश को निरूपित करता है जिसे ईसाई-धर्मग्रन्थों के अनुसार उसके द्वारा दिया गया आग्रहपूर्वक घोषित किया जाता है। उक्त धर्मग्रन्थों ने जीसस के जीवन-चरित्र को चमत्कारों और (धार्मिक) शिक्षाओं से ठूँस, भर दिया है, और व्यावहारिक रूप में उसके जीवन में अन्य कुछ है ही नहीं।

प्रोफेसर वैल्स ने कहा है, "न ही पॉल जीसस की सभी जगह आदमी को बपतिस्मा देने—शुद्ध करने की शिक्षा के बारे में कुछ जान सकता था (मैथ्यू २८ : ९), अन्यथा वह यह नहीं कर सकता था कि 'क्राइस्ट ने मुझे बपतिस्मा करने, शुद्ध करने के लिए नहीं भेजा'।"[१]

अन्य शब्दों में कहा जाए तो क्राइस्ट के नाम पर विश्व-भर में पिछली बीस शताब्दियों में करोड़ों-करोड़ों लोगों का धर्म-परिवर्तन मैथ्यू जैसे उन सुसमाचार लेखकों द्वारा गलती से किया गया है जिन्होंने एक काल्पनिक जीसस के मुख द्वारा एक झूठा धर्मोपदेश कहलवा दिया है।

"पॉल जब जीसस की मृत्यु के बारे में भी लिखता है," प्रोफेसर वैल्स कहते हैं, "पॉल पीलेट या जरुस्लम के बारे में कुछ नहीं कहता है किन्तु यह घोषित-भर कर देता है कि जीसस को दुर्जनों द्वारा प्रेरित किए जाने पर मृत्युदंड किया गया था (१ : पत्रा० २ : ८)। पॉल इस सूली-दंड का कोई ऐतिहासिक संदर्भ प्रस्तुत नहीं करता जिसके कारण कुछ मालूम नहीं पड़ता कि उसे दफनाया कहाँ गया था और वह पुनर्जीवित किस प्रकार हो गया।"[२]

हम यहाँ पाठक का ध्यान भगवान् कृष्ण की मृत्यु-कथा की ओर आकर्षित करना चाहेंगे। पूर्ण यदु-वंश को, कृष्ण जिससे सम्बन्धित थे, एक

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ १९।

२. एस० जी० एफ० ब्रैनडन लिखित 'टाइम एंड मैनकाइंड', लन्दन, १९५१, पृष्ठ १५९।

ऋषि द्वारा श्राप दिया गया था कि एक विशिष्ट लौह-अणि से उसका समूल सर्वनाश हो जाएगा। श्राप से भयांकित होकर यदु-वंशी बालकों ने उक्त लौह-अणि को चूर-चूर कर दिया और उक्त चूर्ण को समुद्र में वहा, फैला दिया। उस चूर्ण से सरकंडों की उपज हुई। फिर, पारस्परिक झगड़ों में, विभिन्न टुकड़ियों में विभाजित यदुवंशियों ने उन सरकंडों को उखाड़ लिया और एक-दूसरे के प्राण लेने तक उनसे प्रहार करते रहे। भगवान् कृष्ण गणमान्य व्यक्तियों में अकेले रह जाने और १२० वर्ष की आयु हो जाने पर ध्यानावस्था में अपना शेष जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से वन-गमन कर गए, वानप्रस्थी हो गए। एक घने जंगल में एक वृक्ष के नीचे जब वे बैठे (विश्राम कर रहे) थे, तो उसी सरकंडे (काष्ठ) से बने एक तीर ने (शिकारी द्वारा फेंके जाने पर) उनके पंजे में प्रवेश किया और भगवान् कृष्ण की जीवन-लीला समाप्त हो गई।

जीसस के सूली चढ़ने की कहानी को बीज, मूल रूप में भगवान् कृष्ण की उपर्युक्त हिन्दू कथा से ही निःसृत, उत्पन्न देखा जाना चाहिए, जिसमें वधिक का बाण भगवान् कृष्ण की पग-थली में प्रविष्ट हो गया था और जीसस के पैर में लोहे की कील ठोक दी गई थी।

भगवान् कृष्ण की अंत्येष्टि भारत में ही उनके मृत्यु-स्थान पर कर दी गई थी। अतः पॉल के लिए यह बिल्कुल सहज, स्वाभाविक ही था कि वह उनको दफ़न कर देने के बारे में कुछ भी नहीं कह सका।

जीसस की परम्परा के बारे में सामान्य रूप से पॉल की अल्पता, अपर्याप्तता से केसमन चकित होता है किन्तु सूली पर चढ़ाए जाने के बारे में पॉल द्वारा साधी गई चुप्पी केसमन को आघात अवश्य पहुँचाती है।[1]

श्री वैल्स का मत है कि "यदि कोरिन्थ में कोई ऐसा समूह था जिसे 'क्राइस्ट का समूह, मित्र-वर्ग' कहा जाता था तो जरुस्लम में भी एक ऐसा समूह रहा होगा जो 'भगवान् के भाई-बन्धु' के नाम से पुकारा जाता हो जिसे पॉल को जीसस के बारे में हुए अनुभव से अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं

१. ई० केसमन लिखित 'पर्सपैक्टिव ऑन पॉल' ट्रांस० एम० कोहल द्वारा, लन्दन, १९७१, पृष्ठ ४९।

हुआ था।"[१]

प्रोफेसर वैल्स के इस अलौकिक, रहस्यमय पर्यवेक्षण का विशाल, बहुविध महत्त्व है। इसने सारी बातों का पूरा खुलासा कर दिया है चाहे प्रोफेसर वैल्स का यह मन्तव्य न रहा हो या उनको स्वयं यह अनुभूति न रही हो।

हम इसकी विशद व्याख्या, इसका अधिकाधिक स्पष्टीकरण धीरे-धीरे आगे करेंगे किन्तु प्रथम पग के रूप में हम अपने पाठक को यहाँ यह अवश्य बता दें कि क्रिश्चियन-युग से पूर्व जरुस्लम और कोरिन्थ कृष्ण-पूजा, कृष्णोपासना के दो महान् केन्द्रस्थान थे। उन दो केन्द्रों की प्रबन्ध-व्यवस्थाएँ परस्पर-सम्बन्धित थीं। बपतिस्मी जॉन व स्टीफन और पॉल जैसे व्यक्ति उन दो कृष्ण-मन्दिरों के पुरोहित (पादरी), प्रचारक और प्रबन्धक थे। इन दोनों स्थानों पर कृष्ण-भ्रातृसंघ, मित्र-वर्ग थे जिनको गलत उच्चारण कर क्रस्त (क्राइस्ट) भ्रातृसंघ कहा जाता रहा। उन दोनों केन्द्रों पर सत्ता और धन-सम्पत्ति में साझेदारी के भोग के प्रश्न को लेकर मतभेद क्रमश: बढ़ते गए और दो वर्ग हो गए। पॉल आदि का सम्बन्ध पहली पीढ़ी के पृथक् हुए समूह से था। मार्क, मैथ्यू, जॉन और लूक परवर्ती पीढ़ियों से सम्बन्धित थे। उस विभेद, फूट की गड़गड़ाहटें पॉल के पत्रों में स्पष्ट दीख पड़ती हैं। उन पत्रों में परस्पर मतभेदों, लांछनों और प्रति-आरोपों के पर्याप्त संकेत हैं।

मतभेद रखने वाले लोग, विरोधी लोग कृष्ण-मन्दिर से भिन्न दूर स्थानों पर मिलने-जुलने लगे और अपनी अगली कार्य-रूपरेखा पर विचार-विमर्श करने लग गए। ऐसे विचार-विमर्श, वाद-विवाद को संस्कृत भाषा में 'चर्चा' कहते हैं। यह ईसाई-परम्परा में 'चर्च' नाम का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर देता है। 'चर्च' संज्ञा, नाम हमारी इस उपलब्धि को पुष्टि, समर्थन प्रदान करती है कि तथाकथित क्रस्त (क्राइस्ट) सम्प्रदाय हिन्दुत्व का वह पृथक् हुआ समूह है जो अपने अगले कदम पर विचार करने के लिए अलग बैठकें करने लगा था जब इनके महत्त्वाकांक्षी नेताओं को कृष्ण-केन्द्रों के

---

१. जी० ए० वैल्स रचित 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ २१।

प्रबन्ध में अधिकारपूर्ण स्थान, पद देने और उनको संचित धन-निधियों का नियन्त्रण सौंपने से वंचित/मना कर दिया गया था।

अत: प्रोफेसर वैल्स यह सही कह रहे हैं कि कोरिन्थ में जीसस-पूर्व एक समूह था जो 'कृस्त (क्राइस्ट) का समूह' कहा जाता था। यहाँ केवल इतना विभ्रम जरूर स्मरण रखना है कि कृस्त (क्राइस्ट) उस समय कृष्ण का प्रचलित उच्चारण था। प्रोफेसर वैल्स एक बार फिर सहज-सरल रूप में यह सुझाव प्रस्तुत करने में सही हैं कि भगवान् (अर्थात् कृष्ण) का एक अन्य भ्रातृ-वर्ग जरुस्लम में सक्रिय था। उनका यह कथन भी संयोगवश ही अत्यन्त ललित, मनोहारी है कि उनको स्वयं पॉल के अनुभव से अधिक कोई अनुभव, जानकारी जीसस के बारे में निजी तौर पर नहीं थी। चूँकि जीसस का कभी जन्म हुआ ही नहीं था, इसलिए उसका कोई निजी अनुभव किसी को हो नहीं सकता था। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण पॉल से बहुत पहले हो चुकने के कारण पॉल को भी उनके बारे में निजी तौर पर कोई अनुभव हो ही नहीं सकता था, सम्भव नहीं था। किन्तु बपतिस्मी जॉन और पॉल भगवान् कृष्ण (जिनका उच्चारण वे कृस्त-क्राइस्ट करते थे) के (हिन्दू) भक्त होने के कारण उनके लिए यह सहज स्वाभाविक ही था कि वे उनको अवैयक्तिक, अवतारी ईश्वर कहते और उनके सूली चढ़ने—जीवनलीला समाप्त करने के बारे में कुछ न कहते। कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं, प्रसंगों की जहाँ तक बात है, वे सभी भली-भाँति सर्वज्ञात हैं और महाभारत व अन्य हिन्दू-ग्रन्थों में संग्रहीत, अंकित हैं। कृष्ण के जीवन-काल में विश्व-भर के सभी लोगों को उनका जीवन-चरित्र मालूम था, इतनी अच्छी तरह सभी बातों की जानकारी थी कि पॉल या अन्य किसी को उन्हें ठुकराने की आवश्यकता नहीं (होती) थी। परवर्ती ईसाई नेताओं ने जीसस की जीवन-घटनाओं को जिस प्रकार लोकप्रिय, कल्पनातीत बनाया, पॉल उनके बारे में सहज रूप से चुप है क्योंकि वह जानता था कि जीसस कृस्त (क्राइस्ट) तो उस समय 'ईशस कृष्ण' का ही प्रचलित उच्चारण था—संस्कृत में जिसका अर्थ द्योतन 'भगवान् कृष्ण' के लिए ही है।

"पॉल ने जो उद्घोषित किया वह (ईश्वर) भगवान् की इच्छा का रहस्य था अर्थात् कृस्त (क्राइस्ट) कृष्ण के माध्यम से मानव का उद्धार

करने हेतु दिव्ययोजना जो उसी में सभी को समाविष्ट कर देगी, स्वर्ग की वस्तुएँ और पृथ्वी पर उपलब्ध सभी वस्तुएँ (ईफेस १ : ७-१०)।''[१]

यहाँ फिर प्रोफेसर वैल्स रहस्यमय रूप से सही हैं चाहे वे इसके हिन्दू, कृष्णयी महत्त्व से अनभिज्ञ हैं। श्री वैल्स ने पॉल की जिस (धर्म) शिक्षा का सार प्रस्तुत किया है, वह भगवान् कृष्ण की भगवद्गीता का केन्द्रीय, मुख्य सन्देश ही भिन्न प्रकार से कहा गया है। उस हिन्दू-धर्मग्रन्थ में भगवान् कृष्ण अपने योद्धा-भक्त अर्जुन को बार-बार अपने कर्तव्य का निश्चय दृढ़ता-पूर्वक पालन करने के लिए और सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देने की सलाह देते हैं जिससे ईश्वर अपनी इच्छा योजनानुसार कार्य कर सके।

अतः सभी पाठकों को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पॉल और यूरोप में उसके सभी समकालीन व्यक्ति तथा अरब-इस्रायली क्षेत्रों के तत्कालीन निवासी लोग कृष्ण के भक्त थे और हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे चाहे वे इस सबसे अनभिज्ञ रहे हों क्योंकि उनसे सदियों पूर्व ही हिन्दू प्रशासन और नियमित हिन्दू शिक्षा छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, समाप्त हो चुकी थी। फिर भी, उस राजनीतिक अभाव, शून्यावस्था में, उन अनिश्चित शताब्दियों में भी उन लोगों तक जो शिक्षा, संस्कृति और दार्शनिकता छन-छनकर पहुँच पायी, वह हिन्दू के अतिरिक्त अन्य कुछ न थी।

यहाँ कुछ लोगों को यह आश्चर्य भी हो सकता है कि इतना कुछ होने के बावजूद तत्कालीन यूरोप में हिन्दू नाम का कोई शब्द सुनाई क्यों नहीं पड़ता? उत्तर यह है कि स्वयं भारतीय धर्मग्रन्थों में भी 'हिन्दू' शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया गया है। तथ्य तो यह है कि हम सामान्य बोलचाल में जिसको हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म कहते हैं उसका स्वयं का अपना कोई नाम ही नहीं है क्योंकि इसको कोई पंथ, सम्प्रदाय समझाने, बनाने का मनोरथ था ही नहीं, बल्कि यह तो सभी मानवों पर प्रयोज्य विश्वव्यापी आचरण-संहिता थी। इसमें शाश्वत जीवन-मूल्य समाहित हैं और उन्हीं पर इसमें आग्रह भी है; यथा—सदा सत्य बोलना, सभी प्रकार के व्यवहार में ईमानदार प्रामाणिक रहना, शरीर और मन—मनसा, वाचा, कर्मणा—शुद्ध रहना,

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?' पृष्ठ २३।

सदा परोपकारी रहना आदि। हिन्दू-धर्म सार्वभौमिक मानवतावाद होने के कारण इसका कोई विशिष्ट नाम न था। यही वह हिन्दू-वाद था जो बपतिस्मी जॉन और पॉल तथा उसके पूर्वजों के युग में विश्व-धर्म, आस्था के रूप में सर्वव्यापी, प्रचलित था। ईशस कृष्ण ही इसका ईश्वर था। इसलिए जनता उसी ईश्वर की उपासना करती थी और उसी हिन्दू-दार्शनिकता का प्रचार-प्रसार करती थी जो उस जनता को भगवद्गीता तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों से, प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में प्राप्त हुई थी।

प्रोफेसर वैल्स का पर्यवेक्षण है, "पॉल ने अपना कार्य, कर्तव्य समझा है ईश्वर का शब्द, सन्देश सर्वज्ञात कराना, युगों और पीढ़ियों तक छिपे रहस्य को अब अपने सन्तों के समक्ष निरूपित करना···पॉल बार-बार जीसस को रहस्यमयी भाषा में सम्बोधित करता है यथा कृस्त (क्राइस्ट) में, कृस्त (क्राइस्ट) के प्रति, कृस्त (क्राइस्ट) के माध्यम से (और), कृस्त (क्राइस्ट) को···कृस्त (क्राइस्ट) और स्वयं के बीच कोई अवर्णनीय सम्बन्ध का आभास मानो दे रहा हो।"[१]

यहाँ यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि कृस्त (क्राइस्ट) तो 'कृष्ण' शब्द का आधुनिक यूरोपीय उच्चारण मात्र ही है क्योंकि हिन्दुत्व की भक्ति-परम्परा में भक्तों के लिए विशिष्ट सम्बन्धों की शब्दावली में दिव्यता की चर्चा करना सामान्य बात ही है।

आधुनिक बाइबल-कथन, जिनमें कहा गया है कि अपने ही समर्थक, पट्ट-शिष्यों में से एक द्वारा धोखा देने के कारण जीसस को गिरफ्तार कर लिया गया था और उसे सूली पर चढ़ाया गया था, अनुवादक की भूल, गलती का ही परिणाम है। मूल यूनानी क्रिया-पद में था "स्वयं को समर्पित, मुक्त कर दिया"। जब भगवान् कृष्ण की मृत्यु हुई तब इसी वाक्यांश का प्रयोग हिन्दुओं ने किया। हिन्दुओं का कहना है कि भगवान् कृष्ण ने अपना जीवन त्याग दिया अर्थात् उन्होंने अपने इस पार्थिव जीवन का अन्त हो जाने दिया। यह पुनः प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार कृस्त (क्राइस्ट) की कहानी तथ्यरूप में कृष्ण की ही कहानी है जिसे तोड़ा-मरोड़ा और विरंजित

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ २४।

कर दिया गया है।

"स्वयं को समर्पित कर दिया"[१]—सूत्र पॉल से पहले भी विद्यमान, प्रचलित था—श्री वैल्स का कहना है।

यूखारिस्त (परमप्रसाद) खाद्य भी क्रुस्ती-पूर्व परम्परा थी। पॉल का धर्मपत्र पढ़नेवाले कोरिंथिगनवासियों के लिए, परमप्रसाद पहले ही एक विद्यमान-कर्मकाण्ड था—श्री वैल्स ने कहा है। हिन्दुओं में यह सामान्य, नित्य प्रथा ही है कि देवमूर्ति के समक्ष पूर्ण भोजन या कम-से-कम कुछ मिष्ठान्न तो ईश्वर-कृपा, दया को प्राप्त करने के लिए रखते ही हैं जिससे उसमें कुछ दैवी-अंश समा जाएँ और उसको ग्रहण करने से भक्तों को स्वास्थ्य, पुष्टिकारक तत्त्वों की प्राप्ति हो जाए। दैवी भोजन के रूप में रोटी और शराब को ग्रहण करने की क्रुस्ती (ईसाई) पद्धति का वही हिन्दू मूल, उद्गम है क्योंकि आज जिसे जीसस क्राइस्ट की छवि मानते हैं वह प्रारम्भिक रूप में ईशस कृष्ण की मूर्ति ही थी।

क्राइस्ट की काल्पनिक मृत्यु के तीन दिन बाद उसका पुनरुज्जीवित हो जाना भी पूर्वकालिक गैर-ईसाई-पद्धति से उद्भूत है। उदाहरण के लिए प्लूटार्च ने तीसरे दिन ओरिसिस के फिर से जिन्दा हो जाने की कथा का उल्लेख किया है। मेट्ज़र ने बताया है कि पूर्व में तीन दिन एक अस्थायी वास-स्थान का द्योतक है, जबकि चतुर्थ दिन स्थायी निवास का निहितार्थक है। इसलिए पॉल के सूत्र का प्रयोजन केवल यह संकेत देना हो सकता है कि मृतक की भूमि में जीसस का रुकना, ठहरना केवल अस्थायी था।[२] हिन्दुओं में आज भी गणेश, दुर्गा और सरस्वती की प्रतिमाएँ, मूर्तियाँ तीन से नौ दिवसीय समारोह, उत्सव के बाद जल-मग्न कर दी जाती हैं और हर साल उत्सव के दिन पुनः (नव-निर्मित) जीवित कर ली जाती हैं। यह सम्भव है कि क्रुस्ती-पूर्व यूरोप में भगवान् कृष्ण की मूर्ति जल-मग्न कर दी गई थी और तीसरे दिन पुनः-प्रतिष्ठित करने के लिए पुनर्जीवित (पुनर्निमित) कर दी

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ २६।
२. बी० एम० मेट्ज़र लिखित 'मिस्ट्री रिलीजन्स एण्ड अरली क्रिश्चियनिटी', पृष्ठ १२३।

गई थी मात्र इस प्रयोजन को चरितार्थ करने हेतु कि राजा कंस के कारागार से नवजात भगवान् कृष्ण को भारी बाढ़ से उफनती यमुना नदी के पार चुपचाप ले जाने और नन्द के घर में उनके प्राकट्य प्रादुर्भाव का आनन्दोत्सव सम्पन्न हो रहा है। यहीं उन्होंने दुष्ट आत्मा, नरपिशाच कंस की कोप-दृष्टि से बचने के लिए दूर अपनी किशोरावस्था का लालन-पालन किया था।

इसी के साथ-साथ तीसरे दिन पुनर्जीवन प्राप्त करने का भावार्थ कुछ समय बाद का अर्थद्योतन करना हो क्योंकि क्रस्त (क्राइस्ट) की मृत्यु की तारीख स्वयं ही अज्ञात है। यह तो स्वाभाविक ही है, जब क्राइस्ट कोई ऐतिहासिक पुरुष था ही नहीं। क्राइस्ट की मृत्यु और उसका पुनर्जीवन हिन्दू-विचार 'प्रलय' का मात्र भ्रम भी हो सकता है—जल द्वारा सम्पूर्ण नाश और पुनर्जागरण, पुनर्जीवन।

पुनरुज्जीवित होने के बारे में भी ईसाई रचनाओं में व्यापक विविधताएँ हैं। पॉल के अनुसार, पुनरुज्जीवित जीसस ईश्वर के दाएँ हाथ की ओर स्थान ग्रहण करने के लिए सीधा स्वर्ग चला गया (रोम ८ : ३४); किन्तु ईसाई-धर्मग्रन्थ और चरित उसके पुनरुज्जीवित व्यक्तित्व को किसी यशस्वी-काया में निरूपित नहीं करते। अत: वे उसे पार्थिव जीवन में लौट आया पुनर्जीवित ही दर्शाते हैं। क्राइस्ट की पुनर्जीवन-कथा ही एकमात्र उपाय था आश्वस्त करने का कि प्रत्येक मृत विश्वासी व्यक्ति पुनरुज्जीवित हो जाएगा।

श्री वैल्स कहते हैं कि, "मात्र यही तथ्य कि यहूदी और रोमन अधिकारियों ने इतने प्रारम्भिक काल में भी ईसाइयों को अपने धर्मानुसार जरुस्लम में आचरण, व्यवहार, कार्य-कलाप करने की अनुमति दे दी थी, इस विचार के प्रतिकूल स्वयं प्रमाण है कि इस विश्वास, आस्था, धर्म का संस्थापक, प्रवर्त्तक कुछ ही वर्ष पूर्व यहूदी और रोमन शत्रुता के फलस्वरूप फाँसी चढ़ा दिया गया था।"[1]

प्रारम्भिक ईसाई "खास दिनों, मासों, ऋतुओं और सालों को मनाने का आग्रह करते थे (गाल ४ : १०) और यह उनको उन व्यक्तियों से सम्बन्धित

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ३६।

कर देता है जिनकी कोलोस २ : १६-१८ में आलोचना की जाती है। नवचन्द्र समारोह अर्थात् सब्बाथ के लिए उनके पर्यवेक्षण के कारण, क्योंकि यहाँ उस आचरण, पद्धति की आलोचना इसलिए की जाती है कि ये वे लोग हैं जो आत्म-तिरस्कार और देव-पूजा करते हैं और जो दिव्य-दर्शनों पर अपनी आस्था रखते हैं। खास ऋतुओं और देव-पूजा, उपासना करने में सम्बन्ध यह है कि नक्षत्रों और ग्रहों में संप्रविष्ट राक्षसी शक्तियाँ कुछ खास समय पर उच्च-स्थानस्थ होती हैं और वे मनुष्य के लिए खतरा बनी रहती हैं।"[1]

उपर्युक्त अवतरण, उद्धरण इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि अरब और यूरोपीय क्षेत्रों में प्रचलित कृस्ती-पूर्व आस्था, विश्वास हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म ही था। सन्दर्भित देव-पूजा भगवान् कृष्ण की पूजा ही है। राक्षसी शक्तियाँ वे हैं जिनके विरुद्ध राम और कृष्ण जैसे हिन्दू देवावतारों ने संघर्ष किया था। हिन्दू लोग वर्ष-भर ज्योतिष और विभिन्न तिथि-वारों को देखते, परखते और उनका पालन करते रहने के लिए सर्वविख्यात हैं। भक्त, कट्टर, रूढ़िवादी हिन्दू के लिए तो वर्ष का लगभग हर दिन ही एक विशिष्ट पुनीत, पवित्र, धार्मिक महत्त्व का दिन है।

इस सन्दर्भ में हम एक महत्त्वपूर्ण पर्यवेक्षण करना चाहते हैं अर्थात् ईसाई सब्बाथ और इस्लामी शबे-इ-बरात का एक सीधा सम्बन्ध और मूलोद्गम भी है। वह सम्बन्ध हिन्दू संज्ञा शिवरात्र और शिव-व्रत में मिलता है। वे शिवोपासना, शिव-पूजा का संकेत करते हैं। इससे यह स्पष्टतः प्रत्यक्ष है कि सब्बाथ और शबे-इ-बरात प्रारम्भ में शिवोपासना के प्रति समर्पित दिन और प्रथाएँ थीं।

इसी प्रकार मुस्लिमों का 'ईद' शब्द लें। उनके हर्ष का प्रत्येक त्योहार 'ईद' माना जाता है; यथा—बकरीद या ईद मिलाद-उल-नबी। उसी के समानुरूप हम कृस्ती-पूर्व रोमनों के 'मार्च' मास की ईद भी सुनते हैं। उसमें भी 'ईद' शब्द का अर्थ विशेष पूजा-उपासना से था क्योंकि प्राचीन यूरोप में नया वर्ष मार्च से प्रारम्भ होता था जब यूरोप एक हिन्दू-क्षेत्र था।

उक्त 'ईद' शब्द संस्कृत-मूल का है जैसा "अग्निम् इडे पुरोहितम्"

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ३६।

उक्ति में, अर्थात् सभी पूजा-उपासना (ईड) में अग्नि सम्मुख रखी जाती है, देखा जा सकता है।

शिव-व्रत और ईड (ईद) जैसी उक्तियों का आज के तथाकथित मुस्लिमों और कृस्तियों (ईसाइयों) में सामान्य होना सिद्ध करता है कि वे सभी (धर्म) परिवर्तित हिन्दू हैं और उनके अपने-अपने धर्म सिर्फ हिन्दू-धर्म के जोड़-तोड़ से इकट्ठे किए हुए विभिन्न रूप ही हैं।

श्री वैल्स ने बल देकर कहा है, "पॉल के सामने खतरा यह था कि उसने जिन कृस्ती-समुदायों को पाला-पोसा था, वे रहस्यवादी गुटबन्दियों और गूढ़-गुप्तोपासना-चक्रों में (घुल-मिलकर) लुप्त हो जाएँगे।" श्री वैल्स ने यह भी कहा है कि, "इस खतरे का स्पष्टीकरण करना कठिन है कि कृस्ती-पंथ किसी एक ऐतिहासिक जीसस की स्पष्टतया परिभाषित धर्म-शिक्षाओं से मूलतः प्रारम्भ हुआ था।"[१]

श्री वैल्स के अनुसार, "नव-विधान (बाइबल के उत्तरार्द्ध) की विस्मयकारी बात यह है कि धर्मग्रन्थों में वर्णित होने के अतिरिक्त, इस जागतिक जीसस में स्वयं में इतना अल्प महत्त्व है कि उसके बाहर तो मात्र उसका धर्म-चिह्न 'क्रॉस' का ही कोई धार्मिक औचित्य है और उसके इस 'क्रॉस' को भी (ऐतिहासिक दृष्टि से ग्राह्य बनाने की अपेक्षा) पुरा-शास्त्र और कहानी के विगत, प्राचीनकाल को प्रयोज्य कर तोड़-फोड़ दिया, विकृत कर दिया है।"[२]

यूनानी भाषा में जीसस व जोशवा तथा याह्वेह सभी दैवी नाम हैं। वे संस्कृत-मूल के ही हैं। उनके संस्कृत समानक शब्द हैं ईशस, केशव और यादवेय (अर्थात् यदु-वंश का एक व्यक्ति)।

पॉल का यह निश्चयात्मक कथन कि "एक भगवान् जीसस ही है जिससे सभी पदार्थ उद्भूत, निःसृत हैं", भगवद्गीता नामक हिन्दू-धर्मग्रन्थ का ही एक वाक्य है जिसमें उद्घोषित है कि सम्पूर्ण सृष्टि का जनक भगवान्, परमात्मा ही है।

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ३७।

२. वही, पृष्ठ ४०।

पॉल (गाल ४ : ४ में) कहता है कि "पूर्ण उचित समय आ जाने पर" ईश्वर ने अपने पुत्र को पृथ्वी पर भेजा। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण द्वारा अपने शिष्य अर्जुन को दिया गया यह स्थायी, पक्का आश्वासन ही है।

"प्रथम शताब्दी के कृस्ती धर्मपत्र ईसाई-धर्मग्रन्थों में कल्पित, मान्य जीसस की ऐतिहासिकता का समर्थन नहीं करते। सबसे शुरू वाले कृस्तियों (अर्थात् कृष्णियों—कृष्ण के अनुयायियों) के लिए तो जीसस एक मरता और उदय होता हुआ भगवान्, ईश्वर था जिसका कोई मानव जीवन-चरित ज्ञात नहीं था। दो नए विधान के धर्म-पत्रक (जेम्स और जुडे) जीसस के बारे में कुछ भी नहीं बताते, और जेम्स तो उसकी मृत्यु व पुनर्जीवन-प्राप्ति का उल्लेख भी नहीं करता जो पॉल की रचनाओं में इतनी प्रखरता, स्पष्टता से अंकित हैं। मैं जिसको महत्त्वपूर्ण पाता हूँ वह इस प्रकार की चुप्पियाँ नहीं हैं बल्कि एक चुप्पी वह है जो उस काल के सभी दस्तावेजों में निरन्तर बनी हुई है और दोहरायी गई है। विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए दस्तावेजों में उन विषयों पर है जिसके बारे में वे उदासीन नहीं रह सकते थे।"[१]

क्राइस्ट की निम्नतम तल, अधोलोक में उतर जाने की कहानियाँ केवल तभी स्वीकार्य, ग्राह्य हो पाती हैं जब कृस्त को कृष्ण समझा, मान लिया जाता है। यह तो शिशु कृष्ण ही था जिसने कालिया-नाग को वश में करने के लिए गहरी यमुना नदी में डुबकी लगाई थी, जलावतरण किया था।

"अभी तक अध्ययन किए गए किसी भी (ईसाई, यहूदी या गैर-ईसाई) दस्तावेज में, जो प्रथम शताब्दी में लिखा गया हो, किसी मान्य ऐतिहासिक स्थिति में जीसस का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। प्रथम शताब्दी के ईसाई-धर्मग्रन्थों में उसके बारे में अधिक-से-अधिक यही कह दिया जाता है कि वह प्राचीनकाल में हुआ था जो अभी निकट-काल ही में था, किन्तु यह भी अनिश्चित ही उल्लेख होता है।"[२]

ज्यों-ज्यों कृस्ती-समुदाय विभिन्न स्थानों पर बढ़ते गए, त्यों-त्यों एक

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ५६-५७।

२. वही, पृष्ठ ५७।

अजन्मे जीसस के बारे में किसी कहानी को एक मानवीकृत रूप दे देने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसके कारण उनको यह जोड़ना पड़ा कि जीसस पीलेट के कारण मरा। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके जीसस-कथा बना दी गई, घड़ दी गई। सभी द्वारा उसकी स्वीकृति की युक्ति सफल की गई। ऐसी स्वीकृति स्वयं नेता के अपने पक्ष में भी थी क्योंकि वे एक ऐसे धार्मिक नए श्रेणीबद्ध संगठन का निर्माण कर रहे थे जिसमें उच्च पदासीन व्यक्तियों को और भी अधिक शक्ति, ऐश्वर्य तथा सम्मान प्राप्त हो सकता था।

पॉल के पत्रों में सम्मिलित अनेक पदों में जीसस को अलौकिक रूप में निरूपित किया गया है जिसका पृथ्वी पर अवतरण हुआ था, जो अत्यन्त दीनता व कठिनाई में रहता रहा और फिर एक बार स्वर्ग आरोहण कर गया।

इसका मूल भी कृष्ण-कथा में है क्योंकि कृष्ण का जन्म कारागार में हुआ था। उसके जन्म के तुरन्त पश्चात् वह एक ग्वाले के घर में पलकर बड़ा होने के लिए बन्दीगृह से बाहर लुक-छिपकर ले जाया गया था। बाद में वह स्वयं इच्छा से अर्जुन का रथ हाँकने वाला (सारथि) बना था तथा पाँडवों द्वारा महान् यज्ञ आयोजित किए जाने के अवसर पर उसी ने जूठी पत्तलें उठाने का काम सँभाला था।

चूँकि जीसस की कहानी एक पृथक् आधार पर आगे बढ़ रही थी, इसलिए क्रुस्ती नेताओं को जीसस को एक उपदेशक और अनोखें चमत्कारी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना पड़ गया। किन्तु यहाँ भी उन्होंने पर्याप्त अंश में कृष्ण-कथा से ही प्रेरणा ली। कृष्ण स्वयं ही महान् उपदेशक हैं। उन्होंने अर्जुन को जिस गीता का उपदेश दिया वह विश्व-साहित्य में एक ऐसे अद्वितीय प्रकाश-पुंज के रूप में विद्यमान है जिसे समस्त विश्व के बुद्धि-जीवी आध्यात्मिक मार्गदर्शन के रूप में मानव को दिया गया सर्वोत्तम ज्ञान मानते हैं। कृष्ण परस्पर-विरोधी वर्गों में सौहार्द, सामंजस्य बनाने के लिए जीवन-भर कठोर संघर्ष करते रहे और अन्त में अपने युग का भीषणतम महाभारत-युद्ध आयोजित करा दिया। अनेक चमत्कार भी कृष्ण भगवान् के चरित में सम्पन्न हुए थे। चूँकि वे शिशु-अवस्था में भी एक हृष्ट-पुष्ट,

आनन्दप्रद और नटखट बच्चे थे, इसलिए उनकी पालक-पोषक माता ने उन्हें एक बार घर की ऊखल से बाँध दिया। बालक कृष्ण उस ऊखल को घसीटते-घसीटते दो वृक्षों के मध्य तक ले गए। वह मूसल उन वृक्षों के बीच में फँस, अटक गया। कृष्ण ने और अधिक जोर लगाया तो वे दोनों वृक्ष धड़ाम करके उखड़कर गिर पड़े। एक अन्य अवसर पर कृष्ण ने द्रौपदी को अनन्त चीर-वस्त्र प्रदान किए थे जब कुछ दुष्टजन उसको अपमानित करने के लिए भरे दरबार में उस अबला नारी को निर्वस्त्र कर रहे थे। एक भिन्न अवसर पर अप्रत्याशित मेहमानों, आगन्तुकों के आ जाने पर कृष्ण ने खाद्य-सामग्री, भोजन का अक्षय भंडार भी प्रस्तुत कर दिया था। ऐसे कई कौतुक, अद्भुत विलक्षण प्रसंग कृष्ण-कथा से सम्बन्धित हैं।

इग्नेटियस ने अपने धर्म संघ को आदेशात्मक स्वर में कहा था कि वह पक्की तौर पर विश्वास करे कि क्रुस्त पीलेट द्वारा सूली-दण्ड से मरा था और मेग्नेशियनों से साग्रह प्रार्थना की थी कि "वे झूठी बातों, मान्यताओं के प्रलोभनों के सामने न झुकें।" यह इस बात का स्पष्ट संकेतक है कि वास्तविक, सत्य जीसस के अभाव में नई आस्था, नये विश्वास ने कृष्ण के बारे में, जिसका उच्चारण क्रुस्त किया जाता था, विभिन्न कथाओं को विकसित कर दिया था, प्रचलित कर दिया था। चूँकि यूनान का सम्बन्ध पहले ही हजारों वर्ष पूर्व विच्छिन्न हो चुका था, इसलिए हिन्दू-धर्मग्रन्थ यूनान से शनैः-शनैः अनुपलब्ध होने लग गए थे। इस प्रकार के बौद्धिक-शून्य, रिक्तता में प्राचीन कृष्ण-कथा को तोड़ा-मरोड़ा, नया रूप दे दिया गया। बाइबल में संग्रहीत, समुच्य-रूप कई त्वरित संकरित अंकुरणों का अनसोचा मिश्रण है जिसे क्रुस्ती नेताओं ने अन्ततोगत्वा काफी प्रयासों और भूल-चूक, ले-दे के बाद तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों की विवशताओं के फलस्वरूप एक औपचारिक, सरकारी रूप से स्वीकृत मानक-रूप में इकट्ठा कर दिया था।

क्राइस्ट (क्रुस्त) स्वयं एक उपाधि है, नाम नहीं। यह 'जीसस दि क्राइस्ट' शब्दावली से स्पष्ट है। यह फिर दर्शाता है कि क्रुस्त (क्राइस्ट) हिन्दू ईश्वर कृष्ण का तत्कालीन प्रचलित यूरोपीय उच्चारण ही था। अतः जब प्रारम्भिक क्रुस्ती नेताओं ने एक कल्पित जीसस के नाम में प्रचार करना प्रारम्भ किया, तब उनको यह कहना आवश्यक हो गया कि वह

भगवान् कृष्ण का स्वयं ही मूर्तरूप था। 'जीसस दि क्राइस्ट' शब्दांश का यही 'जीसस ही कृस्त, कृष्ण है' यही मनोभाव है।

यही बात उससे सम्बन्धित 'मसीह' नाम, उपाधि से और भी स्पष्ट, प्रत्यक्ष हो जाती है। प्रोफेसर वैल्स का कहना है कि 'मसीह' शब्द शाही उपाधि था। उनका कहना बिल्कुल ठीक, सही है। 'मसीह' संस्कृत शब्द 'महेश' की भ्रष्ट, गलत वर्तनी है। वह दो शब्दों—महा—ईश का सन्धि किया हुआ संयुक्त शब्द है जिसका अर्थ शब्द-रूप में 'महा ईश'—बड़ा ईश्वर है। इस प्रकार यह ऐसी उपाधि है, सम्मानार्थ पद है जो एक सम्राट् और एक दिव्य पुरुष, दोनों को ही प्रयोज्य है। कृस्त से जुड़ा हुआ यह संस्कृत उपाधि-पद भी इस तथ्य का अतिरिक्त प्रमाण है कि कृस्त (क्राइस्ट) कृष्ण के अतिरिक्त उससे भिन्न कुछ और है ही नहीं।

प्रोफेसर वैल्स ने अत्यन्त रहस्यमय ढंग से पर्यवेक्षण किया है कि, "पहली शताब्दी के अन्तिम दिनों से ही कृस्तियों (ईसाइयों) की स्थिति ऐसी कथा की रचना करने के लिए पूरी तरह अनुकूल थी कि जीसस को रोमन अधिकारियों के समक्ष खुद ही झकझोरा गया था और उसके साथ वैसा ही निर्भीक व्यवहार किया गया था जैसा उसी प्रकार की बाध्यता में कृस्तियों (ईसाइयों) से अपेक्षित था। इस (निष्कर्ष) पर कोई मतभेद, विवाद नहीं है कि अनेक कहानियों का मूलोद्गम, प्रारम्भ दमन किए गए लोगों को प्रोत्साहन की कथाओं के रूप में ही हुआ है।"[1]

यह पर्याप्त रूप में कपटपूर्ण, सत्याभासी है, जैसा कि प्रोफेसर वैल्स ने स्पष्ट किया है कि जीसस को रोमवासियों द्वारा सूली-दण्ड दिए जाने की कथा प्रारम्भिक कृस्ती नेताओं द्वारा अपने अनुयायियों पर यह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के लिए ईजाद, गढ़ ली गई कि वे अपने नए पंथ में ही बने रहें अन्यथा उन्होंने जिस पूर्व-पंथ का परित्याग कर दिया है वहाँ उनको ऐसी ही यातनाएँ दी जाएँगी।

यद्यपि सामान्य, साधारण व्यक्ति को इसकी जानकारी नहीं है, फिर भी प्रारम्भिक, पूर्व युग में जीसस की मृत्यु के बारे में चार पाठान्तर,

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ६२।

धारणाएँ, वृत्तान्त थे : एक यह था कि जीसस को किसी अनिश्चित भूतकाल में सूली पर चढ़ाया गया था; दूसरा यह था कि अभी कुछ समय पूर्व ही उसे सूली-दण्ड दिया गया था; तीसरा यह था कि जीसस को एक रोमन अधिकारी—पीलेट नाम—द्वारा सूली-दण्डित किया गया था; और चौथा यह था कि रोमन लोग नहीं—यहूदी लोग—उसकी मृत्यु के लिए जिम्मेदार थे। यह अन्तिम धारणावाला पाठान्तर ईसाई (धर्म)-ग्रन्थ लिखे जाने के समय प्रचलन में आ गया क्योंकि उस समय ईसाई लोग यहूदियों द्वारा नफरत के शिकार थे। अतः यह कल्पित धारणा बनी हुई थी कि यहूदियों ने तो प्रारम्भ से ही उनसे घृणा कर रखी थी। यहूदियों को दोष, कलंक देना मानसिक, वैचारिक रूप में सन्तोषदायक था; जिन लोगों द्वारा उसे 'मसीहा' मानने से इन्कार किया गया, उन्हीं लोगों को उसकी मृत्यु का उत्तरदायी बना देना, स्वीकार कर लेना सहज में बुद्धि-ग्राह्य था।

पीलेट का दोष यहूदियों पर मढ़ देने के लिए (ईसाई) सुसमाचार लेखकों ने अन्य कपटपूर्ण सत्याभासी भी ठूँस दी, जैसे जुदास द्वारा विश्वासघात, बरा-बास घटना और सन्हेड्रिल-मुकदमा जैसी अनुपयुक्त, बेमेल बातें। "ये सब इतनी अवास्तविक और गैर-ऐतिहासिक हैं कि बिल्कुल हास्यास्पद, मजाकिया लगती हैं।"[१]

सन् ६० ईसवी के पॉल के पत्रों से प्रारम्भ करके जिन भी व्यक्तियों ने सर्वप्रथम जीसस को सूली-दण्ड देने का विशेषोल्लेख किया था उनमें से किसी ने भी यह नहीं बताया कि सूली-दण्ड कब और कहाँ दिया गया था। प्रथम शताब्दी के पॉलोपरान्त धर्मग्रन्थ पॉल द्वारा उल्लेख किए गए से अधिक पीलेट का कोई उल्लेख भी नहीं करते। इग्नेटियस के पत्रों और नव-विधान के ग्रामीण धर्मपत्रों में—सभी ११० ईसवी सन् के हैं—पीलेट के प्रशासक प्रान्त में ही जीसस की मृत्यु ठहराते, निर्धारित करते हैं और यह उसका ही उत्तरदायित्व मानते हैं। किन्तु ईसाई-धर्मग्रन्थों के भावावेशी विवरणों में यह उत्तरदायित्व यहूदियों के माथे मढ़ दिया गया है।

---

१. एच० कोहन लिखित 'दि ट्रायल एण्ड डैथ ऑफ़ जीसस', लंदन, १९७२, पृष्ठ १८९।

यह विचार कि जीसस क्राइस्ट भूतकाल में, वर्तमान में और भविष्य में भी वही है (हिब्रू १३ : ८) सत्य का बिल्कुल उलटा है, प्रोफेसर वैल्स इस आधार पर कहते हैं कि, "वह एक विचार है जो काफी समयावधि में निर्मित और परिमार्जित, परिशुद्ध किया गया है।"

उनकी यह समीक्षा, टिप्पणी न्यायोचित है जहाँ तक जीसस का सम्बन्ध है। किन्तु प्रोफेसर वैल्स जैसे विद्वान् जो बात नहीं जानते वह यह है कि क्राइस्ट (कृस्त) तो हिन्दू नाम कृष्ण का विविधरूप मात्र ही है, रूपान्तर ही है। वह कृष्ण 'भूतकाल में, वर्तमान में और भविष्य में भी वही है' क्योंकि वह दैवी-अंश, दिव्य-अवतार ही है। यह एक अन्य प्रमाण है कि क्राइस्ट (कृस्त) तो कृष्ण-नाम का एक रूपान्तर-मात्र है, जीसस की कोई उपाधि नहीं।

श्री वैल्स का यह आग्रह सही है कि जो लोग, "नव-विधान की पुस्तकों को ऐतिहासिक दस्तावेजों के रूप में स्वीकार करते, मानते हैं उनको उन (कृस्ती धर्म-पुस्तकों) की विश्वसनीयता के बारे में भी कुछ कसौटी, निकष स्वीकार करनी ही चाहिए। उनको यह निर्धारण, निश्चय, निर्णय करने का यत्न करना चाहिए कि पुस्तकें कब लिखी गई थीं, किस उद्देश्य-प्रयोजन से लिखी गई थीं और किन लोगों ने लिखी थीं? उन लोगों ने जब इन तथ्यों का सुनिश्चित निर्धारण कर लिया हो तभी वे इस बात का आकलन कर सकते हैं कि लेखक का ज्ञान कितना रहा होगा, वह सत्य-असत्य वर्णनों में कितना नीर-क्षीर विवेचन, परस्पर-भेद समझ पाएगा और वह रूढ़िगत सैद्धान्तिक प्रयोजनों की धार्मिक पूर्व-धारणाओं, पूर्वाग्रहों से किस सीमा तक प्रभावित रहा होगा।"[1]

प्रोफेसर वैल्स ने जो कुछ बाइबल के बारे में कहा है वह कुरान पर भी पूरी तरह लागू होता है। इसलाम और कृस्ती-पंथ दोनों में ही धार्मिक सुदृढ़-तन्त्र ने उनके दोनों धर्मग्रन्थों के बारे में सभी प्रकार की समालोचनाओं और निष्पक्ष जाँच, समीक्षाओं को निरुत्साहित, नापसन्द ही किया है। धर्मग्रन्थ मानव के लिए होते हैं—मानव धर्मग्रन्थों के लिए नहीं।

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ७०।

मानव-जीवन जीने योग्य नहीं रह जाएगा यदि मनुष्य की उचित/अनुचित की प्रज्ञा को दबा दिया जाए अथवा उसका उपभोग न किया जाए।

प्रोफेसर वैल्स के अनुसार, "कृस्ती-पंथ (क्रिश्चियनिटी, ईसाई-मत, ईसाई-धर्म) में प्रचारकों का मुख्य कार्य अपने श्रोताओं को निम्नलिखित स्थूल तत्त्वों से सहमत करना था—नजारथ का जीसस, डेविड का वंशज, ईश्वर द्वारा नियुक्त किए जाने के बाद, दिए गए वचन के अनुसार जो मसीहा था, जो विश्व का निर्णय करे और पुण्यात्माओं, सन्तों को मोक्ष दिलाए, यहूदियों द्वारा भड़काए जाने पर धर्मगुरु पीलेट द्वारा सूली पर चढ़ा दिया गया था। उसकी नेक चरित्रता उसके 'विशाल कार्यों' द्वारा, विशेष रूप में उसके पुनर्जीवित हो जाने से, जिसकी सत्यता की प्रत्यक्षदर्शी होने की गवाही अनेक व्यक्तियों ने दी थी, स्थापित-सिद्ध हो चुकी थी। धर्म-प्रचारकों के उद्देश्य जीसस के पार्थिव जीवन के आत्मचरित के विवरणों को नहीं देखने देंगे और उसी कारण किसी को उनसे आशा नहीं करनी चाहिए कि वे उन चमत्कारों और प्रवचनों को अंकित करेंगे जो उनके (ईसाई) धर्मग्रन्थों के इतने महत्त्वपूर्ण अंश बने हुए हैं। उनको कुछ पता नहीं था मात्र कल्पना के घोड़े दौड़ाने के अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि इसीलिए उन्होंने इसे किसी भी प्रकार व्यवस्थित नहीं किया। केवल जब वे सैद्धान्तिक रूप से महत्त्वपूर्ण मृत्यु और पुनर्जीवन पर आते हैं तभी वे किसी प्रकार की सुव्यवस्था, तालमेल प्रदर्शित करते हैं।"[१]

प्रोफेसर वैल्स यह राय कायम करने में सही हैं कि जीसस का पूर्ण जीवन-चरित ही काल्पनिक है। मृत्यु और पुनर्जीवन, निःसंदेह, कृस्त-पंथ में महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। किन्तु जब कोई इस सम्बन्ध में सचमुच (गम्भीरता से) विचार करने लगता है तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाता है कि यूँ ही, व्यर्थ में, बात का बतंगड़ बना लिया है, उसमें कोई सार नहीं है। सर्वप्रथम, जीसस नामक कोई व्यक्ति था ही नहीं। दूसरी बात, यह धारणा बुद्धिगम्य नहीं है कि जीसस ने अन्य लोगों के—भूतकाल के, वर्तमान के और भविष्य में होनेवाले सभी लोगों के पापों के उद्धार के लिए,

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ७०-७१।

उनके प्रायश्चित्तस्वरूप अपने प्राण त्यागे थे। तीसरी बात, अन्य लोगों के लिए ऐसी दुःसह यातना सहने के लिए बेचारा जीसस ही क्यों एकाकी व्यक्ति हो? चौथी बात, यदि जीसस की यातना और पीड़ा अन्य लोगों के पापों की मोक्ष-दात्री हो सकती थी तो उन हजारों लोगों की सूली-दण्ड वाली मृत्यु क्यूँ नहीं अन्य लोगों का भी पापोद्धार कर सकी जो जीसस से पूर्व तथा बाद में भी बहुत लोगों को इसी प्रकार दी गई थी? और यदि यातना द्वारा जीसस की मृत्यु किसी प्रकार प्रायश्चित्त की द्योतक है तो क्या उसका पुनर्जीवित हो जाना भी पृथ्वी पर पाप का पुनरोदय ही है? यदि उसने इस पृथ्वी पर पुनः दूसरा जीवन प्रारम्भ किया था तो क्या जीसस फिर एक बार मौत का ग्रास हुआ था? यदि नहीं, तो क्यों नहीं? यदि वह नहीं मरा या दुबारा उसे नहीं मरना पड़ा था, तो उसे पहली बार ही क्यों मरना पड़ा? यदि पुनर्जीवन के बाद जीसस फिर इस पृथ्वी पर जिन्दगी जिया था तो उसके जागतिक-चरित के दूसरे काल-खण्ड का विवरण कहाँ है? यदि वह पुनर्जीवित होने पर सीधा स्वर्ग प्रवेश कर गया, तो सूली पर चढ़ने के तुरन्त बाद या उससे पूर्व ही वह स्वर्गारोहण क्यों न कर पाया? स्वर्ग में प्रवेश या स्थान दिए जाने से पूर्व क्या अन्य सभी व्यक्तियों को भी उसी प्रकार सूली-दण्ड भोगना पड़ेगा? ये सम्मुख उपस्थित होनेवाले असंख्य प्रश्नों में से कुछ हैं।

कृस्ती-पंथ (ईसाई-धर्म) इस बात का एक अच्छा उदाहरण है कि किस प्रकार लाखों लोगों को धोखा देकर किसी अविद्यमान, अस्तित्वहीन वस्तु का विश्वास दिलाया जा सकता है और किस प्रकार हवा में ही एक गगनचुम्बी धर्म-विज्ञानी राजप्रासाद की रचना की जा सकती है। उन लोगों के लिए जो यह कल्पना करते हों कि जीसस ने कोई नई दार्शनिकता का मनन, निर्माण और प्रचार-प्रसार किया था, प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि "जीसस की शिक्षाओं और चमत्कारी कार्यों के बारे में धर्मग्रन्थों में सामंजस्य का पूर्ण अभाव है, धर्म-पत्रों में असंख्य विसंगतियाँ हैं और धार्मिक प्रवचनों में भी समरसता का अभाव है जहाँ जीसस एक विषय, प्रसंग से दूसरे पर प्रत्यक्ष मनमानेपन, निरंकुशता से चला जाता है। एक अच्छा उदाहरण एम० के० ६ : ३५-५० है जहाँ पृथक्-पृथक् बिन्दुओं, मदों को,

जैसा धर्म-विज्ञानी कहते हैं, मात्र लुभावने सम्बन्धों से ही जोड़ा हुआ है, किसी स्थान पर एक शब्द या वाक्यांश ने सुसमाचार लेखक को अन्य स्वतन्त्र कथन में भी वैसे ही शब्द या वाक्यांश की याद दिला दी प्रतीत होती है और इसके फलस्वरूप उसने एक ही भाषण, कथन में इन दोनों को क्रमिक वक्तव्यों के रूप में रख दिया है…ऐसे अवतरण प्रदर्शित करते हैं कि जीसस के कथन प्रारम्भ में बिल्कुल स्वतंत्र, असम्बद्ध ही थे—यह वह विचार है जिसे इस शताब्दी के प्रारम्भ में नीलघाटी में आक्सीरिनकस नामक स्थान पर तीन धार्मिक प्रवचनों की प्राप्ति से पर्याप्त समर्थन, बल प्राप्त हुआ है। इनमें यूनान में जीसस के कुछ उद्‌गार हैं, और सन् १९४५ में ऊपरी मिस्र में नाग हम्मादि के निकट टामस की धर्म-पुस्तिका है। इस प्रक्षिप्त, अप्रामाणिक ग्रंथ में जीसस के लगभग ११४ कथन हैं जिनमें वे भी हैं जो आक्सीरिनकस में पाए गए थे व उनमें ऐसे कोई संकेत नहीं हैं कि कहाँ और कैसे तथा किन परिस्थितियों में उनको सुस्पष्ट, प्रकट किया गया था। अनेक कथन जो धर्म वैधानिक ईसाई ग्रंथ में किसी सुनिश्चित स्थिति, अवस्था में प्राप्त होते हैं वे यहाँ वैसे ही अनायास दे दिए गए हैं।"

यह सिद्ध करता है कि पश्चिम एशिया और यूरोप में प्रचलित कथन ईशस कृष्ण के ही थे। बाद में जब एक जीसस की कल्पना कर ली गई तब उसकी 'जीवनगाथा' को भगवान् कृष्ण की उन उक्तियों के अनुरूप निरूपित कर दिया गया जो पूर्वापर-संदर्भों से पृथक् होकर शताब्दियों तक विकृत-रूप में ही बनी रह गई थीं। प्रारम्भिक ईसाई नेताओं ने उन भिन्न-भिन्न अंशों को सँजो लिया, उनमें एक नये पैगम्बर—देवदूत को प्रतिष्ठित कर दिया, उसके जीवन की एक कहानी गढ़ ली और क्रिश्चियनिटी (ईसाई-मत—कृस्ती-पंथ) का एक नया धार्मिक-झण्डा, परचम ऊँचा फैला दिया।

श्री वैल्स ने आगे कहा है, "यह भी आज स्वीकार किया जाता है कि न केवल जीसस के भाषण बल्कि सारकि ग्रन्थावली से ज्ञात जीसस के जीवन के प्रसंगों में भी तारतम्य प्रारम्भिक सामग्री से उद्‌भूत नहीं है अपितु यह मार्क द्वारा की गई (ईजाद) सृष्टि है। उदाहरण के लिए मार्क १ : १६ में लिखा है, "उसने गलीली के सागर के साथ-साथ गुजरते हुए साइमन और एण्ड्रू को देखा।" लगभग सभी समालोचक एकमत हैं कि "गलीली के

सागर के साथ-साथ" शब्द मार्क द्वारा जोड़ दिए गए थे। वे यूनानी वाक्य-विन्यास में पूरी तरह व्याकरण-विहीन, नियम-विरुद्ध रूप से वाक्य में रखे गए हैं (क्योंकि 'गुजरते हुए' क्रिया-पद सामान्य रूप से 'साथ-साथ' अव्यय के साथ प्रयोग में नहीं लाया जाता)।

यह सम्भव है कि धर्म-प्रचारकों ने स्वयं ही वे शब्द जीसस के मुँह से कहलवाए हों जो उनसे सम्बन्धित श्रोतागणों, सभाओं को दिए गए प्रवचनों, भाषणों में जँचते हों। जीसस द्वारा भिन्न-भिन्न अवसरों पर तथाकथित रूप से कहे गए ये सभी सार-कथन एक पुस्तक में संग्रहीत हो गए जिसे हम अब बाइबल कहते हैं। उदाहरण के लिए, मार्क के वर्णन (१ : १६-२०) में जीसस पहली बार कुछ मछुवारों से भेंट करते हैं। वे उनसे कहते हैं, "मेरे पीछे आओ और मैं तुम्हें आदमियों का मछुवा बना दूँगा।" उन लोगों ने तुरन्त अपने जाल छोड़ दिए और जीसस के पीछे चल पड़े। यह एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सुझाव था जिसके माध्यम से प्रारम्भिक ईसाई (कृस्ती) नेताओं ने लोगों को नया पंथ ग्रहण कर लेने के लिए रजामंद किया था। इसमें स्वयं की विडम्बना है, जो धर्म-प्रचारकों के जाल में फँस गए थे वे स्वयं ही अन्य पुरुषों व महिलाओं के मछुवे, शिकारी बन गए।

प्रोफेसर वैल्स का साग्रह कथन है, "प्रत्येक सुसमाचार लेखक मात्र संकलनकर्ता होने के स्थान पर कुछ ज्यादा ही है···उसे जो सामग्री प्राप्त हुई उसमें कुछ पुष्टि, वृद्धि उसने कर दी और फिर उस पर अपनी धर्म-विज्ञान मीमांसा की छाप भी अंकित कर दी।"[1] उदाहरण के लिए, तथाकथित बारह शिष्य बीमारों को रोग-मुक्त करके, मृतकों को खड़ा कर देने, कोढ़ियों को स्वच्छ करने और दुष्ट आत्माओं को बाहर निकाल देने के लिए भेजे गए थे। यातनाओं के प्रति उनको सावधान कर दिया गया था किन्तु उनको यह आश्वासन दिया गया था कि इस्रायल के सभी उप-नगरों से पार हो जाने से पूर्व ही मानव के पुत्र का अभ्युदय हो जाएगा। अल्बर्ट श्वित्ज़र ने कहा है कि वह भविष्य कथन पूरा नहीं किया गया था।

जीसस के बारे में कहा जाता है कि जब कोई कृस्ती-समुदाय, समाज

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ७२।

अस्तित्व में ही नहीं था, तभी उसने ईसाई-समाज में होनेवाले मतभेदों को दूर करने के लिए नियम निर्धारित कर दिए थे। यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार प्रारम्भिक ईसाइयों ने मनगढ़न्त कथाएँ गढ़ लीं और पहली तारीखें प्रदान कर दीं। स्पष्ट है कि सुसमाचार लेखकों के मन में अपने समय (**युग**) के मतभेद **और विवाद** उपस्थित, समाए हुए थे। उनको अपनी ही इच्छानुसार सुलझा लिए जाने के मन्तव्य से उन्होंने जीसस के मुख से अपने मनचाहे शब्द, भाव कहलवा दिए। उदाहरण के लिए एम० के० १० : १२ में जहाँ उसने यह नियम कहा है कि यदि कोई महिला अपने पति से तलाक ले लेती है और दूसरे व्यक्ति से शादी कर लेती है तो वह व्यभिचारिणी हो जाती है। जीसस की कुछ धर्म-विधायी बातें कृस्ती-समुदाय की पूजा-पद्धति-विषयक आवश्यकताओं से निःसृत खोजी जा सकती हैं। एक स्पष्ट मामला भगवान् की प्रार्थना है—मार्क से गैरहाज़िर, लूके आदि द्वारा भिन्न रूप में प्रस्तुत तथा मैथ्यू द्वारा इस प्रकार विस्तारित की गई है कि वह सामुदायिक पूजा के लिए उपयुक्त, समीचीन बन गई है।

"मार्क ७ : १—२३ अवतरण में जीसस ने फरीसी, पाखंडी के खिलाफ एक तर्क प्राचीन विधान के यूनानी रूपान्तर पर आधारित किया है जबकि हिब्रू मूल में कुछ भिन्न बात कही गई है जो जीसस का पक्ष-समर्थन नहीं करती। यह अत्यन्त असम्भव लगता है कि एक फिलस्तीनी जीसस रूढ़िवादी यहूदियों को एक ऐसे तर्क के आधार पर परास्त कर दे जो उनके धर्मग्रंथ के भ्रष्ट-अनुवाद पर निर्भर हो। तथापि सम्पूर्ण प्रसंग पूर्णरूपेण समझ में आ सकता है यदि हम यह कल्पना कर लें कि इस प्रसंग की झूठी रचना मार्क के गैर-यहूदी ईसाई-समुदाय में कर ली गई थी जिसने सहज रूप में ही यूनानी भाषान्तर में प्राचीन विधान को पढ़ा था और अपनी स्वयं की समझ को जीसस की समझ कहलवा दिया था।"[1]

परवर्ती सिद्धान्तों और रीति-रिवाजों का श्रेय (जीसस-को) दे देने के इस कौतुक ने जीसस-जीवनचरित का निर्माण करने में पर्याप्त भूमिका

---

१. जी० बौर्नकम्म लिखित 'जीसस', पृष्ठ १८, आई० फ्रेज़र द्वारा अनूदित, लंदन, १९६०।

निभायी है। रूप-समीक्षा तक जीसस की जीवन-गाथा से धर्म-ग्रंथी सामग्री को भिन्न, पृथक् कर प्रतीत होती है।

जीसस को कई बार ईश्वर को अरेमाइक में 'अब्बा' के रूप में सम्बोधित करते निरूपित किया गया है। अन्य अवसर पर उसे 'अब्बा' के बाद 'पिता' अनुवाद जोड़ता बताया गया है। इन दोनों ही प्रसंगों में यह नहीं बताया जाता कि यह सम्बोधन करते हुए उसे किसने सुना था।

ईसाइयों को सुस्पष्ट, सुनिश्चित रूप में यह नहीं मालूम कि 'आमीन' (अमन) शब्द का अर्थ या महत्त्व क्या है। अनेक लोगों का विश्वास है कि किसी प्रार्थना या कर्मकाण्ड के अन्त में कहे जानेवाले इस 'आमीन' शब्द का अर्थ 'तथास्तु'—'ऐसा ही हो' है। यूरोप ईसाई शब्दकोश भी ऐसे झूठे स्पष्टीकरणों को लोक-प्रसिद्ध कर देने के लिए कुख्यात हैं। यूरोपीय कोशकारों ने बहुत घटिया और कच्चा काम किया है क्योंकि उनको अपने इतिहासकारों में अन्धा विश्वास था। उन सभी को यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व संस्कृति के मूल में हिन्दू-परम्पराएँ और संस्कृत भाषा ही है। 'आमीन' शब्द का अर्थ महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। फारसी भाषा में 'आमीन' का निहितार्थ शान्ति है जैसा कि 'अमनचैन' शब्द-युग्म से स्पष्ट है—अर्थात् शान्ति और चैन या सुख। वह 'अमन' (आमीन) शब्द अर्थात् 'शान्ति' सभी ईसाई कर्मकाण्डों के अन्त में उच्चारित होता है क्योंकि ईसाई-पूर्व यूरोप में हिन्दू-उच्चारण अवश्यम्भावी रूप से 'शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः' शब्दों से ही समाप्त होते थे। 'अमन' शब्द इसका फारसी समानक, समतुल्य है।

हैसलर के अनुसार, "'अमन' सूत्र प्रारम्भिक ईसाई-पैगम्बरों द्वारा उस समय प्रयोग में लाया गया शब्दों का रूप था जब उन्होंने उन उक्तियों को उपयोग में लाना चाहा जिनके बारे में उनकी कल्पना थी कि इनको प्रबुद्ध जीसस ने अलौकिक रूप से संप्रेषित किया था।"[1]

इस प्रकार 'अमन' शब्द बाइबल के पाठों में पहले और बाद में, दोनों

१. वी० हैसलर, ज्यूरिख और स्टटगार्ट, १९६९ लिखित 'अमन', पृष्ठ १८१-८३।

जगह आता प्रसिद्ध है। पूर्वकालिक हिन्दू-संस्कृति से ईसाई-परम्परा में इसके आ जाने और वहाँ अनिश्चित, दिग्भ्रमित, अ-बुद्धिगम्य प्रयोग का यह द्योतक है।

'अमन' शब्द के समान ही, जो संस्कृत शब्द 'शांतिः' का पश्चिम एशियाई पर्याय है, पवित्र हिन्दू पाठों का श्रीगणेश प्रारम्भ करने का द्योतक पवित्र संस्कृत 'ॐ' अक्षर भी कृस्ती (ईसाई) प्रार्थनाओं का भाग, अंश बना रहा। अंग्रेजी अनुवाद में "हे हमारे प्रभु, रक्षक" आदि उक्ति लैटिन भाषा में संस्कृत शब्द 'ओम'नस' से शुरू होती है। ये शब्द अभी भी लंदन में सेंट पॉल धर्मपीठ के अन्दर गिरजाघर की मेहराबों में बड़े आकारवाले स्पष्ट अक्षरों में रंग-रोगन (पेंट) किए हुए मिलते हैं।

कृस्ती (ईसाई)-पंथ के बिल्कुल प्रारम्भ से ही ईसाई नेतागण समय-समय पर विश्व के शीघ्र नष्ट हो जाने की आशंका को एक कौतुक के नाते प्रसारित-प्रचारित करते रहे हैं। इससे वे बड़ी संख्या में लोगों, भीड़ को एकत्र करने में जरूर सफल हुए—जीसस को अपना 'रक्षक' स्वीकार कर लो और 'मुक्ति' के हकदार बन जाओ। प्रोफेसर वैल्स ने लिखा है, "प्रारम्भिक कृस्ती पैगम्बरों ने अपनी ही बुद्धि अनुसार विश्व के अन्त की घोषणा कर दी।"[1] उसने यह भी आगे कहा है, "धर्मग्रंथों में वर्णित घटनाएँ साक्षियों, प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा लिखित होने या उन्हीं द्वारा अन्य लोगों को बताए जाने के बाद लिखी गई परम्परागत विचारधारा को आज लगभग सभी लोगों ने त्याग दिया, अस्वीकार कर दिया है।"

एफ० सी० ग्राण्ट के अनुसार, "ईसाई-धर्मग्रंथों के लेखक पूरी तरह अज्ञात हैं, चर्च में पढ़ने के लिए धर्मग्रंथ व अन्य रचनाएँ सर्वप्रथम बिना शीर्षकों के ही रहीं तथा शीर्षकों की आपूर्ति तब की जाने लगी जब ईसाई-समुदाय को कई धर्मग्रंथ प्राप्त होने लगे व उनमें भिन्नता लक्षित करने की जरूरत होने लगी। गिरजे का कानून धर्म-संग्रह की सामग्री एक ग्रंथ की संख्या सीमित रखने में असफल रहा था क्योंकि कुछ प्रभावशाली समुदायों ने पर्याप्त कालावधि तक मात्र एक ही तथा अन्य लोगों ने कोई अन्य धर्म-

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ७६।

ग्रंथों को उपयोग में लिया था।"[1]

विश्वास किया जाता है कि मैथ्यू (धर्म-विधान) फिलस्तीन में व्यापक रूप से पढ़ा जाता था, लघु एशिया (एशिया माइनर) में कई गिरजाघरों में केवल जोह्न (धर्म-विधान) का प्रयोग होता था; मिस्र में मिस्रियों का गैर-कानूनसम्मत धर्म-विधान ही वैध स्वीकृत किया जाता था।

शीर्षकों का चुनाव मनमाने ढंग से, अव्यवस्थित रूप से किया गया है। 'मार्क' व्युत्पन्न है 'मेरे पुत्र मार्क' से "जिसका उल्लेख उस 'पीटर धर्म-प्रचारक' के घनिष्ठ सहयोगी के रूप में किया जाता है जो प्रथम पीटर (१ : १ और ५—१३) के रचनाकार के नाते स्वयं को प्रस्तुत करता है। प्रथम शताब्दी के अन्तिम उत्तरार्द्ध अथवा प्रारम्भिक द्वितीय शताब्दी की यह धर्म-पत्रावली जो पॉल की धर्म-विज्ञानी विचारधारा से प्रभावित है, आधिकारिक पॉलकालीन वातावरण की सृष्टि करने के लिए पॉल के पत्रों से परिचित व्यक्तित्व के रूप में मार्क का परिचय प्रस्तुत करती है। तथापि, पीटर को यश-प्रदत्त एक रचना में मार्क के बारे में यह उल्लेख ही था जिसने इस परम्परा को जन्म दिया कि मार्क की रचना मार्क द्वारा की गई थी जिसने पीटर की उच्चारित स्मृतियों को अंकित किया था।"[2]

जब तक धर्म-पत्रों (ग्रन्थों) के मूल की सावधानीपूर्वक जाँच-पड़ताल नहीं की गई थी तभी तक इसी पर आग्रह था या माना जाता था कि धर्म-ग्रन्थ एक ही प्रकार की समान रचनाएँ थीं क्योंकि इसके लेखकों को अपनी सारी जानकारी पीटर से प्राप्त हुई थी जो प्रत्यक्षदर्शी के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

"शीर्षक और लेखक के बारे में पसन्द कितनी कल्पनाशील हो सकती है—तीसरे धर्मग्रन्थ में समान रूप से चरितार्थ होता है। द्वितीय शताब्दी के गिरजाघर ने इस तथ्य की जानकारी होने पर कि लेखक ने 'पट्ट-शिष्यों (धर्म-प्रचारकों) के कार्य' (ऐक्ट्स ऑफ अपोस्सल्स) नाम से अब ज्ञात पुस्तक

---

१. प्रोफेसर एफ० सी० ग्राण्ट रचित 'दि गौसपल्स, देयर ओरिजिन एंड ग्रोथ', लंदन, १९५७।

२. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ७७।

की रचना भी की थी, पर्यवेक्षण किया था कि 'ऐक्ट्स' में से कुछ उद्धरण पॉल और उसके साथियों से सन्दर्भ रखते हैं जैसे 'हमें और हमको' और उस आधार पर (पॉल के साथी के रूप में दो धर्म-पत्रावलियों में उल्लेखित) लूके को रचयिता चुन लिया। चौथा धर्मग्रन्थ अनाम है। पोप-प्रथा ईसाई-विधि में प्रथम धर्म-विधान को मैथ्यू के नाम श्रेयांकित करने की उत्तरदायी है, जिसका अर्थ सम्भवतः यह है कि बारह की सभी संक्षिप्त सूचियों में मैथ्यू का उल्लेख है। किन्तु मैथ्यू की 'गैर-अनुयायी की यूनानी धर्म-पुस्तिका' मार्क पर निर्भरता अनेक विचार-बिन्दुओं में से मात्र एक है जो इसे पूरी तरह असम्भव बनाते हैं।"[१]

'मार्क भी आज किसी पूर्वकालिक परम्परा का संपादक माना जाता है। उसने ७ : ३१ में फिलस्तीनी भूगोल के बारे में अज्ञान प्रदर्शित किया है यद्यपि कहा जाता है कि उसने वहीं निवास (भी) किया था।

प्रोफेसर वैल्स (क्रुस्ती-पूर्व) पूर्वकालिक स्रोतों की ओर संकेत करते हुए जरुस्लम मन्दिर में ५,००० और ४,००० लोगों के दो चमत्कारी भोजन-समारोहों का उल्लेख करते हैं। इनमें से, उनका कहना है, ५,००० की कहानी स्पष्टतः मार्क-पूर्व की है। उक्त बाद की कहानी में अनुयायियों का निश्चित मत है कि किसी वीरान स्थान पर हजारों लोगों को भोजन करा पाना एकदम असम्भव था।[२]

हजारों लोगों को भोजन कराने की यह परम्परा स्पष्टतः हिन्दुओं की परम्परा ही है। केवल हिन्दू-मन्दिर ही ऐसे सामूहिक भोजों और सामुदायिक प्रीति-भोजों के स्थल होते हैं। यह इस बात का एक अन्य प्रमाण है कि पश्चिमी एशियाई क्षेत्र में स्थित मन्दिर भगवान् कृष्ण और भगवान् शिव जैसे हिन्दू देवताओं के ही थे। इसी के साथ-साथ, पांडव-भ्राताओं की पत्नी द्रौपदी के बिन बुलाए (सहस्रों) अतिथियों को वन में ही अति विचित्र चमत्कारी रूप से भोजन करा देने की कथा भी तो भगवान् श्रीकृष्ण ही से जुड़ी हुई है।

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ ७७।

२. वही, पृष्ठ ७१।

जरुस्लम में स्थित मन्दिर भगवान् कृष्ण का ही मन्दिर था। तथ्यतः, जैसा हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, नगर का स्वयं नाम (जरुस्लम=यरुशलयम=यदु—ईश—आलयम्) भगवान् श्रीकृष्ण से व्युत्पन्न है। उक्त मन्दिर ईसवी सन् ७० में नष्ट हो गया था। फिर भी ईसवी सन् ७० के बाद लिखे गए ईसाई-धर्म-पत्रों में उक्त विनाश का वर्णन भविष्यकालीन क्रिया-पद में है मानो जीसस ने कोई भविष्यवाणी कर दी हो। अध्याय १३ का प्रारम्भ एक शिष्य द्वारा जीसस के प्रति इस सम्बोधन से होता है, "प्रभु देखिए ! कितने आश्चर्यजनक पत्थर हैं और भवन कितने विचित्र।" इसके उत्तर में जीसस का कथन है, "इन भव्य भवनों को तुम देखते हो न ! यहाँ का एक-एक पत्थर तोड़ फेंका जाएगा।"

ऐसे वाक्यों को एक काल्पनिक जीसस के मुख से उच्चारित कराकर उसको दूर-दृष्टा समान प्रस्तुत करना यद्यपि इन घटनाओं का सम्बन्ध पूर्वकाल से था—वे पहले ही हो चुकी थीं—जीसस को पूर्वदिनांकित करना प्रारम्भिक क्रुस्ती नेताओं की अपने प्रकल्पित देवदूत की असीम शक्तियों से विश्व को प्रभावित करने की एक अन्य बाजीगरी-चेष्टा ही है।

एक अन्य बात जो उन लोगों ने छुपा दी है या दबाकर रखी है, वह है आराध्य-देव का नाम। मन्दिर की सार्थकता आराध्य-देव, विराजमान देव के उल्लेख से ही होती है। अधिष्ठाता देव का नामोल्लेख किये बिना ही मन्दिर का चलते-चलते संकेत करना जान-बूझकर किया गया अनाचरण है। किन्तु हम इससे पूर्व जैसा कह चुके हैं, इस तथ्य के कई संकेतक हैं कि वहाँ के आराध्यदेव भगवान् कृष्ण ही थे। क्रुस्त (क्राइस्ट) तो उस नाम का भिन्न उच्चारण मात्र है।

प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि गलीली में भी रहनेवाले फिलस्तीनी यहूदियों के लिए यह मन्दिर एक सुपरिचित स्थल था क्योंकि वहाँ वर्ष-भर उत्सवों के लिए जाते रहना उनकी प्रथा ही थी। अतः उनमें से एक व्यक्ति द्वारा उक्त मन्दिर को देखकर ऐसे कहलवाना, मानो वह इसे पहली बार ही देख रहा हो, निपट मूढ़ता, अति भोला-भालापन ही है। इससे यह तथ्य भी झूठा हो जाता है कि मार्क यूनान में रहता था और उसने यहूदियों के लिए लिखा था।

पद्य मार्क १४ नगर के ईसवी सन् ७० के आसपास विध्वंस दिए जाने के बारे में एक और सन्दर्भ प्रस्तुत करता है, "जब तुम इस भावुकताशून्य, धर्मविरोधी निर्माण को स्थित देखते हो जो यहां नहीं होना चाहिए था, तब जुदिया में रहनेवाले सब लोगों को पहाड़ों पर भाग जाने दो।" यद्यपि यह भी घटना हो चुकने के बाद लिखी गई है तथापि इसे भी भावी कथन, भविष्यवाणी के रूप में ही वर्णित किया गया है। इन्हीं ढंगों, उपायों से भोले-भाले व्यक्तियों को कृस्ती-पंथ में शामिल हो जाने के लिए फुसलाया, प्रलोभित किया गया था। कुछ भी हो, सामान्य, साधारण आदमी विश्वासी प्राणी होता है। वह बताई गई बात में विश्वास करता है और उसमें परख हेतु किसी प्रकार की खोजबीन करने की रुचि, सहज वृत्ति नहीं होती, विशेषकर धार्मिक और अतिसूक्ष्म अभौतिक पदार्थों के बारे में।

डेनियल की पुस्तक (११ : ३१) में एक गैर-ईसाई उपासनालय की ओर संकेत किया गया है जिसे सीरियाई सेल्यूसिड शासक एंटियोकस एपीफेन्स ने ईसवी सन् पूर्व १६८ में एक अग्निकाण्ड में स्वाहा हुए पूजा-स्थल पर मन्दिर में बनवाया था।

प्रोफेसर वैल्स का निश्चित मत है कि, "यह रचनाकार एंटियोकस का समकालीन था किन्तु शताब्दियों पूर्व जन्मा होने का तथा उस शासनकाल की घटनाओं के बारे में भविष्य-कथन कर देने का दिखावा, ढोंग करता है।"[१]

ईसवी-पूर्व १६८ में पुनर्निर्मित गैर-ईसाई उपासनालय अविस्मरणीय प्राचीनतावाला एक अतिप्राचीन, पुरातन हिन्दू मन्दिर था।

यह विस्मयकारी विदग्धतापूर्ण आश्चर्य ही है कि किस प्रकार हिन्दू भगवान् कृष्ण के सभी—रोमन, मुस्लिम, यहूदी व कृस्ती अनुयायी होने पर भी—लोगों ने अपने संरक्षक प्राचीन आराध्यदेव के बारे में समान और रहस्यमयी चुप्पी साध रखी है।

हमें इस बारे में कोई शंका, सन्देह नहीं है कि जरुस्लम, वेथलेहम, नज़ारथ आदि स्थानों के मन्दिरों में प्राचीन पुरातत्त्वीय अवशेषों में

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ८१।

भगवान् कृष्ण की प्राचीन मूर्तियों के कुछ-न-कुछ टुकड़े अवश्य होंगे। इनको छुपाए रखने का क्या कोई गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया हुआ है? सीरियाई-फिलस्तीनी क्षेत्र में उस समय विद्यमान हिन्दू-मूर्तियों के बारे में सभी तरह की जानकारी को दबाकर रखने में शायद सभी मूर्तिभंजकों का निहित स्वार्थ था। सीरिया स्वयं संस्कृत शब्द 'सुर' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ देवता है। 'असुर' अर्थात् असीरियन भी उसी समुदाय से पृथक् हुए एक समूह का नाम था। भगवान् कृष्ण ने असुरों (विपक्षियों) पर विजय प्राप्त कर ली जिससे उस क्षेत्र के निवासियों ने कृष्ण-उपासना के एक महान् केन्द्र के रूप में 'यदु-ईश-आलयम्' (यरु-ईश-आलयम् = जरुस्लम) नगर की स्थापना की थी। 'ईश्वरालय' (संक्षिप्त रूप—इस्रायल) और 'ईश-आलयम्' (इस्लाम) शब्द इस बात के स्पष्ट संकेतक हैं कि उनका सामान्य आराध्य-देव, कृस्ती-पंथ उपासकों के समान ही भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

बाइबल में कई परस्पर-विरोधी कथन हैं। उदाहरण के लिए, मार्क संस्करण में एक स्थान पर यह उल्लेख है कि विश्व का अन्त सुलक्षित, सुनिश्चित लक्षणों द्वारा घोषित हो जाएगा जबकि एक अन्य स्थान पर जीसस से कहलवाया गया है कि इस (सुनिश्चित विश्व-अन्त) का पता आदमियों को अचानक ही आश्चर्य में डाल देगा। तथापि, वास्तव में न तो विश्व का अन्त ही हुआ है और न ही इसके ऐसे कोई लक्षण अभी तक सम्मुख आए हैं।

माक्काबिआस-संस्करण जिसने एक ऐतिहासिक एपीफेन्स (१७५-१६४ ईसा-पूर्व) प्रदान किया, हमें बताता है कि भावशून्य धर्मविरोधी निर्माण पूजा-स्थल पर स्थापित किया गया था, कि गैर-ईसाई उपासनालय जुदिया के सभी नगरों में बनाए गए थे और वहाँ राजा के आदेशानुसार भेंट न चढ़ाने पर मृत्यु-दण्ड का विधान था। इससे बचने का एकमेव उपाय पर्वतों पर भाग जाना था (२ : २८)। वास्तव में कोई विवशता न थी। जुदिया के लोग कृष्ण के अटूट-निष्ठ उपासक थे। किन्तु चूँकि प्रारम्भिक ईसाई नेतागण एक भिन्न पंथ स्थापित करना चाहते थे जिसे मार्क ने कल्पना की कि यह एक रोमन सम्राट् द्वारा ईसाइयों पर गैर-ईसाई पूजा-पद्धति

लादने का भावी प्रयास था, जैसा एंटियोकस ने अपनी प्रजा पर बलात् किया गया कहा गया था; इस कारण वह कई बार (१४ : ८) बेबिलोन का उल्लेख करता है यद्यपि उसका आशय रोम से है। "पाठक को स्वयं समझने दो" के संकेत शब्द का मूल आशय था कि "जब तैयारियाँ पूरी हो जाएँ।"

यह कथन कि सम्पूर्ण जुदिया-क्षेत्र में गैर-ईसाई उपासनालय थे, हिन्दुत्व के पश्चिम एशिया में और जुदिया से भगवान् कृष्ण के यदु-वंश से व्युत्पन्न होने के प्रबल महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। 'विधर्मी' और 'गैर-ईसाई' कृस्ती-शब्दावली की रचना घृणा और निन्दा के उद्देश्य से की गई थी जिससे लोगों को पूर्वकालिक आस्था नष्ट करने और कृस्ती-पंथ अंगीकार करने के लिए प्रेरित किया जा सके। छः सौ वर्ष बाद दूसरे धर्मान्ध-पंथ ने भी यही हथकण्डे अपनाए थे जब मुस्लिम लोगों ने 'काफ़िर' शब्द की सृष्टि इस उद्देश्य से कर ली थी कि इस्लाम के सम्मुख मस्तक नत न करनेवाले का सिर फोड़ दिया जाए। यह वह पाठ है जो युद्ध-नेताओं को कृस्ती-पंथ और इस्लाम से सीखना चाहिए—एक घृणास्पद शब्द गढ़ लो और अपने विरोधियों के सिर फोड़ने के लिए उनके विरुद्ध लगातार उनका प्रयोग करते रहो। जहरीली भर्त्सना सहित ऐसे नर-संहार शीघ्र ही ऐसा घृणित चक्र बन जाएगा कि इसका शिकार समुदाय अपने स्वयं के मूल नाम से ही शर्मिन्दगी अनुभव करने लगेगा और इससे छुटकारा पाना चाहेगा या इसे छुपाना पसन्द करेगा। यही कुछ हिन्दुओं के साथ घटित हुआ है। यदि हिन्दुत्व को पुनः उठना है तो जैसा भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था, उसी के अनुरूप इसे स्वयं को ऐसी अद्वितीय, सर्वोच्च सामर्थ्य के साथ विकसित करना होगा कि यह सभी पापियों से सख्ती से और शीघ्र निपट सके।

मार्क-संस्करण के १३ : ३० में जीसस से कहलवाया है कि "यह पीढ़ी विश्व का अन्त देखने तक ही जीवित रहेगी।" तब से १९०० वर्ष हो चुके हैं, अनेक पीढ़ियाँ आ और जा चुकी हैं तथा विश्व आज भी सदा की भाँति मजबूत और जीवन्त बना हुआ है।

चूँकि यहूदी लोग जीसस को उसकी प्रतिज्ञा के अनुरूप मसीहा स्वीकार नहीं कर रहे थे, इसलिए प्रारम्भिक कृस्ती नेताओं ने एक दृष्टान्त, नीति-कथा का आविष्कार कर लिया जिसमें जीसस यहूदी अधिकारियों से कहते

बताये गए हैं कि मैं ही मसीहा हूँ। उसने उच्च धर्मगुरुओं से कहा, "मैं (मसीहा) हूँ और तुम इस मानस-पुत्र को शक्ति, सत्ता के दाएँ हाथ पर बैठे देखोगे और वह स्वर्ग के बादलों से आता दिखाई देगा।" फिर उच्च पुरोहित (पादरी) ने उसकी वेशभूषा फाड़ दी और कहा, "तुमने उसकी ईश-निन्दा सुन ली है।" (१४ : ६२-४)

अनेक विद्वानों का कहना है कि जीसस द्वारा कहे गए इन शब्दों में किसी भी प्रकार की कोई ईश-निन्दा नहीं है।

जोह्न की कृस्ती धर्म-पुस्तिका, जो अन्य तीन व्यक्तियों के बाद लिखी गई विश्वास की जाती है, अन्य पुस्तिकाओं से बहुत ज्यादा भिन्न, पृथक् है।

वह प्रसंग, जिसमें कल्पना की गई है कि मेरी ने जीसस के चरणों पर मरहम की बहुत ज्यादा मात्रा—एक पौंड—उँडेल दी थी, स्पष्टतः अवास्तविक है।[1]

प्रोफेसर वैल्स के अनुसार उक्त चारों धर्म-पुस्तिकाओं (कृस्त-पंथी) में से नवीनतम ईसवी सन् १२५ में मौजूद थी और उनमें से सबसे पहली पुस्तिका ईसवी सन् ७० और इस तारीख के मध्य लिखी गई थी। सबसे पहली रचना (अर्थात् मार्क-धर्म-पुस्तिका) और जोह्न (नवीनतम)-पुस्तिका के मध्य सम्भवतः अधिक समय नहीं बीता था क्योंकि जोह्न को अन्य तीनों का ज्ञान, पता ही नहीं है; रोम का क्लीमैण्ट (लगभग १७ ईसा-पश्चात्) किसी लिखित कृस्त-पंथी धर्म-पुस्तिका की चर्चा ही नहीं करता।

जीसस के बारे में पॉल के विचार, दृष्टिकोण मार्क के दृष्टिकोण से बिल्कुल अलग हैं चाहे मार्क पॉल के बाद ही हुआ था। पॉल का जीसस एक अलौकिक व्यक्ति है जो मानव-रूप धारण करता है किन्तु उसे दुष्ट अलौकिक शक्तियों के उकसाने पर इस धरती पर सूली-दण्ड दे दिया जाता है। यह तथ्य सन्तोषजनक रूप से निश्चित धारणा बन जाने पर कि जीसस ने इस पृथ्वी पर अज्ञान, अस्पष्ट जीवन व्यतीत किया था, पॉल ने उसे सूली-दण्ड दिए जाने के स्थान और समय के बारे में कोई विवरण दिया ही नहीं है। पॉल जोर देकर कहते हैं कि जीसस का जन्म एक महिला-गर्भ से ही हुआ था,

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ ९२।

जो कानून-सम्मत ही था (गैल० : ४)। पॉल यह नहीं जानते कि जीसस के मानवी-शत्रु कौन थे और उन्होंने किस प्रकार उसे सूली-दण्ड पर, चढ़ा दिया था।

जीसस को सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती थी जैसा प्रायः जोर दिया जाता है क्योंकि कभी किसी को पता ही नहीं पड़ पाया कि वह कौन था या उसकी भूमिका क्या थी।

पॉल ने नए (कृस्ती) पंथ की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए पूरा आधार जीसस की कल्पित शर्म, अपमान और पीड़ा को ही बनाया। किन्तु हम आश्चर्य करते हैं कि इसको समर्थन कैसे प्राप्त हुआ। कदाचित् यह उस कहावत की सत्यता ही प्रदर्शित करता है कि सफलता ही सर्वपूज्य है। क्योंकि जीसस की शर्म, अपमान और पीड़ा केवल एक आविष्कार, कल्पना ही है जैसा हम इस पुस्तक में सिद्ध कर चुके हैं, आज भी विश्व में अनेक लोग रोजाना शर्म, अपमान और पीड़ा से ही मर रहे हैं। किन्तु क्या किसी ईश-पुत्र होने के ये विशेष लक्षण हैं? तथ्य रूप में तो एक देव-पुत्र को इसका बिल्कुल विपरीत, उलटा ही होना चाहिए। उसे अत्यन्त यशस्वी और प्रतिष्ठित रूप में पूर्ण कालोपभोग करके जीवन पूर्ण करनेवाला होना चाहिए।

तथ्यतः, धर्म-पुस्तिकाएँ तो जीसस का जीवन सत्ता-शक्ति, वाक्पटुता और बुद्धिमत्ता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती हैं। लेकिन उनके साग्रह-कथनों का कोई आधार नहीं है। पॉल द्वारा निरूपित जीसस धर्म-पुस्तिकाओं द्वारा प्रस्तुत जीसस से बिल्कुल संगत नहीं बैठता। धर्म-पुस्तिकाएँ पॉल की इस धारणा को बिल्कुल काट देती हैं कि वे दुष्ट आत्माएँ ही थीं जिन्होंने स्पष्टतः जीसस की सच्ची शान और उसके श्रेष्ठ स्तर को समझ, मान्य कर पाया था (मार्क १ : २४ और ३४)।[1]

पहली शताब्दी में विभिन्न सन्तों द्वारा यह दावा करना आम, सहज बात थी कि, "मैं ईश्वर हूँ" या "मैं ईश्वर-पुत्र हूँ" या "मैं ईश्वर का प्रति-

---

१. मोर्टन स्मिथ लिखित 'अरेटोलोजीस, डिवाइन मैन, गौसपल्स एण्ड जीसस', पृष्ठ १८०।

निधि हूँ" या "मैं दिव्य आत्मा हूँ"···आदि।

कृस्ती धर्म-पुस्तिकाओं के रचनाकारों को यह शीघ्र अनुभव होने लगा कि एक दुर्बल, दीन-हीन, अस्पष्ट जीसस पैगम्बर के रूप में तब तक स्वीकार्य, श्रद्धेय न हो पाएगा जब तक कि वे उसे कुछ चमत्कारी रूप प्रदान न कर दें। "मार्क की सर्वाधिक प्रधान चारित्रिक विशिष्टता दोनों परस्पर-विरोधी परम्पराओं को सम्मिश्रित करने का इसका यही प्रयास है।"[1]

उसके उपदेशों, उसकी शिक्षाओं पर भारी जोर दिया जाता है—श्री वैल्स का कहना है—किन्तु धर्म-पुस्तिकाएँ कहती ही नहीं कि उसकी शिक्षा क्या थी। उसने अन्तिम अध्यायों में कुछ चमत्कार किए हैं, भीड़ की बजाय कुछ शिष्यों को सम्बोधित किया है और अन्त में वे भी उसका साथ छोड़ देते हैं। अपनी मृत्यु के समय वह नितान्त एकाकी होता है। विश्वास किया जाता है कि उसने असहाय, असह्य पीड़ा में उच्चारित किया था, "मेरे ईश्वर, तूने मेरा परित्याग क्यों कर दिया है?" किन्तु, लूके ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

उसके घनिष्ठतम अनुयायी भी जीसस के मसीही-स्तर को नहीं जानते, जो उसके चारों ओर भारी भीड़ लगाए रहते थे तब उन सामान्य आदमियों को तो पता ही क्या होता।

जीसस के चमत्कार सार्वजनिक समझे जाते थे किन्तु कहते हैं कि उसने स्वयं ही हिदायत दे रखी थी कि उन चमत्कारों को गुप्त ही रखा जाए। प्रोफेसर वैल्स इसको इस प्रकार घोषित करते हैं: "सम्पूर्ण धर्म-साहित्य को अनुशासित करने वाला यह एक कृत्रिम, बनावटी और सैद्धान्तिक कारण है और एक ऐसा लक्षण है जो प्रदर्शित करता है कि यह रचना एक सीधा-सादा और घटनाओं का इतिहास समान अभिलेख नहीं है जिसे ज्यों-का-त्यों मान लिया जाए···यह तो प्रारम्भिक क्रिश्चियनिटी (कृस्ती-पंथ) की असंगत कृस्ती बातों को (बनावटी, जाली तौर पर) संयोगात्मक रूप देने का···ढंग, उपकरण था।"

ऐसे संश्लेषणों-सम्बन्धी सुसमाचार लेखकों के प्रयासों के बावजूद बहु-

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट?', पृष्ठ १०१।

संख्या में विसंगतियाँ रह जानी जरूरी ही थीं। उदाहरण के लिए, अपने नित्य अभ्यास के विपरीत जीसस ने जिस व्यक्ति का उपचार कर दिया था उसको जब इसी तथ्य की घोषणा करने का आदेश दिया तब उसने पाखंडियों को 'स्वर्ग से कोई संकेत' देने की उद्घोषणा करने को पूरी तरह तिरस्कृत कर दिया (२ : १९), यह कहते हुए कि "इस पीढ़ी को कोई संकेत नहीं दिया जाएगा" (८ : १२), जबकि अन्य कथानकों, प्रसंगों में वह उन्हीं लोगों की आँखों के सामने ही अनेक चमत्कार कर देता है।

श्वित्ज़र कहते हैं, "मार्क ने जब लेखन-कार्य किया, तब जीसस केवल एक नाम ही था और मोक्ष, मुक्ति का सन्देश भी हो सकता है हर्मेस या एट्टिस या अन्य मुक्तिदाता से ही सम्बन्धित हो।"[1]

प्रोफेसर श्वित्ज़र यह निष्कर्ष निकालने में बिल्कुल सही हैं कि जीसस को जिस मोक्ष-सन्देश का यश, श्रेय दिया जाता है वह पहले के ही किसी संरक्षक, मुक्तिदाता से सम्बन्धित था। किन्तु श्वित्ज़र ने भी उसी अज्ञान को प्रदर्शित किया है जो अन्य विद्वानों ने प्रदर्शित किया है। हमें आश्चर्य होता है कि अनेक संकेतों, सूत्रों के होते हुए भी विश्व का विद्वत्समाज किस प्रकार अंग्रेजी 'सेवियर' शब्द (दिव्यता का अर्थ-द्योतक) संस्कृत शब्द 'ईश्वर' है जो भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित है और उनका मुक्ति-सन्देश विश्वप्रसिद्ध हिन्दू धर्मग्रन्थ भगवद्गीता में सँजोया हुआ है।

जीसस क्राइस्ट कृष्ण से भिन्न कोई व्यक्ति नहीं है—इस तथ्य की पुष्टि इस कथन से भी हो जाती है कि किसी स्वर्ग (आकाश) की वाणी ने एक 'पुत्र' के रूप में जीसस को सम्बोधित, घोषित किया था (१ : ११ और ९ : ७)। हिन्दुओं की कृष्ण-कथा में मथुरा का राजा कंस भी इसी प्रकार आकाशवाणी द्वारा सावधान किया गया था कि उसकी बहन देवकी से उत्पन्न होने वाला 'पुत्र' ईश्वर का अवतार होगा जो कंस का वध करेगा।

परीक्षा, प्रलोभन सम्बन्धी मार्क के निरूपण में कहा गया है कि जीसस द्वारा दीक्षा-ग्रहण सम्पन्न करने के तुरन्त बाद आत्मा उसको एकाकी अवस्था

---

१. श्वित्ज़र लिखित : 'मार्क्स कंट्रीब्यूशन टु दि क्वैस्ट ऑफ़ हिस्टॉरिकल जीसस', पृष्ठ ४२१।

में ले गई जहाँ वह शैतान से प्रलोभित होकर ४० दिन तक रहा। उस अवधि में जीसस जंगली जानवरों के साथ रहा और देवदूतों ने उसकी सेवा की (१ : १२-१३)। मार्क ने यह नहीं बताया कि प्रलोभन क्या था? उसने तथाकथित उपवास या भूख का नाम भी नहीं लिया जिसका उल्लेख मैथ्यू और लूके के परवर्ती वर्णनों में किया गया है।

सापेक्ष, कल्पित दस्तावेज 'क्यू' जो मार्क पर लेशमात्र भी निर्भर नहीं है, जीसस को बपतिस्मा-दाता जोह्न से सम्बद्ध कर जीसस के जीवन को प्रथम शताब्दी के फिलस्तीन में नियत कर देता है किन्तु यह पीलेट का कोई उल्लेख नहीं करता और न ही दया, अनुकम्पा और सूली-दण्ड का रचना-मात्र संकेत देता है। यह जीसस को एक महान् चमत्कारी व्यक्ति के रूप में भी निरूपित न कर उसे एक अस्पष्ट और अस्वीकृत अमान्य प्रचारक ही प्रस्तुत करता है। उसे उसके अपने ही अनुयायी त्याग देते हैं और उसकी यातनाओं, पीड़ाओं में कोई क्षतिपूर्तिकारी शक्ति नहीं है।

मार्क १३ : १८ अंश में जीसस अपने शिष्यों को प्रार्थना करने को कहते हैं ताकि अन्तिम दिनों के कष्टों में उनकी उड़ान शीत दिनों में न हो। इसी के साथ मैथ्यू ने (२४ : २० में) 'या सब्बाथ के दिन' जोड़ दिया है, जो उसके यहूदी-मूलक होने के विपरीत है।

नव-विधान में यहूदी सामग्री के पक्ष और विपक्ष का मिश्रण है जैसे जब सुझाव दिया जाता है कि कृस्ती धर्म-प्रचार केवल इस्रायल तक ही सीमित रखा जाए (१० : २३) जबकि अन्य स्थानों में बाइबल में विश्वव्यापी धर्म-प्रचार, प्रसार का पक्ष-समर्थन किया गया है।

डेविड स्वयं ही जीसस को भगवान्, प्रभु सम्बोधित करता है, इसलिए जीसस किस प्रकार डेविड का पुत्र हो सकता था (मार्क १२ : ३५-७)? किन्तु मैथ्यू और लूके ने वंशावलियों से मार्कन-सामग्री में अभिवृद्धि की है जो जीसस को डेविड-वंश का बताती हैं और ऐसी कहानियाँ भी प्रस्तुत की हैं जिनमें जीसस का जन्म बेथलेहम में होना बताया गया है।

मैथ्यू (६ : २७) में दो अन्धे व्यक्ति अभिव्यक्ति करते हैं, "हे डेविड-पुत्र, हमारे ऊपर दया करो।" जरुस्लम में, गीत ११० : १ के बारे में विचार-विमर्श में स्वयं जीसस (के मुख) से भी 'डेविड-पुत्र' उक्ति कहलाई गई है।

किन्तु जोह्न जीसस का डेविड-मूल तनिक भी स्वीकार करता मालूम नहीं पड़ता।

१२ शिष्यों को प्रायः जीसस की ऐतिहासिकता को आश्वस्त करने-वाला, गारन्टी देनेवाला समझा जाता है किन्तु उनके नाम के अतिरिक्त उनके बारे में अन्य कुछ ज्ञात ही नहीं है, और उन नामों के बारे में भी सभी एकमत नहीं हैं। मार्क और मैथ्यू में नामों की सूची भी मूल पाठ में अत्यन्त भोंड़ेपन से ठूँस दी गई है। वह १२ की संख्या, अतः सूर्य भगवान् के १२ नामों की हिन्दू-परम्परा और इस्रायल की १२ जातियों पर आधारित है।

सहदर्शी में पीटर, जेम्स और जोह्न जीसस के सर्वाधिक अन्तरंग शिष्य हैं किन्तु चौथी धर्म-पुस्तिका में पीटर की भूमिका अत्यन्त कम है जबकि जेम्स और जोह्न का तो उल्लेख भी नहीं किया गया है।

सामान्य रूप में 'पत्थर' का अर्थद्योतक 'पीटर' संस्कृत का 'प्रस्तर' शब्द है। 'जोह्न' नाम (युवा व्यक्ति का अर्थद्योतक) संस्कृत 'युवन' शब्द है और 'जेम्स' संस्कृत येम्स = यम, हिन्दू मृत्यु-देव है। दूसरी ओर, चौथी धर्म-पुस्तिका में उन लोगों को शिष्य बनाया गया है जिनका नामोल्लेख सहदर्शी में नहीं है।

'शिष्य' शब्दावली सर्वप्रथम २ : १५ में प्रयुक्त हुई है जहाँ जीसस "शिष्यों के साथ मेज पर हैं जो उनका अनुसरण करनेवाले लोगों में से कुछ ही हैं" किन्तु ३ : ७ में शिष्यों को भारी संख्या में समझा, माना जाता है। ३२ से ३४ पद्यों में जीसस को एक भीड़ में बैठा वर्णित किया गया है जिससे उसने केवल दृष्टान्तों, नीति-कथाओं में ही बातचीत की थी।

मार्क अत्यन्त भद्दे ढंग से उल्लेख करता है कि जीसस के १२ शिष्य उन लोगों में से थे जो हमेशा उसके चारों ओर भीड़ लगाए रहते थे।

इस रूढ़िगत धारणा की पुष्टि तो चरितों में चर्च के अपने पूर्वकालिक ऐतिहासिक वर्णनों द्वारा भी नहीं होती कि जीसस के पुनर्जीवित हो जाने के बाद इन १२ शिष्यों ने एक निर्णायक प्रभाव छोड़ा था। वे तो अति शीघ्रता से उक्त कथ्य से ओझल हो जाते हैं। पूरी पुस्तिका में उनमें से एक अर्थात् पीटर मात्र के बारे में ही जानकारी दी गई है। वही एकमात्र व्यक्ति था जिसके बारे में कृस्ती-समुदाय में कहानियाँ प्रसारित हो रही थीं जिनसे लेखक कुछ

निष्कर्ष निकाल सकते थे। श्री वैल्स कहते हैं कि वे संख्या में आधे दर्जन से अधिक नहीं हैं तथा वे भी चमत्कारी उपचार की तथा मृतक के पुनः जीवित उठ खड़े होने की गप-शप कहानियाँ हैं। स्वयं पीटर भी अध्याय १५ के बाद दृष्टिगत नहीं होता जबकि उस समय तक १२ शिष्य चर्च के नेतृत्व में 'वरिष्ठों' और जेम्स नामक एक व्यक्ति के साथ भागीदार होने लगे थे जिसका व्यक्तित्व किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं किया गया है।

इससे प्रोफेसर वैल्स ने सही निष्कर्ष निकाला है कि, "चरितों के लेखक ने इन १२ शिष्यों के महत्त्व पर ज़ोर इस कारण नहीं दिया है कि जिन ऐतिहासिक अभिलेखों का वह उपयोग कर रहा है उनमें वे कोई प्रमुख स्थान रखते थे बल्कि इसलिए कि इस प्रकार का आग्रही-कथन उसके धार्मिक प्रयोजन, उद्देश्य से सटीक बैठता था—यह उद्देश्य इस धरती पर जीसस के जीवनसाथी रहे या उसके आखिरी शिष्य रहे और ऐसे लोगों के अधीनस्थ व्यक्तियों के परमाधिकार के रूप में सत्य कृस्ती-धर्म-घोषणा के नाते प्रस्तुत कर अपने विधर्मियों को चुप करना था।"[1]

इस प्रकार न तो धर्मग्रन्थों में ही और न ही चरित-पुस्तकों में कोई विश्वसनीय साक्ष्य, प्रमाण है कि जीसस के कोई १२ प्रिय या प्रमुख, प्रसिद्धि-प्राप्त शिष्य थे।

पॉल जरुस्लम में एक कृस्ती नेता और प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सेफस को जानता था। यह महत्त्वपूर्ण है कि वह जरुस्लम के कृस्तियों के नेताओं के रूप में १२ के बारे में कुछ भी नहीं जानता किन्तु सेफस, जेम्स और जोह्न का नाम-उल्लेख नेताओं के रूप में करता है। इनमें से सेफस कोई व्यक्तिवाचक नाम न होकर 'चट्टान' का अर्थद्योतक अरेमाइक शब्द है। वह शब्द यूनानी भाषा में अनूदित हो 'पीटर' बन जाता है।

किन्तु सहदर्शी में जबकि सेफस का कोई उल्लेख नहीं है, सबसे प्रमुख शिष्य 'साइमन' कहलाता है और प्रत्येक धर्मग्रन्थ में विभिन्न परिस्थितियों में यहूदियों ने उसे 'पीटर' उपाधि ही दी है। पॉल को सेफस का आत्म-प्रदर्शन, उसकी महत्त्वाकांक्षा का प्रतिरोध करने का अवसर था और वह

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १२३।

उसे पाखण्डी कहता है।

प्रोफेसर वैल्स द्वारा सुझाया गया सम्भावित स्पष्टीकरण यह है कि एक प्रारम्भिक गिरजाघर (चर्च) के कृस्ती नेता को 'चट्टान' की उपाधि इस कारण मिल गई कि जाग्रत् जीसस के सम्बन्ध में उसका दृष्टि-बिन्दु सभी से पहले वाला था और कृस्ती-पंथ के विकास में बाद की अवस्था में यह जरूरी समझा गया कि इस प्रसिद्धि-पूर्व स्थिति को जीसस के जीवन-काल में पूर्व-व्याप्त बताया जाए। इस प्रकार से, पीटर का रचनाकार ही सर्व प्राथमिक कृस्ती समुदाय में पहला पुनरुत्थान-पर्व (ईस्टर) का साक्षी है। यह तो मैथ्यू-संस्करण में है कि जीसस पीटर को 'चट्टान' के नाम से सम्बोधित करता है जिस पर वह अपने गिरजाघर का निर्माण करेगा और पीटर को स्वर्ग के साम्राज्य की कुंजियाँ देने का वचन देता है। उक्त वाक्यावली का सही, वास्तविक अर्थ है कृस्त-समुदाय से व्यक्तियों को बहिष्कृत करने की शक्ति और ऐसी रोक को दूर करने की शक्ति। मैथ्यू का उद्देश्य यहाँ गिरजा-सम्बन्धी मामलों के लिए प्राधिकरण स्थापित करना है।

लूके पहला व्यक्ति है जो १२ अनुयायियों को ईसा के पट्ट-शिष्य, धर्म-प्रचारकों के रूप में सम्बोधित करता है। पॉल १२ का उल्लेख द्वितीय प्रकटीकरण के साक्षियों के नाते ही करता है। पॉल यह पूछकर पट्ट-शिष्य के रूप में अपना दावा प्रस्तुत करता है, "क्या मैंने अपने प्रभु जीसस को देखा नहीं है?" (१ : कॉर० ९ : १)। और वह स्वयं का वर्णन "पट्ट-शिष्य होने-वाला सम्बोधित" के रूप में करता है। इनका संदर्भ एक जाग्रत्, प्रबुद्ध जीसस के दर्शनों से है, पूर्वकालिक व्यक्ति से नहीं।

२ : कौर० में पॉल कृस्ती प्रचारकों के इस दावे पर वाद-विवाद करता है कि वे ही लोग ईसा के पट्ट-शिष्य थे—पॉल नहीं, क्योंकि मात्र वे लोग ही स्वर्गिक रहस्योद्‌घाटन, चमत्कार और आत्मा के विश्वसनीय प्रतिरूप प्रदान कर सकते थे। वह उन लोगों को झूठे पट्ट-शिष्य कहता है और वास्तविक, सच्चे शिष्य (पट्ट-शिष्य) के लक्षणों का उल्लेख करता है। यदि इस धरती पर जीसस के सचमुच ही १२ विशिष्ट और निरन्तर अन्तरंग साथी रहे होते, तो यह विवाद शुरू ही नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि

न तो कोई जीसस ही था और न ही उसके १२ पट्ट-शिष्य। पट्ट-शिष्य का वर्णन प्रबुद्ध जीसस द्वारा कार्य के लिए प्रचारक के रूप में बुलाए गए व्यक्ति के लिए किया गया है।

पॉल कृस्ती-परपीड़कों से आमूलचूल परिवर्तित होकर निष्ठावान धर्म-परिवर्तनकारी बन गया और इस बदलाव को उसने एक लोकोत्तर रहस्योद्घाटन के आधार पर उचित ठहराया था, न कि जरुस्लम के कृस्तियों द्वारा मात्र मानव-प्रचार के आधार पर।

जरुस्लम में प्रारम्भिक कृस्तियों में कम-से-कम दो गुट, वर्ग थे। एक गुट यहूदियों का था जो यूनानी भाषा बोलता था। दूसरा गुट उन यहूदियों का था जो हिब्रू भाषा बोलता था। पहले वर्ग के लोगों की शिकायतों में से एक यह थी कि जरुस्लम के कृष्ण मन्दिर के कोष से उनकी विधवाओं के खिलाने-पिलाने के लिए कोई प्रावधान, प्रबन्ध नहीं किया जा रहा था (६ : १)। अतः यूनानीभाषी यहूदियों ने एक असन्तुष्ट पृथक् समूह, गुट, दल बना लिया। उनके सात नेता थे। हिब्रूभाषी समूह के साथ बारह नेता थे। यूनानीभाषी समूह को मजबूत होकर अन्ततः (यूनान में एथेंस से लगभग ६० मील की दूरी पर) कोरिंथ में चला जाना पड़ा जहाँ उनको स्थानीय कृष्ण-मन्दिर कोष से अच्छे जीवन-निर्वाह, साहाय्य की आशा थी।

लूके की स्थिति यह हो गई मालूम पड़ती है कि वह चरितों में दोनों गुटों के मध्य खींच-तान की सत्यता को लोगों को बताने का साहस नहीं कर सका। स्टीफन यूनानीभाषी समूह से सम्बन्धित था। लूके यूनानी-संस्कृतिवादी स्टीफन के बलिदान की, शहादत की उपेक्षा, अवहेलना नहीं करना चाहता था। अतः हिब्रूभाषी वर्ग के १२ नेताओं द्वारा शासित समुदाय में गरीबों को खाना खिलानेवाले उपयाजकों में स्टीफन सहित सात का प्रतिनिधित्व लूके करता है।

प्रोफेसर वैल्स जैसे लेखक भी, जो यह ढूंढ़ पाने, खोज लेने में तो सफल हुए हैं कि सम्पूर्ण कृस्तीशास्त्र कल्पना-मात्र ही है, यह बता सकने में सर्वथा विफल रहे हैं कि यह कृस्ती-विज्ञान किस स्रोत से विकसित हुआ, इसका जन्म किस कारण हुआ ?

शोध के इस क्षेत्र में हमारा मौलिक सहयोग सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना

है कि कृस्तीशास्त्र अव्यवस्थित, ऊटपटांग और मनमाने ढंग से हिन्दू कृष्ण-शास्त्र पर ही निर्मित, निरूपित है। हम दूसरी बात यह सिद्ध कर पाए हैं कि जरुस्लम और कोरिंथ में कृष्ण-मन्दिर विशाल धनकोषवाली संयुक्त संस्थापनाएँ थीं। तीसरी बात हमारे अन्वेषण से यह स्पष्ट होती है कि बेथलेहम आदि में इन तथा अन्य सहायक, गौण कृष्ण-संस्थापनाओं में इन मन्दिरों के कोषों पर नियन्त्रण और प्रबन्धन-परिषदों में सत्ता (शक्ति) व वरीयता के प्रश्नों पर मतभेद उभर आए थे। चौथी बात यह है कि हम पता कर सके हैं कि ये मतभेद कृस्ती-दीक्षित जोह्न के समय से प्रारम्भ हुए थे। स्टीफन, पॉल और धर्मग्रन्थों के रचनाकार बाद में इस गुट से साँठ-गाँठ कर बैठे और इसके आंदोलनकर्ता बन गए। इससे इन दोनों गुटों में अपूर्ण पश्चात्ताप की लड़ाई शुरू हो गई। प्राचीन विधान मुख्यतः हिब्रू-भाषी यहूदियों का ही था। यूनानीभाषी यहूदियों का असन्तुष्ट समूह कोरिंथ में कृष्ण-मन्दिर का प्रबन्ध भी अपने हाथ में, नियंत्रण में लेने में स्पष्टतः सफल नहीं हो पाया। अतः वे लोग अपनी भावी कार्यवाही पर विचार-विमर्श करने के लिए किसी मित्र के घर पर लुक-छुपकर एकत्र होने लगे। ऐसे विचार-विमर्श को संस्कृत भाषा में 'चर्चा कहते हैं। कृस्तीशास्त्र और कृस्ती-पंथ में 'चर्च' शब्द का यही मूल है। असंतुष्टों के इस नए वर्ग ने एक तदर्थ धर्म-विज्ञान का एक ऊलजलूल रूप निर्मित कर लिया जिसका ताना-बाना अभी भी क्रूस्त (क्राइस्ट) के रूप में उच्चारित कृष्ण के चारों ओर ही बुना हुआ था। यह वर्ग फिर अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने में बड़ी मुस्तैदी से, जी-जान से जुट गया। इस प्रकार सदस्य बनना ही बप-तिस्मा, दीक्षित होना कहलाने लगा जो कृस्ती धर्म-परिवर्तन का आज मानक प्रकार बन चुका है।

एक बार मतभेद, असन्तोष उभारा कि उक्त क्षेत्र के प्रत्येक कृष्ण-पूजा केन्द्र में एक प्रतिद्वन्द्वी गुट स्थापित हो गया। प्रोफेसर वैल्स कहते हैं, "कृस्ती-पंथ का प्रत्येक हिस्सा भगवान् के शब्दों का आविष्कार करने के लिए प्रेरित हो रहा था जिससे विपरीत भाव पैदा होने लगे जैसे कुछ लोगों का आग्रह था कि यहूदी कानून निर्विकार अपरिवर्तनीय था जबकि अन्य लोग इसको पुराना, लुप्त, अविकसित कहकर इसकी भर्त्सना करने लगे।

ऐसा प्रायः होता है कि जब किसी प्राचीन परम्परा को संकोचवश त्यागना होता है तब कुछ लोग इसे यथासंभव अधिकाधिक बचाने का प्रयत्न करते हैं और कुछ लोग इसे तेजी से छोड़ देना चाहते हैं।"

जुदास द्वारा विश्वासघात और परिणामस्वरूप जीसस को सूली-प्राण-दण्ड के बारे में प्रोफेसर वेल्स उपयुक्त रूप में ही स्पष्ट कहते हैं कि, "आज के मानक श्रेष्ठ कृस्ती-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं कि जुदास ने क्या धोखा, विश्वासघात किया था और विश्वासघात उसने किया क्यों था—ये असमाधेय समस्याएँ हैं, जिनका हल हो ही नहीं सकता।"[1]

मैथ्यू द्वारा विशिष्ट उल्लेख किया गया मूल्य हास्यास्पद रूप से कम है और जुदास को लोभी व्यक्ति के रूप में निरूपित करनेवाला पाठ जोह्न १२ : ४-६ है। इस प्रकार वित्तीय-प्रलोभन को गैर-ऐतिहासिक करार देकर गार्टनर ने स्वीकार किया है कि, "इन पाठ-सारों में स्वयं जुदास की अभिप्रेरणाओं के बारे में हमें कुछ भी नहीं बताया जाता।"[2]

कुछ भी सही, जीसस किसी षड्यन्त्रकारी गुट का सरगना नहीं था; न ही कोई षड्यन्त्र था। कृस्ती-परम्परा के अनुसार भी जीसस एक विनम्र, शान्तिप्रिय व्यक्ति था। इसलिए, ऐसे व्यक्ति से धोखा, विश्वासघात करने की प्रेरणा भी किसलिए हो सकती थी? कुछ भी मानो, उसे धोखा देने में, दिलाने में लाभ, हित किसका था? और सभी लोगों में से भी जीसस का अति विश्वस्त शिष्य जुदास ही उससे धोखा, विश्वासघात क्यों करे? जीसस ने जुदास के साथ क्या, कौन-सी बुराई की थी? या प्रशासकों को जुदास का सहयोग लेने में कौन-सा स्वार्थ प्रेरक था? और यदि जीसस एक प्रसिद्ध व्यक्ति था, ऐसा ख्याति-नामा था जिसके पीछे भारी भीड़ चला करती थी, सभी जगह और जो कभी खुद छिपकर नहीं रहता था, तो उसे पहचान, परिचय, शिनाख्त की जरूरत क्यों हुई? यह इस बात का एक अन्य संकेतक है कि जीसस की सम्पूर्ण कथा, जो कृस्ती-पंथ का पूरा-पूरा आधार है, एक भ्रमित, भ्रमपूर्ण, बनावटी, लोभ-प्रेरित और ऊटपटाँग,

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट?', पृष्ठ १३२।

२. बिशप ऑफ़ गोथेनबर्ग, बी० गार्टनर लिखित 'इस्कारियट', पृष्ठ १६।

मनचाहे रूप से विकसित कल्पित, झूठी कहानी-मात्र ही है।

मात्र लूके ६ : १६ में ही जुदास को विश्वासघाती, देशद्रोही कहा गया है। यह भी "समर्पित किया गया, हवाले किया गया" भाव की सूचक यूनानी क्रिया-पद को गलत रूप में समझने और उसकी गलत व्याख्या करने के कारण ही भ्रम-आधारित है। प्राचीन विधान से पॉल के माध्यम से व्युत्पन्न एक पुरातन परम्परा ही सुसमाचार लेखकों ने पुनः प्रारम्भ कर दी है। मार्क और उसके स्रोत ने एक परम्परा को गलत समझा और उसको गलत रूप में निरूपित किया जिसने यही नहीं स्पष्ट किया कि कब, किसके द्वारा या किसको जीसस समर्पित कर दिया गया था। एक भारतीय हिन्दू कृष्ण की व्याख्या करनेवाली यूनानी अभिव्यक्ति का अर्थ मात्र इतना था कि कृष्ण ने अपना अवतार-समय समाप्त कर दिया था।

जीसस को बन्दी बनाने की कथा में असंगतियों की ओर ध्यान दिलाते हुए प्रोफेसर वैल्स कहते हैं, "उपेक्षा और बे-खमीर रोटी की दावत के दो दिन पहले प्रधान पुरोहितों (पादरियों) और लेखकों ने जीसस को बन्दी बना लेने और मार डालने का षड्यन्त्र किया। कृस्ती-धर्मग्रन्थ में दी गई यह पहली निश्चित तिथि है यद्यपि उतनी निश्चित तिथि नहीं जितनी मार्क ने विचार की थी, चूंकि उपेक्षा १४वीं निसान को प्रारम्भ होती है और बे-खमीर रोटी की दावत १५वीं को—अतः कोई-सी भी तिथि दोनों से दो दिन पूर्व नहीं हो सकती।"[१]

जीसस का अभिषेक बेथैनी में साइमन के घर पर, जो एक कोढ़ी था, किया जाता है। इस तथ्य का कोई द्योतन जीसस के जीवन में नहीं है कि यह घटना कब हुई। मार्क, लूके और जोह्न इसे भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में कहते हैं। मार्क ने एक महिला का उल्लेख जीसस के सिर पर एक कीमती मल्हम उँडेलते हुए किया है जहाँ कुछ साक्षीगण रोष में पूछते हैं कि इस (मल्हम) को ऐसे बर्बाद क्यों किया जा रहा है और अच्छा होता यदि इसे बेचकर ३०० दिनारें ले लेते तथा वे गरीबों को दे देते। जीसस यह कहते हुए उस महिला का बचाव करते हैं कि, "सब विश्व में जहाँ कहीं कृस्ती

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ १३३।

धर्मग्रंथ का प्रचार होगा, इस महिला ने जो कुछ आज किया है, वही उसकी स्मृति में उल्लेख किया जाता रहेगा।"

उपर्युक्त वाक्य इस बात का द्योतक है कि सुसमाचार लेखकों ने किस प्रकार बाइबल में वे वाक्य ठूँस दिए थे जो ईसा-पूर्व सन्दर्भों में, स्थितियों में प्रयोज्य थे, उनके सम्मुख विद्यमान थे। अन्यथा, सुसमाचार विश्व की बात जीसस कैसे कह सकते थे ?

जब वे मेज पर अन्तिम ब्यालू के लिए एकत्र थे तब जीसस ने कहा बताते हैं : "१२ में से जो मेरे साथ खा रहा है वही मुझे समर्पित (हवाले) कर देगा।" किन्तु जीसस ने ऐसा कहा ही नहीं होगा। उसने कहा होगा, "तुममें से एक।"

जो प्रश्न उपस्थित होता है वह यह है कि शेष ग्यारह व्यक्तियों ने उस व्यक्ति को रोकने के लिए कुछ भी क्यों नहीं किया जिसको उन्हीं की उपस्थिति में भावी धोखेबाज, विश्वासघाती के रूप में पहचाना जा चुका था।

अरिस्टाइड्स ने ईसा-पश्चात् १४० में लिखा था कि जीसस के १२ शिष्य थे। जीसस के पुनर्जीवन-पश्चात् वे बारह शिष्य क्रुस्ती-धर्मग्रन्थ के प्रचार हेतु आगे गए। जस्टिन मारटियर ने, जो ईसा-पश्चात् १६५ में मर गया, जुदास का उल्लेख भी नहीं किया यद्यपि उसने अन्तिम ब्यालू और जीसस को बन्दी बनाने की घटना का सविस्तार वर्णन किया है।

जीसस की यह तथाकथित भविष्यवाणी कि उसकी गिरफ्तारी और सूली-दण्ड के समय उसके 'शिष्य' 'दूर हो जाएँगे' मार्क द्वारा इस उद्देश्य से ठूँस दी गई प्रतीत होती है कि नए धर्मागन्तुक लोग उत्साहित हों और कट्टर बन जाएँ जिससे अधिकारियों द्वारा दबाव व उत्पीड़न का मुकाबला कर सकें जैसे स्वयं जीसस द्वारा किया गया था—विचार किया जाता है।

जीसस की गिरफ्तारी के बाद, विश्वास किया जाता है कि उसे गेटसेमाने नामक स्थान पर ले जाया गया था, किन्तु इस नाम का कोई स्थान सुनने में नहीं आया।

किन्तु चौथे सुसमाचार लेखक जोह्न ने सोचा कि जीसस द्वारा मृत्यु-दंड से क्षमा-याचना वाला गेटसेमाने वाला प्रसंग अशोभनीय प्रतीत होगा,

अतः उसने इसको निरस्त कर दिया, उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत उसने जीसस की झिझक को एक शब्दाडम्बरपूर्ण प्रश्न "अब मेरी आत्मा कष्ट में है। और मैं, अब क्या यह कहूँगा कि हे पिता, मुझे इस घड़ी से बचाओ? नहीं, उसी उद्देश्य के लिए मैं इस घड़ी में आया हूँ।" (जोह्न १२ : २७) में परिवर्तित कर दिया।

प्रोफेसर वैल्स का कहना है कि मार्क के अध्याय १५ के प्रारम्भ से ही समय को तीन-तीन घंटों के अन्तराल में अति सावधानीपूर्वक बाँट दिया गया है। तारतम्य यह है कि सन्हेड्रिन ने जीसस पीलेट को भोर (दिन उगने) के समय सौंप दिया था। जीसस को तीसरे घंटे सूली चढ़ा दी गई (अर्थात् प्रातः ६-०० बजे)। सारी धरती पर छठी घड़ी से नवीं घड़ी तक अन्धकार छा जाता है (दोपहर १२-०० से ३-०० बजे तक)। नवीं घड़ी में जीसस की अन्तिम चीख निकलती है और वह मर जाता है। सूर्यास्त के समय अरिमैथिया का जोसेफ सूली पर से शव को नीचे उतारने की अनुमति प्राप्त करता है। ऐसे छोटे-छोटे विशेषोल्लेखों का प्रयोजन धर्मग्रन्थ-वर्णन को एक नाटकीय चरित्र प्रदान करना था। स्वयं तीन घड़ी-विभाजन भी एक हिन्दू रीति ही है जो 'प्रहर' कहलाती है।

विद्वान् लोगों का विश्वास है कि जुदास द्वारा धोखा और पीटर द्वारा जीसस की अमान्यता, दोनों ही मार्क द्वारा जोड़े गए प्रक्षिप्तांश हैं जो जीसस के एकाकीपन को अधिक सुस्पष्ट, सजीव और उज्ज्वल रूप देने के उद्देश्य से रचित हैं। किसी नेता की सर्वश्रेष्ठ महत्ता को साग्रह प्रदर्शित करने के लिए एक विश्वासघाती, धोखेबाज की कल्पना व उसका निरूपण कर लेना पुरानी बाजीगरी, कौतुक है। यही बात सम्राट् आर्थर, रोनाल्ड सिगफ्रायड तथा कई अन्यों के साथ हुई है। जुदास-प्रसंग को अनेक लोगों ने प्रक्षिप्त-प्रसंग माना है। इस पक्ष का समर्थन मध्य-द्वितीय शताब्दी के तीन कृस्ती-समर्थक लेखकों द्वारा जीसस-चरित कथा में इस विश्वासघात-प्रसंग को समाविष्ट न करने से भी होता है।

पीटर के अप्रामाणिक धर्मग्रन्थ के वर्तमान अंश में, जो सूली चढ़ने और पुनर्जीवित हो जाने का पूरा विवरण प्रस्तुत करता है, वर्णन करनेवाला जीसस की मृत्यु-बाद कहता है, "भगवान् जीसस के हम १२ पट्ट-शिष्य

विलाप कर रहे थे और दुःख में थे।" इसका अर्थ यह है कि जुदास धोखेबाज नहीं था। या फिर, जुदास-प्रसंग उन लोगों के लिए अरुचिकर था जिन्होंने इसे अलग कर दिया। यह इस बात का द्योतक है कि हम जिसको बाइबल समझते, मानते हैं वह विभिन्न लेखकों द्वारा समाविष्ट किए जाने योग्य समझी गई बातों का संकलन है, चाहे वे घटनाएँ हुई ही नहीं। उदाहरण के लिए, अरिस्टाइड्स 'कृस्ती-पंथ के लिए याचना' सम्राट् को सम्बोधित करते हुए कहता है कि जीसस को "यहूदियों द्वारा मर्माहत कर दिया गया था गोद दिया गया था।" स्पष्टतः, वह कलंक—बदनामी से रोमन लोगों को बचाना चाहता था।

२०वीं शताब्दी के विद्वानों द्वारा "जीसस की विशुद्ध काल्पनिक जीवन-गाथाओं" के अनेक उद्धरण देते हुए प्रोफेसर वैल्स आश्चर्य करते हैं कि "हमारे युग के प्रारम्भ में कम अनुशासित, प्रबुद्धजीवियों में कितना अधिक आविष्कृत, कल्पित अंश बिना चुनौती ही चला गया होगा।"[१]

एक पद-टीप में प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि मैथ्यू-विवरण में दिए गए नाम (१० : २-४) प्रायः प्रक्षिप्तांश समझे गए हैं क्योंकि पद्य ५ में उसने पद्य १ के विषय को ही दोहराया है उपचार और (पाप) आत्माओं को दूर लगाने विषयक हिदायतों को स्मरण कराकर, जो वहाँ पहले ही दी हुई हैं।

जुदास जुदाईयस है और स्पष्टतः एक कल्पित, आविष्कृत नाम है जो यहूदियों को कलंकित करने के लिए गढ़ लिया गया है—ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

कृस्ती-धर्मशास्त्र के विद्वान् प्रायः तर्क देते हैं कि यदि जीसस कोई वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हुआ होता, तो उसका सम्बन्ध गैलिली में नज़ारथ जैसे अप्रसिद्ध, अज्ञात से स्थान से किसी प्रकार भी जुड़ा न होता।

प्रोफेसर वैल्स ने उक्त प्रश्न का उत्तर यह कहकर दे दिया है कि यहूदियों की एक सुदृढ़ परम्परा थी कि मसीहा का जन्म डेविड के वंशज के रूप में होगा और डेविड के बारे में कहा जाता है कि वह जुदाईया में

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १४०।

बेथलेहम (१ सेमुअल १६) का ही निवासी था।

हमारे पास, तथापि, उपर्युक्त सें भिन्न परन्तु अधिक युक्तियुक्त स्पष्टीकरण है जैसा हम पहले ही कह चुके हैं अर्थात् बेथलेहम तो संस्कृत शब्द 'वत्सलधाम' का अपभ्रंश रूप है––जिसका अर्थ 'प्रिय बाल (शिशु) का घर' है, जहाँ हिन्दू रीति-रिवाज के अनुसार कृष्ण का जन्म रात्रि के १२ (बारह) बजे उस मन्दिर में मनाया जाता था जहाँ कृष्ण की मूर्ति स्थापित की हुई थी। क्रुस्त (क्राइस्ट) तो 'कृष्ण' शब्द का मात्र अन्य उच्चारण ही है।

हमारा स्पष्टीकरण इस तथ्य से भी पुष्ट, समर्थित होता है कि ईसा-पश्चात् पहली शताब्दी में यहूदियों में मसीह (अर्थात् महेश) के बारे में एक ही, समान मत, विचार नहीं था। मैथ्यू नहीं कहता कि बेथलेहम डेविड का घर था और न ही वह अपने धर्मग्रन्थ के अध्याय I में जीसस के पूर्वजों और जन्म के अपने वर्णन में इस स्थान का कोई उल्लेख ही करता है। वह इसका उल्लेखमात्र अध्याय II में, मागी की कथा के सम्बन्ध में करता है।

सुसमाचार लेखक स्पष्टीकरण, तर्क प्रस्तुत करता है कि यह जन्म उस भविष्यवाणी को पूर्ण करने के लिए हुआ जिसमें कहा गया था कि इस्रायल का एक शासक इस्रायल से आगे आएगा यह तो मात्र हिन्दू, संस्कृत परम्परा से ही स्वीकार्य; ग्राह्य, बोध्य हो सकता है। इस्रायल (ईश्वर का निवास-स्थान) संस्कृत शब्द 'ईश्वरालय' का संक्षेप है। इसी प्रकार बेथलेहम (प्रिय बाल का घर) संस्कृत शब्द 'वत्सल धाम' का अपभ्रंश रूप है। वह प्रिय बालक कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। अपने शिशुकाल में वह 'बालकृष्ण' अर्थात् बच्चा कृष्ण कहा जाता था।

कृस्ती-पंथ में अन्य सभी बातों की भाँति, पुनर्जीवित हो जाने का कथानक भी पूरी तरह भ्रामक और परस्पर-विरोधी है। मार्क और मैथ्यू पुनर्जीवन-धारण करने के बाद मात्र गैलिली में ही प्रकट होने का स्थान घोषित करते हैं जबकि लूके इस घटना को जरुस्लम में हुआ बताते हैं।

कृस्ती-धर्मपंथ के अनेक विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि फिलस्तीनी भूगोल के बारे में मार्क का ज्ञान अशुद्ध, अयथार्थ होने के कारण उसके द्वारा बताया गया जीसस का यात्रा-विवरण समीक्षकों को चकरा देता है

(उदाहरण के लिए ७ : २४ और १० : १)। यह भी व्यापक रूप में स्वीकृत किया जाता है कि गैलिली का महत्त्व बताने में मार्क का उद्देश्य था जरुस्लम की ओर से कृस्ती (ईसाई) समुदायों का लगाव कम करना। गैलिली एक सीधा-सरल क्षेत्र था जिसे यूनानी विचारों और तत्त्वों की घुसपैठ के कारण रूढ़िवादी यहूदियों द्वारा नापसन्द किया जाता था। दूसरी ओर जरुस्लम फिरीसी, पाखण्डियों और पौरोहित्य रूढ़िवादिता का घर था—प्रोफेसर वैल्स का कहना है।

हम यहाँ फिर कृष्ण-पूजा परम्परा के दो या अधिक वर्गों के मध्य फूट देखते हैं जिससे अन्त में कुछ तत्त्वों को अपनी पहचान अलग से ही करनी पड़ी। उन लोगों की यही इच्छा थी जिसके कारण कृस्त-कथा का विकास हुआ।

प्रोफेसर वैल्स कहते हैं, "कृस्ती पंथ का यहूदी धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद की और गैर-यहूदी, गैर-ईसाई तिरस्कृत गैलिली में निम्नस्तरीय लोगों के लिए ही मोक्ष का संदेश है—यह दिखाने के लिए ही कहानी का भूगोल धार्मिक आवश्यकता के अनुरूप ढाला गया है।"[1] मार्क ने क्रोध के साथ जरुस्लम को जोड़ दिया है जहाँ तक वह इसे धार्मिक अधिकारियों का स्थान समझता है।

ऐसे साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि मार्क-ग्रन्थ तब लिखा गया था जब कृस्ती-परम्परा पर्याप्त रूप से इतनी विकसित हो चुकी थी कि वह जरुस्लम में रोमन और यहूदी, दोनों ही प्रकार के अधिकारियों को रोष और आशंका का शिकार कर दे। पूरी पहली शताब्दी-भर, गैलिली रोमन और यहूदी, दोनों ही प्रकार की सत्ता के लिए विरोध का प्रबल केन्द्र बना रहा। चूँकि उन दिनों में धार्मिक रुझान और भावनाएँ बहुत दृढ़ और उग्र थीं, इसलिए गैलिली में विद्यमान विपक्षी नेताओं ने भगवान् कृष्ण को अपना आराध्य-देव माननेवालों का विरोध करने के लिए कृस्त (क्राइस्ट) के नाम में एक नया झंडा, नया वर्ग खड़ा करने का सुअवसर प्राप्त कर लिया। इस प्रकार, क्षेत्र में परम्परागत कृष्ण-पूजा के कई केन्द्रों में से गैलिली (अर्थात् गावालय)

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १४४।

नए कृस्ती-विपक्ष के पुण्य-स्थान, मन्दिर के रूप में विकसित हो गया।

विपक्ष का कृस्त भी कृष्ण-प्रकरण का एक प्रकारान्तर ही था—यह भी इस तथ्य से प्रत्यक्ष, स्पष्ट है कि कुछ इससे पूर्व की तारीख की एज़रा-भविष्यसूची में मसीह का प्रतीक सागर से बाहर आते हुए एक मानवाकृति के रूप में दिखाया गया है। यह इस बात का द्योतक है कि यमुना नदी की उफनती जलधारा में सप्त-छत्रधारी सर्प कालिया नाग के ऊपर नर्तन करते हुए भगवान् कृष्ण का चित्र कृस्ती-पूर्व काल में फिलस्तीनी-क्षेत्र में प्रचलन में था। बाल-कृष्ण को वास्तव में उक्त जलधारा में डुबकी लगानी पड़ी थी और विजयोपरान्त उस दुष्ट नाग के फन पर नृत्य करते हुए ऊपर आने से पूर्व उस सर्प से भीषण संघर्ष करना पड़ा था।

कृष्ण-पूजा संप्रदाय के विभिन्न वर्गों में वाद-विवाद, जिसके कारण एक विभिन्न पंथ की स्थापना हुई, चरित २४ : ५ में स्पष्ट है जहाँ क्रुद्ध यहूदी लोग पॉल का वर्णन नज़रीनों अर्थात् कृस्तियों के सरगना के रूप में करते हैं। तालमुद में भी यह शब्द पृथक् हुए वर्ग के लिए अपशब्द के रूप में ही यहूदी शब्द है। वास्तविक कृस्ति-पूर्व नज़रीनी लोग हिन्दू तपस्वी ही थे जो पुनः प्रदर्शित करता है कि नज़रथ उपनाम नन्दरथ (अर्थात् भगवान् कृष्ण के पालक बाबा नन्द का रथ) कृष्ण-पूजा का एक स्थान ही था।

मार्क उल्लेख करता है कि जीसस ने एक स्थान पर आए लोगों को (धर्म) प्रचार किया और उनको आश्चर्यचकित कर दिया। किन्तु वह यह स्पष्ट नहीं करता कि उसकी शिक्षा, धर्मोपदेश क्या था और उसमें आश्चर्य-चकित होने/करने की बात क्या थी।

जीसस के जन्म और शैशव के वर्णन, जो मात्र मैथ्यू और लूके में दिए गए हैं, स्पष्टतः उसके लोक-चरित के वर्णन के पूरक के लिए प्राक्कथन के रूप में लिखे गए थे। मैथ्यू जीसस के शैशव और बपतिस्मा के बीच उसके जीवन के बारे में कुछ भी नहीं बताता। लूके उस अभाव को भरने के लिए मात्र एक घटना—कि १२ वर्षीय जीसस मन्दिर गया था—का उल्लेख करता है। वह मन्दिर स्पष्टतः भगवान् कृष्ण का मन्दिर ही था।

जीसस को एक मौलिक, वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्तित्व माना जाए इसलिए सुसमाचार लेखकों ने उसे जोह्न बपतिस्मी, दीक्षित से जोड़ दिया

है। जोह्न उस युग का एक हिन्दू तपस्वी था। वह अपने अनुयायियों और शिष्यों को अपने संप्रदाय में औपचारिक रूप से प्रवेश देता था और इसके लिए हिन्दू-परम्परानुसार शुद्ध जल उनके ऊपर छिड़क देता था जिस विधि को पवित्र स्नान का प्रतीक माना जाता था। बपतिस्मा नाम से प्रसिद्ध वह दीक्षा-प्रणाली तथ्यतः एक हिन्दू कृत्य, कर्मकांड है। हिन्दू-समारोहों में पवित्र जल व्यक्तियों, वस्तुओं, देव-प्रतिमाओं, पूजा-स्थान तथा चारों दिशाओं में भी छिड़ककर उनको शास्त्रीय, वैध रूप से शुद्ध कर लिया जाता है।

जोह्न, जिसको कृस्ती-जनश्रुति में छद्म-रूप में, चोरी से प्रविष्ट कर दिया गया है, एक (धर्म) प्रचारक था जिसके अपने अनुयायी थे और जो कुछ क्षेत्रों में ईसा-पश्चात् दूसरी शती तक चलते रहे। उक्त सम्प्रदाय के खिलाफ कृस्ती-विवाद इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जोह्न और उसकी शाखा, दोनों ही, गैर-कृस्ती थे। यदि ऐसे जोह्न ने जीसस को दीक्षित भी किया था तो (भी) वह दीक्षा-कर्म वयस्कता में दीक्षित करने का हिन्दू संस्कार-अंश ही था।

यहूदी धर्मग्रन्थ तालमुद में जोह्न अथवा ईशानियों का भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है क्योंकि दोनों ही रूढ़िवादी यहूदी जाति से बहुत कम भिन्न थे। वे यद्यपि यहूदी थे, तथापि जोह्न और ईशानी लोग मूल रूप में हिन्दू ही थे जो विभिन्न संप्रदायों, टुकड़ों, वर्गों, शाखाओं में बँट गए थे। इसी का समानान्तर रूप हमारे युग में भी मिल जाता है। भारत में आज हमें सनातन धर्म, आर्यसमाज, 'हरे कृष्ण' अभियान, जैन, बौद्ध, सिख, वैष्णव, शैव आदि शाखाओं के अनुयायी मिल जाते हैं। वे सभी व्यावहारिक रूप में हिन्दू हैं, फिर भी अपना-अपना निजी अस्तित्व बनाए हुए हैं।

ईशानी लोग हिन्दू भगवान् ईशाण अर्थात् शिव के अनुयायी थे। उत्तर-पूर्व दिशा संस्कृत भाषा में ईशाण कहलाती है क्योंकि वह दिक्पाल भगवान् ईशाण द्वारा संरक्षित मानी जाती है।

जोह्न चाहता था कि रूढ़िवादी, पुरातनपंथी यहूदी उसी के संप्रदाय के अनुयायी बनें। यहूदी इतिहास-लेखक जोसेफस ने जोह्न का वर्णन एक

सुदृढ़-निश्चयी व्यक्ति के रूप में किया है जिसने यहूदियों को दीक्षा-ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया था किन्तु टेटरार्च द्वारा जिसकी हत्या कर दी गई थी क्योंकि वह जोह्न की प्रचार-शक्ति के राजद्रोहात्मक प्रभाव से आशंकित था। प्रोफेसर वैल्स विश्वास करते हैं कि "यह सत्य है कि जोसेफस के मूल पाठ में कृस्ती-लेखकों ने अन्य उद्धरणों में काफी अदल-बदल, परिवर्तन, पुनर्लेखन, हेरा-फेरी की है।"[१] कहने का अर्थ यह है कि कृस्ती-नेतागण एक गैर-विद्यमान जीसस के ऊपर एक कृस्त कथा गढ़ डालने पर ही न रुके, बल्कि अन्य लोगों द्वारा लिखित इतिहास-ग्रन्थों में भी उन लोगों ने जाली अंश ठूँस दिए। इस तथ्य से विश्व-भर के विद्वानों और सत्य के प्रेमियों को कृस्ती-पंथ से सम्बन्धित मामलों के अध्ययन के समय अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता अनुभव कर लेनी चाहिए। किसी भी बात पर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक सूक्ष्म जाँच-पड़ताल द्वारा वह सिद्ध, प्रमाणित न हो जाए।

यहूदी इतिहास-लेखक जोसेफस (दीक्षित) का उल्लेख मात्र एक बार किया है। वहाँ उसने जोह्न को जीसस से नहीं जोड़ा है। पहली शताब्दी में भी कृस्ती (धर्म)-पत्रों में जोह्न और जीसस का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। स्वयं पॉल भी, जिसने उल्लेख किया है कि प्रारम्भिक कृस्ती-पंथ एक बपतिस्मी संप्रदाय (दीक्षित वर्ग) था, कभी जोह्न का उल्लेख ही नहीं करता। तथ्य रूप में तो, नव-विधान के किसी भी धर्म-पत्र में जोह्न के धर्मोद्देश्य के बारे में या जीसस की गैलिली-मंत्रणा परिषद् के बारे में कोई चलते-चलते संदर्भ भी नहीं है यद्यपि उनमें जीसस को शारीरिक यातनाओं और उसकी मृत्यु के बारे में पर्याप्त वर्णन किया गया है। कृस्ती धर्मग्रन्थ, जो इन दोनों व्यक्तियों को जोड़ देते हैं, वे धार्मिक साक्षी के लिए ही ऐसा करते हैं।

जोह्न को जिस टिप्पणी का श्रेय दिया जाता है (मार्क १ : ७), "मेरे बाद मुझसे अधिक शक्तिशाली, सामर्थ्यवान का आविर्भाव होना है"—वह ऐसी टिप्पणी है जो प्रत्येक प्रचारक अपने अनुयायियों के समक्ष किया

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १५२।

ही करता था। इसी प्रकार (गीत ११८ : ६ में) यह कथन कि, "वह भाग्यशाली है जो भगवान् के नाम पर यहाँ आया है" ऐसी शब्दोक्ति है जो सभी मन्दिरों के पुरोहित सभी दर्शनार्थी भक्तजनों से कहा करते थे। इस वक्तव्य को मसीहा के प्रति सम्बोधित मानकर कृस्ती-पंथी स्वच्छन्द रूप से गलत अर्थ देकर लोगों को भ्रमित कर रहे हैं।"

मार्क जोह्न को जीसस का पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए इतना व्यग्र है कि वह कहता है कि जीसस द्वारा धर्म-प्रचार कार्य किए जाने से पूर्व ही जोह्न को कारावास देकर स्थान-च्युत कर दिया गया था : "जोह्न बन्दी बना लिया जाने के बाद, जीसस परमात्मा (भगवान्) के धर्म-विधान का प्रचार करने के लिए गैलिली आए।" (१ : १४)। इस सन्दर्भ में जोह्न की गिरफ्तारी की बात स्पष्टतः बनावटी, जाली रूप से प्रविष्ट कर दी गई प्रतीत होती है ताकि जोह्न के कार्यकलापों को जीसस के आचरण से पृथक् किया जा सके।

जोह्न के धर्म-प्रचार के वर्णनों के बाद तुरन्त ही जीसस का उल्लेख किया जाता है, और इस प्रकार के सान्निध्य, पास-पास रखने से सुसमाचार लेखक यह भाव प्रेषित करना चाहते हैं कि आविर्भूत होनेवाला शक्तिशाली, सामर्थ्यवान व्यक्ति यह (जीसस) ही है।

प्रोफेसर वैल्स का विचार है कि, "बहुत अधिक संभाव्य है कि प्रारम्भिक शैशव कहानियाँ पहले ही विद्यमान थीं और लूके ने उन्हीं को अपने धर्मग्रन्थ में स्थान दे दिया था।" उनका विचार ठीक ही है। सभी हिन्दू समुदायों में भगवान् कृष्ण के शैशव-बाल्यकाल की कहानियाँ प्रायः पढ़ी जाती हैं, स्मरण की जाती हैं और उनका गुणगान होता है। यही बात उनके बारे में प्राचीन यूरोप में और अरब-भू-प्रदेशों में थी।

बाइबल में अनेक असंगतियों में से प्रोफेसर वैल्स बताते हैं कि "चौथी धर्म-पुस्तिका में जीसस और बपतिस्मादाता को इतने निकट ला दिया गया है कि उनकी मंत्रणा-परिषदें परस्पर गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। सह-दर्शी में वे केवल जीसस के बपतिस्मा पर मिलते हैं, जिसके बाद बंदी बना लिए जाने के कारण जोह्न स्थान-च्युत हो गया। फिर जीसस ने धर्म-प्रचार प्रारम्भ किया। किन्तु चौथी धर्म-पुस्तिका में साग्रह कथन है कि जीसस

की मंत्रणा-परिषद् के प्रारम्भ के समय जोह्न स्वतन्त्र था और बपतिस्मा दीक्षा-कार्य भी कर रहा था (३ : २२-४)। दोनों को एक ही समय सक्रिय दिखाकर चौथी धर्म-पुस्तिका इस तथ्य पर जोर दे सकने में सक्षम है कि जीसस का बपतिस्मादाता से अधिक प्रभाव था (४ : ११) और परवर्ती ने अपने अनुयायियों को अपने प्रति निष्ठा जीसस की ओर करने को प्रोत्साहित करके उस (जीसस) की श्रेष्ठता स्वीकार, मान्य कर ली थी।"[1] किन्तु यदि यह सत्य होता तो, जैसा ४ : १ में तथाकथित रूप से कहा गया है, बपतिस्मादाता जीसस से स्वतंत्र, अलग ही यह दीक्षा-कार्य क्यों चालू रखे रहा ?

स्पष्टतः प्रारम्भिक कृस्ती नेतागण अति सूक्ष्म रूप में धूर्ततापूर्वक यह मनोवैज्ञानिक सुझाव प्रस्तुत करते जा रहे थे कि किसी भी पंथ, सम्प्रदायादि से सम्बन्धित हर व्यक्ति को स्वयं को एक कृस्ती ही घोषित करना चाहिए।

स्वयं बपतिस्मादाता जोह्न के सम्प्रदाय को (भी) प्रारम्भिक कृस्तियों द्वारा खतरनाक प्रतिद्वन्द्वी समझा गया था। उसको मार्ग से हटा देने के लिए उन लोगों ने षड्यन्त्र द्वारा ऐसा निरूपित किया मानो वह अपनी मंत्रणा-परिषद् जीसस को सौंप रहा था और तत्पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को जीसस को अपने मसीहा के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

जोह्न द्वारा जीसस को बपतिस्मा, दीक्षित किए जाने के कार्य को सुसमाचार लेखक मार्क द्वारा भी षड्यन्त्र का एक भाग बनाया गया था ताकि अन्यथा अज्ञात, अप्रसिद्ध जीसस को आविर्भूत मसीहा घोषित करने का अवसर मिल जाए।

पॉल, जो ईसा-पश्चात् ३५वीं सन् के आसपास धर्म-परिवर्तित हो कृस्ती-पंथ अंगीकार कर चुका था और जिसने ईसा-पश्चात् ७०वीं सन् से पहले विद्यमान धर्म-पत्र लिखे थे, जीसस के जोह्न के साथ साहचर्य या नज़रथ के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता और न ही वह उसे नज़रीन या नज़राइट सम्बोधित करता है। प्रथम शताब्दी के अन्य धर्म-पत्र लेखक भी

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १५४-१५८।

इसके बारे में चुप हैं।

प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि, "मार्क जिसका धर्मग्रन्थ परम्परागत रूप से लगभग ईसा-पश्चात् ७० सन् का लिखित कहा जाता है किन्तु जिसने इसे पहली शताब्दी के अन्त के आसपास ही लिखा होगा, जीसस के बारे में बिल्कुल भिन्न रूप से लिखता है। जब कोई व्यक्ति गिरजाघर (चर्च) के जीवन में हुए भारी परिवर्तनों को—जो पॉल और मार्क के बीच कालखण्ड में हुए—इसके संरचनात्मक तत्त्वों में, इसके भौगोलिक विस्तार में और इसके धार्मिक दृष्टिकोण में हुए परिवर्तनों को देखता है तो हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मार्क ने उन बातों का निरूपण कर दिया है जो उससे पूर्व के लेखकों को सर्वथा अज्ञात थीं।" प्रोफेसर वैल्स सावधान करते हैं कि "उन बातों को आधिकारिक, सत्य स्वीकार करने के लिए कहना तो हमें कुमंत्रणा ही होगी।"[१]

श्री वैल्स का यह दावा कि "सुसमाचार लेखकों को जीसस से उस बात को कहलवाने और वह कार्य करवाने में कोई संकोच नहीं था जो तथ्यतः उनकी अपनी धर्म-विधा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं उनके धर्म-ग्रन्थों की तुलना से उद्भूत हैं। जीसस ने अन्तिम ब्यालू के अवसर पर, सूली पर चढ़े हुए और पुनर्जीवित हो जाने पर शेष ग्यारह लोगों को अनुदेश हिदायत के रूप में क्या कहा—यह सब मात्र इस पर निर्भर करता है कि हम कौन-सी ईसाई (कृस्ती) धर्म-पुस्तिका से विचार, प्रेरणा लेते हैं।"

उदाहरण के लिए, मार्क-धर्म-पुस्तिका (१४ : २४) में ज़ीसस ने विस्मय-विदग्ध होकर कहा बताया जाता है : "यह मेरे प्रतिज्ञा-पत्र का रक्त है, जो बहुतों के लिए निकाला, बहाया जा रहा है।" इस कथन के साथ मैथ्यू (२६ : २८) ने यह और जोड़ दिया है : "पापों की माफी के के लिए।"—"इस प्रकार के विवरण प्रदर्शित करते हैं कि सबसे प्राचीन विद्यमान धर्म-पुस्तिका पर भी भरोसा, विश्वास करके हम कितने गैर-बुद्धिमान ही होंगे…न ही धर्म-प्रचारक और न ही वे सुसमाचार लेखक कोई निर्लिप्त, अनासक्त, असम्बद्ध इतिहास-लेखक थे और उन्होंने जो कुछ

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १५४-१५८।

वर्णन किया उसकी सत्यता की कसौटी उन प्रतिवेदनों के बारे में उनका पत्र-व्यवहार इसलिए नहीं था कि क्या घटित हुआ था बल्कि क्रुस्ती-समुदाय की जीसस की छवि के बारे में इन प्रतिवेदनों की निष्ठा थी जो स्वयं अनेक आयामवाली शक्तियों से निर्धारित होती थी।"[१]

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ १५४-१५८।

अध्याय ४

पॉल कौन था ?

पॉल का मूल, वास्तविक, असली नाम सॉल कहा जाता है। इस नाम को किसने व कब पॉल में बदल दिया, ज्ञात नहीं है। हमारे अनुसार तो पॉल व सॉल दोनों ही हिन्दू नाम हैं। सॉल (जो संस्कृत भाषा में 'शाल' उच्चारण किया जाता है) आकार या गुणों में महानता, बड़प्पन का अर्थ-द्योतक है। तथापि उसका यह अर्थ नहीं है कि पॉल आवश्यकीय रूप से वैसा ही (महान्) था क्योंकि शिशु को तो प्रायः वह नाम जन्म से ही दे दिया जाता है जो उसके माता-पिता अथवा अन्य सम्बन्धियों को मन-भावन लगता है। जन्म के समय ही बच्चे को दे दिए गए नाम का प्रायः उसके उत्तरकालीन विकास से कोई सम्बन्ध या लेन-देन नहीं होता।

बदलकर रखा गया, धारण किया गया स्वयं पॉल नाम भी, जो संस्कृत-उच्चारण में 'पाल' कहा जाता है, संरक्षक या पालन करने वाला कहलाता है—उसका अर्थ-द्योतन करता है। चूंकि भगवान् कृष्ण अपने पालक जनक नंद के पशुओं का पालन, देखभाल करते थे, इसलिए उनको प्रायः 'गोपाल' कहा जाता है। इस प्रकार, ग्रहीत 'पॉल' नाम भी कृष्ण से ही सम्बन्धित है। अतः, पॉल कृष्ण-पंथ का एक हिन्दू ही था। 'सेंट' नामक उपाधि, सम्बोधन जो उससे सम्बन्धित है, वह भी संस्कृत का 'संत' शब्द है।

यूनान के कोरिंथ नगर में एक विशाल और विश्व-प्रसिद्ध कृष्ण-मन्दिर था। "उक्त नगर के वाणिज्य और धन-दौलत से आकर्षित होकर आनेवाले विदेशी अल्पसंख्यक समूहों में यहूदियों की एक बड़ी बस्ती थी और ईसा के पट्ट-शिष्य, धर्म-प्रचारक पॉल ने इस बस्ती में सम्भवतः ईसा-पश्चात् सन् ५१ में आगमन किया था। वह मेसेडोनिया के अनेक नगरों का भ्रमण कर चुकने और एथेन्स में काफी समय रुकने तथा वहाँ से उपहास का शिकार हो

नगर छोड़कर चला गया था और कोरिंथ में यूनान की उत्तर दिशा से आया था। कोरिंथ में उसने यहूदियों में अपनी धार्मिक गतिविधियाँ चालू रखीं जिसके कारण उसका रोमन अधिकारियों से संघर्ष शुरू हो गया और इस बिन्दु से ही उसने गैर-यहूदी, गैर-ईसाइयों का धर्म-प्रचारक बनने की दौड़ में से हट जाने का फैसला कर लिया। वह १८ मास तक कोरिंथ में रहकर तम्बू-निर्माता का अपना धंधा और नए धर्म का प्रचार-कार्य करता रहा। वह जब वहाँ से गया, तब तक एक समृद्धिशाली कृस्ती चर्च स्थापित हो चुका था और उसी के सदस्यों को—कोरिंथवासियों को—उसने अपने दो धर्म-पत्र लिखे थे।"[१]

मासासियो द्वारा पीसा पोलिपटिक से सेंट पॉल के चित्र में, जो अब पीसी-इटली के म्युजिओ नेज़नेल डि सान मट्टेइओ (राष्ट्रीय संग्रहालय) में संग्रहीत है, उसके एक हाथ में पुस्तक और दूसरे हाथ में तलवार दिखाई गई है। भूल, गलती से बाइबल समझी गई पुस्तक तथ्यतः भगवान् कृष्ण की भगवद्गीता है जिसके दो स्पष्ट, सरल कारण हैं जिनमें से पहला यह है कि उस समय के अन्य सभी लोगों के समान ही पॉल भी अपनी शैशवावस्था से ही भगवान् कृष्ण की पूजा करनेवाला और भक्त था तथा दूसरा यह है कि बाइबल जैसी हम इसे आज पाते हैं, सेंट पॉल के जीवन-काल में संकलित ही नहीं हुई थी। इतना ही नहीं, तलवार भी, एक प्रकार से भगवद्गीता की ही प्रतीक है क्योंकि युद्धक्षेत्र में अपने शिष्य अर्जुन को दिए गए भगवान् कृष्ण के भगवद्गीता के संदेश, उपदेश ने ही अन्ततोगत्वा अपने कर्तव्य-पालन हेतु अन्तिम क्षण तक युद्ध करने के लिए अर्जुन का फौलाद का दिल बना दिया था।

कठोर अनुशासन के इस सिद्धान्त के माध्यम से ही हिन्दुओं ने लक्षावधि वर्षों तक विश्व पर शासन किया था। हिन्दू सम्राटों और ऋषि-मुनियों ने जब इस कठोर अनुशासन के उच्च मानक आदर्श में शिथिलता, ढील कर दी तभी यह विश्व विभिन्न परभक्षी, लुटेरे समुदायों का शिकार हो गया जिससे सभी कानून, व्यवस्था, शान्तिपूर्ण प्रगति और सज्जनता का अन्त

१. कोल्लिअर्स एन्साइक्लोपीडिया, वाल्यूम 7, पृष्ठ ३३३-३४।

आ गया।

चित्र में पॉल के हाथ में दिखाई गई पुस्तक यदि बाइबल होती तो वह असंगत, असम्बद्ध होती क्योंकि जीसस की धर्म-पुस्तक तो दूसरा गाल भी मार, थप्पड़ खाने के लिए कर देने का उपदेश देती है। जीसस के बारे में स्वयं ही कोई दावा नहीं किया जाता कि उसने कभी कोई हथियार उठाया था। फिर उसका एक अनुयायी पॉल किस प्रकार तलवार ग्रहण कर सकता था? यह सिद्ध करता है कि पॉल उपनाम सॉल एक हिन्दू था जो भगवद्-गीता का प्रचार करता था।

पॉल को सिर पर बाल व दाढ़ी सहित चित्रित किया जाता है। उसे एक कुर्ता-धोती धारण किए दिखाया जाता है जो पहली शताब्दी में हिन्दू-प्रचारक की परम्परागत वेशभूषा थी।

पॉल को यहूदी वर्णित किया जाता है। किन्तु यहूदी तो स्वयं भगवान् कृष्ण के अनुयायी हैं। अतः आधुनिक शब्दावली में यहूदी लोग हिन्दू रहे हैं और आज भी हिन्दू ही हैं।

अपने जीवन के प्रारम्भिक कालखंड में पॉल कृस्ती चर्च का घोरतम शत्रु था किन्तु बाद में उसके जीवन ने पूरी कलाबाजी खा ली और वह एक उत्साही कृस्ती धर्म-प्रचारक और धर्मशास्त्री बन गया। उसके पत्र सबसे पूर्व-काल के विद्यमान कृस्ती-दस्तावेज़ हैं जो नव-विधान के धर्मग्रन्थों से भी पूर्व-तारीख के हैं।

पॉल का जीवन-चरित नव-विधान और उसके पत्राचार से उपलक्षित करना, अनुमानतः समझना है। वे दो स्रोत भी अविश्वसनीय हैं। उसके पत्राचार में से रोमन्स, I व II कोरिंथयंस तथा गैलाशियंस वास्तविक, असली समझे, माने जाते हैं। किन्तु पत्रों से स्वयं ही पॉल के जीवन की कोई सम्बद्ध कथा किसी को मिलती नहीं। पॉल की मृत्यु के ३० वर्ष बाद लिखे गए कार्य-चरित उसके जीवन-काल के बारे में कुछ साक्ष्य रखते हैं। किन्तु इससे उसके पत्रों द्वारा प्राप्त विवरण से मेल नहीं बैठता। कुछ विद्वान् (नवविधान में, पट्ट-शिष्यों, धर्म-प्रचारकों के) चरितों के इतिहास पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। कुछ लोग विश्वास करते है कि चरित का लेखन पॉल के साथी सुसमाचार लेखक लूके द्वारा हुआ था। धर्म-प्रचारकों के चरित में

आधे से अधिक भाग में पॉल का चरित है। और यह पॉल द्वारा लिखित तथा उसके नाम में सम्बोधित पत्रों को मिलाकर नवविधान का एक-तिहाई भाग बन जाता है।

पॉल का जन्म 'एशिया लघु'(एशिया माइनर) के एक जिले सिलिसिया में तारसुस नामक स्थान पर हुआ था। तारसुस मुख्य पूर्व-पश्चिम व्यापार-मार्ग पर स्थित महानगरीय विश्वविद्यालय स्तरीय उच्च शिक्षा का केन्द्र नगर था। यह नगर कई स्टोइक सुख-दुःख उपेक्षी दर्शनों का घर था। स्टोइक लोग हिन्दू थे। यह संस्कृत शब्द 'स्तविक' है जो संयमी, मिताहारी बनने के लिए ध्यान, साधन में लगे रहते हैं। पॉल को अपने महानगर और हिन्दू पृष्ठभूमि का गर्व, स्वाभिमान था। उसके वातावरण, परिसर को यूनानी कहना, जैसा विद्वानों का अभ्यास है, गलत है। यूनानी और रोम-निवासी हिन्दू देव-देवियों की पूजा करते थे, हिन्दू कर्मकाण्डों और त्योहारों का पालन करते थे—उनको मनाते थे तथा संस्कृतनिष्ठ भाषाएँ, बोलियाँ बोलते थे। पॉल ने अपने पिता से रोम की नागरिकता ग्रहण की। उसने यहूदी सॉल के स्थान पर अपना रोमन नाम पॉल रखना ही अच्छा, रुचिकर, श्रेयस्कर माना। यह एक सहज, स्वाभाविक मानव-कमजोरी है। लोग वही करना चाहते हैं जो उनके शासकों के आचरण के अनुसरण में होता है या, हम कह सकते हैं कि प्रशासकों द्वारा प्रयुक्त नाम सुगमता, सरलता से चल पड़ता, रूढ़-स्थायी बन जाता है।

चरित के अनुसार, कानून के सुप्रसिद्ध प्रचारक गमालील I द्वारा ही पॉल को एक 'रब्बी' होने के लिए प्रशिक्षित किया गया था। यह रब्बी शब्द भी सूर्य, सूरज के अर्थ-द्योतक संस्कृत शब्द 'रवि' का अपभ्रंश ही है। अधिकांश रब्बियों के समान ही पॉल ने भी व्यापार अर्थात् तम्बू-निर्माण का कार्य सीख लिया। विद्वानों ने सही निष्कर्ष निकाला है कि पॉल ने कभी जीसस से भेंट नहीं की किन्तु वही विद्वान् यह खोज पाने में विफल रहे कि पॉल और जीसस परस्पर कभी नहीं मिले मात्र इस कारण कि जीसस जन्मा ही कभी नहीं था। तथ्य तो यह है कि पॉल जानता था कि जीसस तो मात्र मनगढ़न्त, काल्पनिक कथा ही है। यही कारण है कि अपने जीवन-काल के प्रारम्भिक चरण में पॉल ने कृस्तियों को पीड़ित किया था।

किन्तु प्रतीत होता है कि पॉल का अतिसंवेदनशील भावुक स्वभाव था जो एक अति से दूसरी अति पर अति शीघ्रता से परिवर्तित हो जाता था। जीसस से घृणा, द्वेष करनेवाला पॉल किस प्रकार जीसस-प्रशंसक बन गया —इस तथ्य का उल्लेख करते हुए ब्रिटिश ज्ञानकोश का कहना है कि, "दमिश्क की सड़क पर दृष्टिपात से पॉल को निश्चय हो गया कि सूली-दण्डित यह जीसस पुनः जीवित हो गया था। इस अनुभव के तुरन्त बाद पॉल अरेबिया में एकाकीपन में चला गया···परवर्ती वाद-विवाद में उसका साग्रह कथन था कि उसने सीधे कृस्त (क्राइस्ट) से ही न केवल पट्ट-शिष्यत्व ग्रहण किया था अपितु अपना धर्मग्रन्थ भी···उसने तथापि उन परम्पराओं को भी उन लोगों से ग्रहण करने की बात कही जो उससे पूर्व कृस्ती थे।"[1]

लोग ज्ञानकोश में दिए गए कथनों को सामान्य आधिकारिक और पूर्णतः सही, सटीक मानते हैं। परन्तु इन ज्ञानकोशों में लिखित सहयोग, योगदान करनेवाले हमारे ही समान श्रमशील, अविश्वसनीय भी हो सकते हैं क्योंकि वे भी हममें से ही तो होते हैं। ब्रिटिश ज्ञानकोश भी कोई अपवाद नहीं है। हम पाठकों के ध्यान में यह तथ्य लाना चाहते हैं कि ब्रिटिश ज्ञान-कोश में भी कई विषयों के बारे में भयंकर भूलें समाविष्ट हैं। उदाहरण के लिए, उक्त ज्ञानकोश निरन्तर यही कहता चला आ रहा है कि ताजमहल मकबरा १७वीं शताब्दी में मुगल बादशाह शाहजहाँ द्वारा बनवाया गया था, यद्यपि हम अपने शोध-प्रकाशन 'ताजमहल मन्दिर भवन है' द्वारा इसे अधिक प्राचीन शिव-मन्दिर सिद्ध कर चुके हैं।

बम्बई उच्च न्यायालय के २०वीं सदी के एक न्यायमूर्ति श्री म० गो० रानाडे का नाम इस ज्ञानकोश में गलत वर्तनी में दिया गया है महादेव गोविन्द रानाडे जबकि उनका सही नाम था माधव गोविन्द रानाडे। प्रथम नाम की वर्तनी गलत की गई है। हिन्दू-परम्परा से अनभिज्ञ लोग इसे छोटी-सी वर्तनी की त्रुटि कहकर उपेक्षा कर देना चाहेंगे किन्तु जो लोग इन दो नामों के बीच का अन्तर समझते हैं वे गलती की गम्भीरता की अनुभूति कर लेंगे। हिन्दू देवताओं में महादेव एक ईश्वर है और माधव

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १९७४, खण्ड १३, पृष्ठ १०९१।

दूसरा। दोनों ही विशिष्ट चारित्रिक विभूतियाँ हैं—उनके भिन्न-भिन्न गुण हैं। प्रथम को संस्कृत देवनागरी लिपि के चार अक्षरों में लिखा जाएगा 'महादेव' जबकि दूसरे को तीन अक्षरों में 'माधव'। उनके अर्थ, स्वराघात और जीवन-कथानक भी भिन्न हैं।

इसी प्रकार तीसरी भयंकर भूल पॉल और कृस्ती-पंथ (क्रिश्चियनिटी) के बारे में है। यह हमारे लिए उचित ही होगा कि हम ज्ञानकोशकारों को दोष न दें कि वे हमारी इस खोज का पूर्वाभास न कर सके कि जीसस तो कथा-मात्र, कल्पना ही है किन्तु ज्ञानकोश को इस बात के लिए तो दोषी ठहराया ही जाएगा कि यह स्वयं अपने कथन का आशय, महत्त्व नहीं समझ पाया। हम इसी बात को यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं।

उक्त ज्ञानकोश स्वीकार करता है: "यह सम्भव नहीं है कि (पॉल) कभी जीसस को मिला हो···तथापि, जरुस्लम में, उसने जीसस के बारे में काफी जान लिया था जिससे वह पाखण्डी यहूदीवाद के लिए जीसस को एक संकट मानने लगा था, क्योंकि पॉल सर्वप्रथम इतिहास के पटल पर कृस्ती चर्च के पीड़क के रूप में प्रकट होता है।"[1]

आइए, हम उपर्युक्त उद्धरण का विश्लेषण करें। यदि पॉल सर्वप्रथम कृस्ती-पंथ का प्रबल विरोधी था और बाद में इसका एकनिष्ठ अनुयायी बन गया, तो क्या वह जीसस को कभी मिला नहीं होगा, या कभी समूह में लोगों से बात करते हुए या सार्वजनिक सभाओं में प्रवचन करते हुए जीसस को देखा या सुना नहीं होगा? यह कहना कि जीसस और पॉल समकालीन थे जो वर्षों तक जरुस्लम में एक ही समय पर रहे थे; कि दोनों यहूदी थे; कि जीसस एक महान् सार्वजनिक, लोक-प्रचारक था; कि पॉल पहले तो जीसस का प्रबल विरोधी था किन्तु बाद में उसका अनन्य अनुयायी और स्वयं पट्ट-शिष्य भी बन गया था; और कि फिर भी पॉल ने सारा जीवन कभी भी, तनिक दूर से भी जीसस को नहीं देखा, अत्यन्त अनोखा, बेतुका है। बुद्धिजीवियों की यही तो मन्द-बुद्धित्व है जिसकी हम निन्दा करना चाहते हैं। वे जो कुछ भी लिखते हैं, स्वयं उसका अर्थ व महत्त्व समझते

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १९७४, खण्ड १३, पृष्ठ १०९०।

प्रतीत नहीं होते।

और भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि अगले ही पृष्ठ पर उक्त ज्ञानकोश कहता है कि, "दमिश्क जानेवाली सड़क पर दृश्य से पॉल यह मान गया कि सूली-दण्डित यह जीसस पुनः जीवित हो चुका था।" यहाँ फिर एक ऐसा कथन है जो आभास देता है कि जीसस और कृस्ती-पंथ पॉल के माया-मोह, मतिभ्रम और दिवा-स्वप्नों से उत्पन्न हुए हैं। उक्त कथन में भी एक बहुत अच्छा संकेतक है जिसका निहितार्थ इस ज्ञानकोश के लिए उक्त रचना का सहयोग देनेवाले लेखक की दृष्टि से भी ओझल हो गया है। यदि पॉल ने सचमुच यह विश्वास किया था कि सूली-दण्ड प्राप्त जीसस पुनः जिन्दा हो चुका था तो क्या वह उस (जीसस) को स्वयं व्यक्तिशः मिलने के लिए आतुर होकर भेंट करने न गया होता। अपने श्रद्धा-पात्र के दर्शन हेतु विशेषकर तब जबकि पॉल जीसस का अडिग भक्त हो गया था और किसी मृत व्यक्ति का पुनर्जीवित हो जाना चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। यही तथ्य, कि जीसस के पुनर्जीवित हो जाने के बाद भी पॉल उसको कभी नहीं मिला और जीसस को बोलते, प्रवचन करते पॉल ने कभी उसे देखा नहीं, स्पष्ट प्रमाण है कि जीसस का कोई अस्तित्व था ही नहीं, कि वह कभी जन्मा ही नहीं था—विद्यमान हुआ ही नहीं। आश्चर्य होता है कि विद्वानों की पीढ़ियाँ किस प्रकार इस तथ्य को दृष्टिगोचर करने से रह गई हैं। मनुष्य की सीमाओं की यह द्योतक है। मनुष्य कुछ खास वशीकरण या सम्मोहन में कार्य करता है और इसीलिए स्पष्टतः सत्य तत्त्व को ग्रहण करने से भी प्रायः वंचित रह जाता है। ताजमहल-प्रकरण और जीसस-प्रकरण ऐसे ही दो चकाचौंध करनेवाले उदाहरण, दृष्टान्त हैं। कम-से-कम दो शताब्दियों से तो लोग कृस्त (क्राइस्ट) के अस्तित्व पर ही शंका करते हैं। इसी प्रकार, मेरा यह शोध प्रसिद्ध हुए भी एक दशक से अधिक समय हो चुका है कि विश्व-पर्यटन का एक आकर्षण केन्द्र ताजमहल मन्दिर भवन है, न कि विश्व को घोषित मकबरा; फिर भी लोग अपनी इसी भयंकर भूल-वाली धारणा से चिपके रहना ही पसन्द करते हैं। उनको एक नग्न सत्य की अपेक्षा चमक-दमकवाली झूठ ज़्यादा आकर्षक लगती है। यही कारण है कि वे परिचित असत्य को प्यार करते हैं और अपरिचित, अलोकप्रिय सत्य को

अस्वीकार करते, ठुकराते रहते हैं।

बाद के वाद-विवादों में जब कभी पॉल यह आग्रह करता था कि उसने स्वयं जीसस से ही दीक्षा व धर्मग्रन्थ प्राप्त किए थे, जैसा कि विश्व-ज्ञानकोश में उल्लेख है, तब पॉल अपने प्रश्नकर्ताओं पर अपनी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने के लिए झूठ बोल रहा था या फिर (मति) विभ्रमों से ग्रसित व्यक्ति होने के कारण अपने विविध दृश्यों पर ही पॉल ने सचमुच विश्वास, भरोसा कर लिया हो। ये दृश्य कितने शक्तिशाली हो सकते हैं—उसका दिग्दर्शन जोन ऑफ आर्क के जीवन से चरितार्थ होता है जो मात्र एक देहाती, भोली-भाली लड़की होने पर भी, युद्ध में प्रशिक्षित सैनिकों का नेतृत्व करने को प्रेरित हो गई थी।

पॉल ने उसके दिव्य दर्शन कर लेने के बाद जरुस्लम में पीटर और जेम्स के पास मिलने-जुलने में दो सप्ताह गुजार दिए। एक बार दमिश्क जाने पर पॉल को विवश हो अपनी जान बचाने के लिए भाग जाना पड़ा था। क्रुद्ध भीड़ के हाथों मौत से बचाने के लिए पॉल को नगर के गहरे कुएँ में एक टोकरी में लटका दिया गया था। पॉल स्वयं इस बचने के प्रसंग का उल्लेख II कोरिंथियंस में करता है।

पॉल का जीवन-चरित पूरी तरह ज्ञात नहीं है। कई तिथि क्रमगत व अन्य दोष विभिन्न स्थानों की उसकी यात्राओं में पाए जाते हैं। जब तक कि धर्म-प्रचारक बर्नाबस को वह नहीं मिला था और फिर वह पॉल को अनटिओक ले गया था, तब तक उसकी वयस्कावस्था के पूरे दस वर्ष पूरी तरह अज्ञात हैं, और उस दशक में पॉल मानसिक रूप से अस्थिर, उदास या पागल व अव्यवस्थित भी था—इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता।

जैसा आजकल विश्वास किया जाता है, जीसस के जीवन-चरित में भी १२ वर्ष का शून्य है जिसके बारे में कुछ पता नहीं है—जीसस का कोई कार्यकलाप किसी को मालूम नहीं है। यह एक अन्य ब्योरा है जो हमारी इस धारणा को पुष्ट करता है कि बाइबल का काल्पनिक जीसस वास्तव में पॉल का व्यक्ति-निरूपण ही है।

बर्नाबस, पॉल और टाइटस इकट्ठे जरुस्लम गए। वहाँ के कृस्ती-नेताओं जेम्स, पीटर और जोहन को मिले। उन सभी ने कृस्ती-पंथ का

प्रचार करने का निश्चय किया। इसी अवसर का कृस्ती-पंथ का शुभारम्भ करने का बिन्दु सम्भवतः माना जा सकता है। ये छः उत्साही, महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति, जो अभी तक स्वतन्त्र रूप से उस समकालीन शून्य को अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर भरने के प्रयत्न में लगे थे जो हिन्दू शासन के लिए निरुपयोगी हो गए पृथक्-पृथक् हिन्दू-पंथो के मध्य पैदा हो गया था—देख सके कि एक नया पंथ शुरू किया जा सकता था। उनकी अपनी कोई दार्शनिकता या धर्म-विज्ञान नहीं था। फिर भी उनके हौसले कम नहीं हुए। वे परस्पर एक स्थान पर मिलते, योजना बनाते, चर्चा करते और अपने-अपने भावी स्वप्नों और अन्य अनुभवों को एक-दूसरे को सुनाते थे। ऐसी सम्भावनाएँ देखकर तथा मानव-स्वभाव पर विचार करें तो हो सकता है कि वे जो एक-दूसरे को बताते थे वे आध्यात्मिक अनुभव न होकर काल्पनिक सुखानुभूति हो, मनगढ़न्त अनुभव व योजनाएँ हों जो ऐसे नए संगठनों के निर्माण के उद्देश्य से हों जिनके वे स्वयं उच्चाधिकारी बन सकें; यथा—अमरीकी उपनिवेशों में संस्थापक जनक हुए हैं। कृस्ती-पंथ ने जिस प्रकार विश्व पर अपना प्रभुत्व फैलाया, उससे यह स्पष्ट है कि जो कुछ एकमात्र अति क्षीण धारा के रूप में शुरू हुआ था वह बढ़कर विशाल सागर का रूप ले बैठा। किन्तु उस तथ्य से उलटी दृष्टि से यह तर्क देना अनुचित होगा कि कृस्ती-पंथ का विकास इसकी दार्शनिकता की प्रभावकारिता या इसमें अन्तर्निहित सत्य अथवा सामर्थ्य के कारण हुआ। यह तो रोमन हथियारों के अवलम्ब के साथ ही कृस्ती-पंथ की लता सर्वप्रथम सारे यूरोप में फैलाई गई और फिर अन्य यूरोपीय राष्ट्रों के शस्त्रास्त्रों के बल पर एशिया के बड़े हिस्सों पर भी यह छा गई।

जरुस्लम से यह टोली और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई अपनी नई दिमागी लहर को अभिमानस्वरूप आगे बढ़ाने के लिए। हो सकता है कि वे जो कुछ खोज रहे थे वह राजनीतिक साम्राज्य हो, किन्तु निःशस्त्र होने के कारण वे अपने अनुयायियों का प्रवेश विशाल मात्रा, संख्या में केवल धार्मिक प्रेरणा पर ही करने की आशा कर सके हों। इसके लिए विभिन्न शहरी केन्द्रों में विभिन्न सामाजिक समूहों का पता लगाना और उनको साथ लेना जरूरी था जो उन्हीं के समान एक नई यात्रा पर चल पड़ने को तैयार हों। हर युग

में, और हर समाज में हमेशा ऐसे कमजोर, डाँवाडोल मनःस्थितिवाले व्यक्ति होते ही हैं जो अपने-आपको नई आन्दोलनकारी शक्तियों के सम्मुख नत होकर उनके साथ चल पड़ते हैं क्योंकि उनकी जड़ें अपनी परम्परा में भावनात्मक रूप से गहरी नहीं होतीं। साहसी नए आन्दोलनकारी लोग प्रायः यह प्रयोग करने के लिए तैयार रहते हैं कि मानवता के विशाल सागर में उस लहर को बल दे सकें जिस पर आरूढ़, सवार होकर वे आगे बढ़ सकें।

पॉल और बर्नाबस तथा इसका चचेरा भाई मार्क साइप्रस में अभियान हेतु चल पड़े। उन्होंने जिन स्थानों को चुना, वे प्रसिद्ध कृष्ण-पूजा केन्द्र थे जहाँ विशाल जन-उपस्थिति होती थी। इन लोगों में भी शीघ्र ही मतभेद होने लगे। तुर्की में आधुनिक मुर्तना के निकट परगा में साथ छोड़कर मार्क अपने घर के लिए चल पड़ा। पॉल अत्यधिक अनमना, अव्यवस्थित था। इस बात का उसे खतरा था कि मार्क पॉल व अन्य लोगों के खिलाफ काम करे। तुर्की में आधुनिक हतूनासराय के पास लिस्तरा में पॉल को पत्थर मारे गए और उसे मृत समझकर लोग छोड़ गए। सूली-दण्ड पाने के बाद जीसस के पुनर्जीवित हो उठने का विचार पॉल के इसी अनुभव से जन्मा था।

पॉल ने बर्नाबस के समक्ष अन्य दौरे का प्रस्ताव रखा किन्तु चूंकि मार्क पॉल के विरोधी गुट का था, इसलिए बर्नाबस ने अपने चचेरे भाई मार्क का पक्ष लिया और वे दोनों साइप्रस वापस लौट आए।

पॉल ने अब एक अन्य साथी सिलास अपने साथ लिया जिसके नाम की रोमन वर्तनी सिलवानस करते हैं। यह भगवान् शिव का संस्कृत नाम है। सिलास शैलेश अर्थात् पर्वत-वन का स्वामी भगवान् है। भगवान् शिव हिमालय में कैलाश (पर्वत) शिखर के स्वामी भगवान् के रूप में विश्व-विख्यात हैं।

पॉल की धर्म-प्रचार नीति रोमन-प्रभाव के विशाल केन्द्रों पर ध्यान देने की थी। कृस्ती-पंथ ने अपना सबसे पहला कदम मेसेडोनिया में फिलिप्पी की रोमन बस्ती में जमाया था, वहाँ विचार-विमर्श का प्रथम केन्द्र संस्कृत के चर्चा शब्द से व्युत्पन्न 'चर्च' बनाया गया था।

"कृस्ती-पंथ की इन प्रारम्भिक दिनों की असम्बद्ध, असंगत, अण्ड-बण्ड कथा कहती है कि एक मनोरोगी दासी कन्या के उपचार के बाद रोमन-

विरोधी प्रथाओं के आरोप पर पॉल और सिलास को कारावास-दण्डित किया गया था किन्तु क्षमा-याचनाओं के साथ उनको तब छोड़ दिया गया था जब उन्होंने अपनी रोमन-नागरिकता जाहिर कर दी।"[१]

हम आश्चर्य करते हैं कि कोई भी सतर्क, चौकस बुद्धिजीवी इस प्रकार के कथन को किस प्रकार बिना परखे ही मान्य कर ले। आधुनिक विद्वत्ता के साथ यही तो खराबी, घपलेबाजी है। इस प्रकार के बेहूदा कथनों को भी सूत्र, आदर्श घटनाएँ कहकर प्रचलित होने दिया जाता है। यदि पॉल और सिलास ने सचमुच एक मनोरोगी कन्या को उपचार से स्वस्थ कर दिया होता तो सरकारी अधिकारियों को तो उन दोनों को पुरस्कृत करना चाहिए था और सामान्य जनता ने उनको अपना देवदूत, पैगम्बर समझा, माना होता। उस स्थिति में इन दोनों ने अविद्यमान जीसस के नाम में प्रचार न किया होता।

उनको कारावास दिए जाने का तथ्य इस बात का द्योतक है कि उन दोनों का उक्त कन्या के साथ कोई अनुचित घालमेल था या वे उसकी कीमत पर सस्ती लोकप्रियता चाहते थे। जाँच-पड़ताल होने पर वे दोनों या तो झूठे, पाखण्डी नीम-हकीम चिकित्सक पाए गए होंगे या फिर अनैतिक व्यवहार, आचरण के दोषी।

थेसल्लोनिका[२] में उनके तीन सप्ताह के प्रचार से दंगा हो गया। पॉल जहाँ कहीं गया, नागरिक अव्यवस्था होती गई। यह एक अन्य संकेतक है कि पॉल द्वारा प्रचार किसी धार्मिक आधार पर होना तो दूर, राजनीतिक द्रोह तथा खतरेवाला माना, समझा गया था। समय से पूर्व ही चले जाने के कारण पॉल और सिलास क्रुद्ध थेसल्लोनिका-वासियों के हाथों मारे जाने से बच सके। फिर भी, जनता उनसे इतनी कुपित, नाराज थी कि एक क्रुद्ध भीड़ उनके पीछे-पीछे निकटवर्ती नगर बोरोइयो तक गई और उस नगर से

---

१. ब्रिटिश विश्व ज्ञानकोश, सन् १९७४, खण्ड १३, पृष्ठ १०९२।

२. प्रथम शब्द 'ओनिका' सेना का द्योतक संस्कृत शब्द 'अणिक' है। हिन्दुओं के विश्वव्यापी विस्तार की अवधि में 'थेसल्लोनिका' और वैसी ही 'ओनिका' में समाप्त होनेवाले स्थान सैनिक छावनियाँ थीं।

भी उनको बाहर धकेल दिया। उन दोनों को कोई प्रचार-कार्य करने की अनुमति नहीं दी गई। भीड़ द्वारा पॉल का पीछा किए जाने का अनुभव जीसस की काल्पनिक कथा में भी प्रतिबिम्बित होता है।

पॉल वहाँ से एथेन्स चला गया जहाँ सिलास और तिमोथी उसके साथ आ मिले। वहाँ पॉल बीमार हो गया। बाद में वह कोरिन्थ चला गया जो कृष्ण-पूजा का एक अन्य केन्द्र था। वहाँ पॉल अक्वीला और प्रिस्सिला के साथ रहा। कृस्ती-पंथ में परिवर्तित होनेवाले शुरू के दम्पति-युगलों में से यह एक युगल था। पॉल के समान ही ये स्वयं भी तम्बू-निर्माता होने के कारण इनसे पॉल के नए आस्था-पंथ में सम्मिलित होने की चर्चा की जा सकती थी।

ईसा-पश्चात् सन् ५७ के प्रारम्भ में पॉल कोरिन्थ में अन्तिम बार था। वह नीरो के शासन-काल में (ईसा-पश्चात् ५४-६८ में) रोम में मार डाला गया था।

ब्रिटिश ज्ञानकोश पॉल का वर्णन इस प्रकार करता है : "वह विविध विषमताओं, विरोधोंवाला व्यक्ति था। शारीरिक रचना में छोटा और अ-प्रभावी, यद्यपि एक सहज प्राकृतिक भाषणकर्ता न था, फिर भी आध्यात्मिक शक्ति की ताप-दीप्ति से वह श्रोताओं, सभा को प्रभावित कर सकता था। किसी को भी अपने से उच्च स्वीकार न करते हुए अपनी कठोर स्वतन्त्रता के आग्रह पर वह हिंसक भी हो सकता था। वह भावातिरेक के पंखों पर ऊँचा उठता हुआ एक ही समय स्थिर व अस्थिर, दोनों ही हो सकता था। उसे वाणी और भविष्यकथन के उपहार प्राप्त थे तथा दिव्य-दृष्टि या भाव-समाधि के आन्तरिक अनुभव भी यदा-कदा होते रहते थे।"

पॉल ने भगवान् कृष्ण की बजाय एक भिन्न संरक्षक अर्थात् जीसस के बारे में जब से बोलना शुरू किया तभी से उसके अपने परिवार द्वारा वह अलग कर दिया गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि उसका अपना परिवार इस धारणा का था कि या तो पॉल कुछ विक्षिप्त है अथवा वह जान-बूझकर उस जीसस के बारे में लोगों को भ्रमित कर रहा है जो कभी जन्मा था ही नहीं। पॉल के जीवन से सम्बन्धित एक पुस्तक में लेखक का कहना है : 'पॉल द्वारा कृस्ती-पंथ स्वीकार कर लेने के कारण पॉल अपने

परिवार से अलग कर दिया गया था और पाल उक्त परिवार के उत्तराधिकार से भी वंचित कर दिया गया था।"[१]

चूंकि उन दिनों में रब्बी का पद व व्यवसाय सम्मानजनक, प्रतिष्ठापूर्ण समझा जाता था, इसलिए पॉल को छोटी ही उम्र में गमालियल नामक एक गुरु के पास भेज दिया गया था जो जरुस्लम में रहता था। स्पष्टत: जब पॉल एक पुरोहित के नाते योग्यता प्राप्त कर चुका, तब उसे जरुस्लम स्थित केन्द्रीय कृष्ण मन्दिर में ही नियुक्ति दे दी गई। जरुस्लम स्थित कृष्ण-स्थापना ही बेथलेहम और कोरिन्थ जैसे कृष्ण मन्दिरों का नियन्त्रण करती थी। पुरोहित और अन्य प्रशासकगण एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्राय: अदल-बदल, स्थानान्तरित कर दिए जाते थे।

किन्तु गैर-विद्यमान जीसस के बारे में पॉल द्वारा चर्चा किए जाने से पूर्व ही स्टीफन नामक एक यूनानी यहूदी पहले ही कृष्ण-स्थापना के विरुद्ध विद्रोह कर बैठा था। इस बात की खोज आगे की जानी जरूरी है कि क्या स्टीफन मात्र एक विद्रोही था जो सत्ता और प्राथमिकता चाहता था, या उसने किसी अन्य आधार पर सत्ताधिकारियों से लड़ाई-झगड़ा कर लिया था, या कि वह मानसिक रूप से असंतुलित था? किन्तु यह तो स्पष्ट है कि स्टीफन इतना अधिक अवज्ञाकारी और दुर्विनीत, उद्धत हो गया था कि उस पर जरुस्लम में कृष्ण मन्दिर-न्यायालय में ईश-निन्दा के लिए मुकदमा चलाया गया था। सुनवाई के दौरान उसने असंयमित भाषा का प्रयोग किया था और उसने उलटे न्यायाधीशों पर मसीहा को अस्वीकार करने तथा ईश्वर के पुत्र की हत्या करने का दोष मढ़ डाला था। स्थिति पर विचार करते हुए, स्टीफन द्वारा प्रयुक्त दुर्विनीत, असंयमी भाषा को उस समय एक अस्थिर, विक्षिप्त व्यक्ति की भाषा ही समझा गया होगा क्योंकि जीसस को तो कोई जानता ही नहीं था। जीसस के सम्बन्ध में कोई चर्चा थी ही नहीं और न ही इस सम्बन्ध में कोई साहित्य था। स्टीफन का तात्पर्य कदाचित् यह था कि कृष्ण मन्दिर पर नियन्त्रण रखनेवालों ने अपने

---

१. डब्ल्यू० एच० डी० ऐडम्स विरचित 'सेंट पॉल : हिज़ लाइफ़, हिज वर्क एण्ड हिज राइटिंग्स', पृष्ठ १३।

कर्मों से कृष्ण (मसीहा अर्थात् महेश) का अस्वीकार, अमान्य कर दिया था और (कम-से-कम आकृति-रूप में तो) इसकी हत्या कर ही दी थी। ऐसी भाषा का प्रयोग उन क्रुद्ध लोगों द्वारा प्रायः किया ही जाता है जब वे अपने पूर्वकालिक मित्रों, साथियों से रुष्ट हो जाते हैं। किसी भी विवाद में अपने को सही पक्ष में समझनेवाले लोग 'ईश्वर' की भी हत्या कर देने के लिए दूसरे पक्ष पर आरोप लगाते ही हैं। जिस प्रकार स्टीफन को शारीरिक रूप से उठाकर मन्दिर से बाहर फेंक दिया गया था और पत्थर मार-मारकर उसकी हत्या कर दी गई थी, उससे यह सम्भव लगता है कि उसके आरोपियों को शक था कि स्टीफन किसी घातक हमले की संगठना कर रहा था। पॉल स्वयं उन लोगों के साथ था जो ऐसे विद्रोही कार्यों को सख्ती से कुचल देने के पक्ष में थे। एक क्रूर उत्पीड़क के रूप में पॉल का नाम उन दिनों सबसे आगे था।

विडम्बना यह रही कि स्टीफन को क्रूर मृत्युदंड का समर्थन करनेवाला पॉल बाद में स्वयं ही समान रूप से उग्र विद्रोही हो गया। स्टीफ़न प्रथम (प्रसिद्ध) कृस्ती-शहीद माना जाता है। हम मानते हैं कि स्टीफन की जीवन-कथा का अन्वेषण करना जरूरी है। उसका नाम प्रथम शहीद के रूप में सूचीबद्ध किया जाना पश्च-दृष्टि का परिणाम मालूम पड़ता है। हो सकता है कि उसका झगड़ा किसी छोटे-मोटे, निजी कारणों—स्वार्थोंवश उत्पन्न हो गया हो। यदि ऐसा हो, तो उसे उस जीसस या जीसस के विश्वास, आस्था-धर्म के लिए शहीद हुआ कैसे माना जा सकता था जो उस समय कभी विद्यमान, अस्तित्व में था ही नहीं ?

जो विश्वास करते हैं कि पॉल जीसस का अनुयायी था और उसने जीसस को देखा था, वे श्री ऐडम के शब्दों की ओर ध्यान दें अर्थात् : "यह विश्वास करने का कोई कारण, आधार नहीं है कि उस (पॉल) ने संरक्षक (जीसस) को कभी भी हाड़-मांसयुक्त (सशरीरी) देखा था। जब उसने कोरिन्थियनों को प्रथम धर्म-पत्र में टिप्पणी की थी कि 'क्या मैंने भगवान् को नहीं देखा है ?' तब वह दमिश्क जानेवाली सड़क पर के दृश्य की ओर

संकेत करता है।"[1]

इससे यह स्पष्ट है कि जब कभी पॉल ने भगवान् से भेंट-मुलाकात करने या उन्हें देख लेने की बात कही थी, तब उसका आशय भगवान् कृष्ण से था—जीसस कृस्ती (क्राइस्ट) से नहीं। इतना ही नहीं, यदि पॉल ने जीसस की बात भी कही तो यह ऐसे थी मानो उसने एक स्वप्न में जीसस को देखा था या किसी भ्रम में जीसस उसे ऐसा दिखाई पड़ा था। तीसरी बात यह है कि किसी एक दृश्य में भगवान् के दर्शन कर लेने का दावा तो झूठा भी हो सकता था क्योंकि कोई भी आदमी किसी दृश्य या स्वप्न में कुछ भी देखने का दावा कर सकता है। क्या कसौटी है—गारंटी है कि वह व्यक्ति सत्य ही बोल रहा है ? और यदि उसने स्वप्न में या किसी भ्रम में सचमुच ही भगवान् के दर्शन किए भी थे तो इस घटना से दुनिया के बाकी लोगों को लेना-देना क्या है ? अन्य लोगों के लिए इसकी सार्थकता है भी क्या ? लाखों-करोड़ों लोगों को हर रोज ऐसे असंख्य स्वप्न आते होंगे।

श्री ऐडम्स ने अपनी पुस्तक के एक पद-टीप में पर्यवेक्षण किया है : "संत पॉल का सम्बन्ध फरीसियों, पाखंडियों के उस अतिवादी वर्ग से रहा प्रतीत होता है जिसे स्वयं को 'कानून के कट्टर समर्थक, ईश्वर के कट्टर-भक्त' कहने में गर्व अनुभव होता था।"[2] यह हिन्दू शब्दावली है। प्राचीन-काल में हिन्दुओं को मनु की विधि-संहिता 'मनुस्मृति' और स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा दिए गए धर्मोपदेश 'भगवद्गीता' का पालन करने में गौरव अनुभव होता था। कानून 'धर्म' अर्थात् कर्त्तव्य-पालन था और प्रत्येक हिन्दू के लिए कठोर कर्त्तव्य-पालन-कर्ता होना सम्मान की बात होती थी।

पॉल जरुस्लम और कोरिन्थ स्थित दो महत्त्वपूर्ण कृष्ण मन्दिरों में ही क्रमशः रहा करता था जहाँ संस्कृत शिक्षण पर्याप्त समय से रुक जाने के कारण कृष्ण का उच्चारण कृस्त किया जाने लगा था।

---

१. डब्ल्यू० एच० डी० ऐडम्स विरचित 'सेंट पॉल—हिज़ लाइफ़, हिज वर्क एण्ड हिज़ राइटिंग्स', पृष्ठ १६।

२. वही, पृष्ठ १४।

कोरिन्थ इस्थमस के दक्षिण-पश्चिमी सीमान्त पर स्थित है जो यूनान (ग्रीस) की मुख्य धरती को पेलोपीनीस से जोड़ता है। कृष्ण की कथात्मक राजधानी द्वारका समान ही, जो स्वर्ण-नगरी के रूप में विख्यात थी, 'धनी कोरिन्थ' शब्दावली होमर जैसे प्रारम्भिक युग में भी प्राप्त होती है (इलियड ii, ५७० सी० एफ० xiii, ६६४)।

पॉल का कोरिन्थवासियों को सम्बोधित प्रथम पत्र शोध के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। यह उस स्थिति पर प्रकाश की एक किरण का स्फुरण करता है जिसने जीसस-कथा और पंथ को जन्म का अवसर दिया। उक्त पत्र का विश्लेषण करते हुए श्री सी० के० बैरेट कहते हैं कि "पॉल के धर्म-प्रचार ने कोरिन्थ में कई लोगों पर धर्म-परिवर्तन का प्रभाव डाला जिनमें से पहला (कम-से-कम अचइया में तो पहला ही) स्टीफेनुस का परिवार था (xvi. १५)। पॉल ने कृस्ती-चर्च की एकमात्र विचारणीय नींव डाल दी थी—जीसस कृस्त (क्राइस्ट) खुद—(iii. १० एफ०)। अन्य लोगों को इस नींव पर ही निर्माण करना था, और विशाल निर्माण जिस संस्थापना, नींव पर आधारित था, उससे कम संतोषकारी ही रहा। कोरिन्थ में ईश्वर का चर्च किसी भी प्रकार दोषों और त्रुटियों से मुक्त नहीं था···भगवान् के भोज (प्रसाद) के अवसर पर भी धनी और निर्धनों को अलग-अलग समूहों में बाँटा, विभक्त कर दिया जाता था। सदस्यों में सार्वजनिक झगड़े थे (vi. १—८), अनैतिकता का एक कुख्यात मामला था (v. १—५), देवमूर्तियों को समर्पित, भोग, प्रसादरूप लगाए गए खाद्यान्न की वैधता पर विवाद, कृस्ती-सिद्धान्त अस्वीकृत किया गया प्रतीत हुआ (xv. १२) और पॉल का अपना शिष्य-स्थान प्रश्नवाचक चिह्न बन गया।"[1]

श्री सी० के बैरेट के उपर्युक्त उद्धरण में अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं। यह स्पष्ट है कि जीसस पॉल की कल्पना-सृष्टि का ही फल, उत्पत्ति है। यदि जीसस कभी जन्मा भी था तो वह मेरी के गर्भ से नहीं, पॉल के दिमाग से पैदा हुआ था। एक गैर-विद्यमान, अस्तित्वहीन जीसस पर क्रस्ती-चर्च

---

१. सी० के० बैरेट, 'ए कमेंटरी ऑन दि फर्स्ट एपीसल टु दि कोरिन्थियंस', पृष्ठ ३।

निर्मित होने के कारण श्री सी० के० बैरेट यह दिग्दर्शित करने में बिल्कुल सही हैं कि ऊपरी विशाल निर्माण भी उतना ही दोषपूर्ण है जितना दोषपूर्ण इसका स्वयं आधार है। पॉल के कथन को जान बूझकर या अनजाने सत्य माननेवाले अन्य लोग जीसस और कृस्त-पंथी स्वर-रागिनी ही अलापना जारी रखे रहे और उसे आगे बढ़ाते रहे।

कृष्ण मन्दिर संगठन में उत्पन्न असंतोष और मनमुटाव ने उपर्युक्त कार्य के लिए उर्वरा भूमि प्रदान कर दी थी। चूँकि हिन्दू-शासन उन क्षेत्रों में बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था, इसलिए कोई केन्द्रीय, नियन्त्रक अथवा मार्गदर्शक सत्ता, प्राधिकरण शेष नहीं रह गई थी। शैक्षिक और प्रशासनिक तन्त्र छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण कृष्ण और हिन्दू देव-देवियों से सम्बन्धित हिन्दू-धर्मशास्त्रों, ग्रन्थों का पठन-पाठन अब नहीं होता था। अतः कृष्ण-जनश्रुति और धर्मग्रन्थों के अभाव से दिमागी रूप से शुष्क और शुष्कतर होते रहने पर भी पीढ़ियाँ भगवान् कृष्ण की पूजा-आराधना यंत्रवत् चालू रखे रहीं। मन्दिर-न्यास प्रबन्ध में असन्तोष और पॉल जैसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की उपस्थिति ने स्थिति को और भी अधिक शोचनीय, बदतर कर दिया।

पॉल ने अपना ही आध्यात्मिक संगठन स्थापित करने के लिए इस स्थिति का लाभ उठाना ठीक समझा प्रतीत होता है। उस संगठन, केन्द्र का नाम कृस्त के रूप में उच्चारित कृष्ण के नाम पर रखना ही उसे श्रेष्ठ लगा और उसने यह भी लोगों के ऊपर ही छोड़ दिया कि वे स्वयं विचार करते रहें कि इसमें प्रतिष्ठित देव जीसस क्राइस्ट (कृस्त) था या ईशस कृष्ण। वास्तविक अलगाव कई दशकों बाद हुआ था और लोगों को बता दिया गया कि एक विशिष्ट व्यक्ति जीसस जन्मा था और वह युवा-वय में ही स्वर्ग सिधार गया था। अतः उसके अस्तित्व को सत्यापित करना किसी भी व्यक्ति के लिए दुष्कर, लगभग असम्भव ही हो गया था। यदि किसी ने इसका विशेष आग्रह किया तो यह कहकर उसका मुँह बन्द कर दिया जाता था कि कृस्त का अर्थ केवल कृष्ण ही से था और वह स्वप्न में पॉल के मानस में अवतरित हुआ था। जब और अधिक वर्ष गुजर गए, तब लोगों को बता दिया गया कि कृष्ण से बिल्कुल पृथक् कृस्त नामक एक विशिष्ट व्यक्ति

वास्तव में हुआ था, रहा था। इस, एक ही समय दोनों तरह की बातें करने की पद्धति ने कृस्ती-कथा को प्रचलित रखने और इसे सुदृढ़ करने का आश्वासन तब तक बनाए रखा जब तक कि रोमन सम्राट् से ही इसे स्वीकार नहीं करा लिया। तत्पश्चात्, रोमन सेना ने शेष कार्य तेजी से पूरा कर दिया। जिसको एक धार्मिक प्रकाश समझा गया था, यूरोपीय सेनाओं के हाथ में वही, अग्रसर होते समय प्रत्येक गैर-कृस्ती वस्तु को जलाकर भस्म कर देने के लिए उसी प्रकार प्रखर अग्निशलाका हो गई जैसा कि बाद में कुछ शताब्दियों पश्चात् मुस्लिमों द्वारा किया जाना था।

श्री बैरेट के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि भगवान् का भोग-प्रसाद नाम से ज्ञात कृष्ण मन्दिर का भोज जीसस का तथाकथित अन्तिम ब्यालू रूपान्तरित, नामान्तरित कर दिया गया है।

पॉल का पुनर्जीवित हो जानेवाला सिद्धान्त उसके समकालीन व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत न किए जाने और उसके शिष्यत्व पर प्रश्नचिह्न लगने का तथ्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पॉल के समकालीन व्यक्तियों को पॉल के कथनों में कोई आस्था, विश्वास नहीं था।

पॉल ने तीव्र, गहन घृणा पैदा कर दी। उसने कोरिन्थ त्याग दिया किन्तु पत्राचार के माध्यम से अपने से सहानुभूति रखनेवाले कुछ लोगों से सम्पर्क बनाए रखा। क्लो के कुटुम्ब ने पॉल के अपने ही अनुयायियों में हुए वर्ग-भेदों के बारे में पॉल को सूचित कर दिया था (i ११)। पॉल द्वारा कोरिन्थवासियों को सम्बोधित पत्र ने उसके प्रति और भी अधिक दुर्भावना जागृत कर दी थी (v. ९)। जैसा प्रायः नाम दिया जाता है 'पूर्व पत्र' द्वारा उत्तेजित दुर्भावनाओं को शान्त करने के उद्देश्य से ही यह प्रथम पत्र-सूची (धर्म-पत्र) आई थी।

पॉल को अचइया के प्रान्तपति प्रभारी गेल्लियो के समक्ष उपस्थित होना पड़ा था क्योंकि स्पष्टतः उसकी गतिविधियाँ भड़काऊ समझी गई थीं। समझा जाता है कि पॉल कोरिन्थ में ईसा-पश्चात् ५० सन् के मार्च में पहुँच गया था और वहाँ सितम्बर, ५१ ईसा-पश्चात् तक रहा था।

उसके बाद पॉल सीरिया के लिए चल पड़ा, ईफेसस पहुँचा वापस लौटने के वचन के साथ—इस प्रकार उसकी तथाकथित दूसरी यात्रा

समाप्त हो गई। कोरिन्थवासियों को पत्र की सर्वाधिक संभाव्य तिथि ईसा-पश्चात् सन् ५४ के प्रारम्भिक मास अथवा ५३ के अन्तिम मास हैं।

श्री बैरेट के अनुसार, "धर्म-पत्र सफल अभिलेख दस्तावेज नहीं था। कोरिन्थ में कार्य और कोरिन्थवासियों, चर्च व पट्ट-शिष्य के बीच सम्बन्ध बिगड़ गए।"

पॉल की कोरिन्थ-यात्रा लगभग पूरी तरह विनाशक, विफल रही। उसने जवाब में एक कठोर पत्र लिख भेजा जिसने असंतोष और भी उग्र कर दिया। उसने टाइटस को कोरिन्थ भेज दिया और उससे कुछ अच्छे समाचार सुनकर बहुत खुश था। (२. कोरिन्थ, vii. ६ एफ०) किन्तु मित्रों की अपेक्षा उसके शत्रु अधिक थे। जिन लोगों को उसका बचाव करना चाहिए था, उन्हीं ने उसको खूब दुत्कारा, उसका विरोध किया (२. कोरिन्थ, xii. ११) और उसके प्रतिद्वन्द्वियों ने उसका स्थान हड़प लिया। इस प्रकार धर्म के नाम पर यह स्पष्टतः वैयक्तिक या सामूहिक राजनीति ही थी।

श्री पॉल का यह पर्यवेक्षण कि, "कोरिन्थवासी स्वयं पॉल से भी अधिक मूल-प्रचार के ही ज्यादा निकट रहे थे", इस तथ्य का द्योतक है कि जबकि कोरिन्थवासी कृष्ण-पूजा और गीता-पठन, वाचन से दूर रखे जाने पर रोष प्रकट कर रहे थे, तब (भी) पॉल शनैः-शनैः एक नई जीसस-कथा का आविष्कार कर रहा था।

"पॉल ने कोरिन्थ में अपनी मंत्रि-परिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि पुरुष के लिए सर्वोत्तम यही है कि वह किसी नारी का स्पर्श (भी) न करे (डॉ० जे० सी० हुर्ड, दि ओरिजिन ऑफ़ कोरिन्थियन्स, १९६५—१. कोर० vii. १)। वह स्वयं अविवाहित था और चाहता था कि अन्य लोग भी उसी के समान हों। वह आध्यात्मिक विवाह को स्वीकार करता और उसी की प्रेरणा देता रहा (चाहे इसका अर्थ जो भी हो)। देवमूर्ति को अनुसेवित भोग-प्रसाद के बारे में उसने सिखाया था कि सभी वस्तुएँ विधि-सम्मत थीं (x. २३) और मूर्तियों की कोई वास्तविक सत्ता न थी (viii. ४)। हम सभी के पास ज्ञान है, उसने कहा था (viii. १) और उसका व्यवहार/आचरण ऐसा होता था मानो वह विधि,

कानून से बाहर, परे हो (ix. २१)···।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्राप्त होते हैं—पहला तो यह कि जिस देव-प्रतिमा का संदर्भ प्रस्तुत किया गया है वह कृष्ण की प्रतिमा थी और पॉल अपना कानून खुद ही था। उसका ढंग निरंकुश तानाशाह का था। वह किसी भी कीमत पर नेतृत्व चाहता था और इसीलिए उसने किसी अन्य उद्धारक, मुक्तिदाता की चर्चा प्रारम्भ की, तथा उसकी चाहना अनुयायियों की थी ताकि वह अपने अनेक शत्रुओं के समक्ष एक प्रबल शक्तिशाली व्यक्तित्व के रूप में बना रह सके।

पूर्व पत्र ने विवाह अनुशंसित किया, देव-प्रतिमाओं को भेंट-भोग-प्रसाद वर्जित किया, आग्रह किया कि महिलाएँ पर्दे में रहें, वचन दिया कि कृस्ती लोग ईश्वर के साम्राज्य में अपना भाग प्राप्त करने के लिए अपने-अपने ताबूतों/कब्रों में से खड़े होकर दिए जाएँगे और गरीबों के लिए धन-संग्रह करने के लिए (परोपकारी) कार्य का उल्लेख किया। उक्त पत्र को प्राप्त कर विस्मित हुए कोरिन्थवासियों ने क्रुद्ध होकर कई प्रश्नों में पूछा कि पॉल की वास्तविक इच्छा क्या थी। उन लोगों को विवाह करना था या नहीं? देव-प्रतिमाओं को समर्पित, भोग लगाया गया खाद्यान्न खाना था या नहीं? क्या औरतें पर्दे में जरूरी रूप से ही रहें? क्या मृत शरीर कब्रों से (सचमुच) खड़े हो जाएँ? क्या कारण था कि बपतिस्मा, धर्म-दीक्षा के बाद भी तथाकथित कृस्ती लोगों का मरना जारी ही रहा?

दासता और औरतों को पर्दे में रखने की अरब देशों की कमजोरी कृस्ती-पंथ और इसलाम, दोनों में ही चली आई है। कृस्ती-पंथ ने तो बाद में अपनी महिलाओं को पर्दे से मुक्त कर दिया किन्तु इसलाम अपने महिला-वर्ग को ऐसी कोई स्वाधीनता देने से अभी भी इंकार करता है। नाक के अगले भाग तक और गर्दन की पिछली गुद्दी तक ढके रखनेवाली बुर्के की 'दीवारों' में महिलाओं, अर्धांगिनियों का एकाकी कोठरी में अभी तक सीमित रहना पर्दे पर अभी भी आग्रह करनेवाले समुदाय के अर्ध-भाग की दुर्दशा का आभास ही कराता है।

---

१. सी० के० बैरेट, 'ए कमेंटरी ऑन दि फर्स्ट एपीसल टु दि कोरिन्थियंस', पृष्ठ ६।

इधर जब पॉल जीसस के नाम में एक ऐसे नये धर्म की स्थापना करने का भरपूर प्रयत्न कर रहा था जिसका वह सर्वोच्च धर्माधिकारी बना रहे, तभी अपोलो नामक एक अन्य व्यक्ति भी एक अन्य धर्म-व्यवस्था स्थापित करने में लगा था जिसका वह स्वयं धर्माध्यक्ष बन सके। तथापि, बाद में अपोलो ने अपना प्रयास छोड़कर पॉल के साथ मिल जाना ही अधिक लाभकारी समझा। किन्तु सेफस भी एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी था।

पॉल ने अपने कोरिन्थवासी अनुयायियों और मित्रों को कम-से-कम चार पत्र लिखे थे जिनमें से मात्र दो ही सुरक्षित रखे गए हैं।

कोरिन्थ में विवाद के समय पॉल का पक्ष लेनेवाले स्टीफेनस ने ईफेसस में आकर यह चौंकानेवाली खबर दी कि कोरिन्थवासी लोगों का पॉल पट्ट-शिष्यत्व के और जीसस के पुनर्जीवित हो जाने के (उसके) दावे में कोई विश्वास नहीं था तथा वे सामान्य रूप में विद्रोही स्वर में थे।

ईफेसस में भी लोग इतने क्रुद्ध व उत्तेजित थे कि पॉल को नगर छोड़ देना पड़ा और ग्रामांचल में भेष बदलकर, छुपकर रहना पड़ा था। पॉल जहाँ कहीं भी जाता था, लोग क्रुद्ध होकर उसके पीछे पड़ जाते थे। पॉल ने विकल्प के रूप में टिमोथी और ईरास्टस जैसे अपने सहानुभूति रखनेवाले लोगों को मेसेडोनिया व कोरिन्थ भेज दिया (एक्ट्स xix. २२ और १. कोर० iv. १७; xvi. १ एफ०)। इससे यह प्रतीत होता है कि बाइबल का जीसस पॉल का व्यक्तित्व ही है और जीसस के तथाकथित १२ पट्ट-शिष्य भी तथ्य रूप में पॉल के ही १२ पट्ट-शिष्य थे यथा; अपोलो, स्टेफेनस, टिमोथी और ईरास्टस।

जब क्लो परिवार के लोग पॉल के अपने ही अनुयायियों के मध्य सामूहिक विवादों की जानकारी देने के लिए पॉल से मिले तब पॉल ने अति उत्तेजना में एक पत्र लिखा जो १. कोरिन्थ १, १—६; १. १०—vi ११; xvi, १०—१४ और सम्भवतः पद्य २२ एफ० एफ० में समाविष्ट है।

अध्याय iv में पॉल ऐसा देखा जा सकता है मानो वह अपने उद्दंडी शिष्यों को चेतावनी दे रहा हो : "कोई गलती मत करो"—वह कहता है : "मैं कोरिन्थ में फिर वापस आऊँगा, तुम लोग जो सोचते हो उससे पूर्व ही आ जाऊँगा। फिर हम जान पाएँगे न केवल वह जो ये व्यक्ति कह सकते

हैं बल्कि वह भी जो ये लोग कर सकते हैं।"

इससे यह मालूम होता है कि पॉल ने अन्य लोगों को इतना रुष्ट, क्रुद्ध कर दिया था कि स्वयं वह और उसकी टाँग खींचनेवाले कभी समाप्त न होनेवाले विवादों, सार्वजनिक झगड़ों व हाथापाई में संलग्न, सम्मिलित थे। जहाँ कहीं पॉल गया, उसे वहीं से बाहर भगा दिया जाता था। उसे दूर भगा देनेवाले लोग उसकी वापसी के प्रति उसे हमेशा डराते-धमकाते रहने की चेतावनियाँ दे रहे थे, तो वह (पॉल) भी लौटकर आने की धमकियाँ उन्हें देता ही रहता था। यह वह कटुता उत्पन्न करनेवाला विवाद था जो सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा के लिए इतना सिर-दर्द, पीड़ादायक हो गया था कि रोमन प्रशासकों को मजबूर होकर आन्दोलन-कारियों को सूली-दण्ड देना पड़ा था। इस प्रकार, इतिहास ने सारी घटनाओं को पलट देने और प्रारम्भिक कृस्तियों को निर्दोष, अत्याचारों और दमन के असहाय शिकार व्यक्ति निरूपित करने में बिल्कुल गलती की है। तथ्य रूप में तो यहूदी नागरिक-वर्ग और रोमन शासन-वर्ग ही सभी झगड़ालू कृस्ती-वर्गों द्वारा उसी प्रकार प्रताड़ित, अपना शिकार बनाए जा रहे थे जैसे गैर-मुस्लिमों के विरुद्ध लड़ने के लिए परस्पर झगड़ते हुए शिया, सुन्नी और अहमदी-वर्ग के मुस्लिम लोग एड़ी-चोटी का संघर्ष करते हुए भी आपस में मिलकर एक हो जाते हैं।

श्री बैरेट ने सही पर्यवेक्षण किया है कि, "कोरिंथियंस रीतिबद्ध देव-शास्त्र के अतिरिक्त कुछ भी है। यह एक व्यावहारिक पत्र है जो एकाकी यद्यपि जटिल स्थिति को ध्यान में रखकर लिखा गया है।"[1]

पॉल का कृस्ती-विश्वास, धर्म मोहम्मद के इसलाम के समान ही तनाव में आगे बढ़ा। जबकि मोहम्मद ने स्वयं को एक अदृश्य, निराकार अल्लाह का पैगम्बर घोषित किया, पॉल ने—जो स्वयं ही कृस्ती-पंथ का प्रजनक, पूर्वज था—एक अस्तित्वहीन, अजन्मे जीसस को रक्षक, मुक्तिदाता घोषित कर दिया। पॉल सही सिद्ध हो सकता था यदि रक्षक जीसस कृस्त से उसका मन्तव्य सिर्फ ईशस कृष्ण ईश्वर अर्थात् भगवान् कृष्ण ईश्वर ही

१. सी० के० बैरेट, 'ए कमेंटरी ऑन दि फर्स्ट एपीसल टु दि कोरिन्थियंस', पृष्ठ १७।

होता। किन्तु चूँकि ईशस कृष्ण ईश्वर पॉल के सभी समकालीन व्यक्तियों का ईश्वर था, अतः एक नया पंथ प्रारम्भ करने की इच्छा रखनेवाले पॉल ने जीसस कृस्त-रक्षक समानान्तर नाम धारण कर दिया। यह कार्य कई प्रकार, कई दृष्टियों से सुगम, सुविधाजनक था। सर्वप्रथम, मूल संस्कृत शब्दों का उच्चारण पहले ही प्रचलित था। दूसरी बात, जब तक कि पॉल का नया धर्म एक पृथक् अस्तित्व के रूप में पक्की तरह स्थापित नहीं हो गया, मध्यमार्गियों—आगा-पीछा सोचने वालों को सदैव यह आश्वासन दिया जा सकता था कि जीसस क्राइस्ट (कृस्त) संरक्षक तथ्यतः ईशस कृष्ण ईश्वर के अतिरिक्त कोई था ही नहीं। तीसरी बात, नये धर्मावलंबियों—धर्म-परिवर्तितों में अपने-आपको एक पृथक् विशिष्ट धार्मिक संगठन के रूप में घोषित करने का साहस, निश्चय और अन्ध-भक्ति जिस दिन संग्रहीत हो गई/हो जाएगी, कृस्त-पंथी लोग उसी दिन यह घोषणा कर देने को स्वतंत्र होंगे कि जीसस कृस्त (क्राइस्ट) तो सचमुच ही ईशस कृष्ण से बिल्कुल भिन्न ही कोई व्यक्ति था।

पॉल को कई प्राचीन हिन्दू पंथों; यथा—फिलस्तीन और पारसियों के विरुद्ध कृस्ती-पंथ नामक एक नये पंथ के नेतृत्व से ही सन्तुष्ट होना पड़ा। यद्यपि वे सभी हिन्दू, आर्य, वैदिक संप्रदाय ही थे तथापि उनको कई पंथों में बाँटा हुआ था जिनमें वे हिन्दू देवगणों में सम्मिलित एक या अधिक संख्या में देवगण की पूजा-आराधना तक ही स्वयं को सीमित रख सकते थे।

किन्तु यहूदी, ईशाणी आदि हिन्दू पंथ-मात्र ही न होकर पूर्णरूपेण हिन्दू ही थे जो हिन्दू-धर्म की प्रत्येक पवित्र वस्तु के प्रति निष्ठा, श्रद्धा रखते थे। यदि इतिहास लेखकों, देवशास्त्रियों और दार्शनिकों ने उनको परस्पर स्पर्धावाले पंथ कहा है तो वह कार्य मात्र अज्ञानवश ही हुआ है। चूँकि हिन्दू शासन और शिक्षा उन क्षेत्रों से शताब्दियों से ही समाप्त हो चुकी थी, इसलिए वे पंथ पृथक् स्वतंत्र पंथों जैसे ही दिखाई पड़ते थे। वे सब हिन्दू धर्म के ही अविभाज्य, अन्तरंग अंग थे—इस बात का दिग्दर्शन इस तथ्य से होता है कि पॉल द्वारा स्थापित स्वयं कृस्ती-पंथ ही, यद्यपि वह इस दृष्टि से बिल्कुल अन्तिम ही था, (भ्रामक रूप में जीसस क्राइस्ट-कृस्त कहलाने वाले) ईशस कृष्ण की श्रद्धापूर्वक पूजा-आराधना और

(ईश्वर, उसके पुत्र और पवित्र आत्मा के रूप में भ्रमाभिव्यक्त) ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पावन-त्रयी की चिर-वन्दना में ही लगा रहा।

इसी प्रकार माता मेरी जीसस की माँ नहीं है जैसा कृस्ती-पंथ में कहा और विश्वास किया जाता है जिसका सीधा-सादा कारण यह है कि मेरी तो कुँवारी, अक्षत-योनि ही थी और जीसस कोई था ही नहीं। यदि तब भी माता मेरी का नाम कृस्ती-पंथ में श्रद्धा-पद अर्जित कर सका (या उसे बनाए रख सका) तो उसका कारण यह है कि माता मेरी संस्कृत, हिन्दू शब्दावली मेरी अम्मा का यथार्थ अनुवाद ही है। वह देवी माता है जिसका नाम मातर डेई (देई) उच्चारित करके अभी भी कृस्ती-मठों के विद्यालयों में ('मातृ-देवि' के रूप में) प्रयुक्त चला आ रहा है। वह फिर संस्कृत शब्द 'मातृ-देवि' है जिसका अर्थ 'माता देवी' है। यह हिन्दुओं की वही माता देवी मेरी है जो कृस्ती-देव-शृंखला में जीसस की माँ की आविष्कृत, थोपी गई, गढ़ ली गई भूमिका में पुनर्स्थापित कर दी गई है। हिन्दुओं के भी मरिअम्मा मन्दिर हैं।

इस प्रकार यह लक्षित किया जा सकता है कि कृस्ती-पंथ न केवल कृष्ण-नीति नाम ही थोड़े से भिन्न उच्चारण से चालू रखे हुए हैं बल्कि कृस्ती-भेष में लगभग पूरे हिन्दू देवगणों को भी सँजोए हुए हैं।

"कोरिन्थ में चर्च का सामाजिक ढाँचा बिना किसी प्रकार की चापलूसी १·२६ में वर्णन किया गया है। इसमें बहुत सारे लोग ऐसे नहीं थे जो मानव-मानकों, आदर्शों की दृष्टि से बुद्धिमान, शक्तिशाली या उच्च-कुलोत्पन्न हों। इसमें गुलाम, दास थे [vii-२३]। इस संगठन की प्रारम्भिक अवस्थाएँ स्टीफनस के कुटुम्ब के उदीयमान होने में लक्षित होती हैं। पचासवें दशक में कोरिन्थ स्थित चर्च का कोई स्पष्ट निरूपित आकार या ढाँचा नहीं था।"[१]

प्रोफेसर वैल्स ने ठीक ही संकेत दिया है कि कृस्ती-पंथ स्टीफेनस के घर पर सामूहिक चर्चा में ही जन्मा था। संस्कृत शब्द 'चर्चा' अर्थात् चर्च ऐसी ही विचार-विमर्श गोष्ठियों का द्योतक है। चूँकि इसके पीछे कोई नई देव-पूजा/धार्मिक आस्था नहीं थी, इसलिए इस नए समूह, वर्ग ने अपने 'चर्च' के लिए कोई रूप, आकार निश्चित किया ही नहीं। इसी कारण अति

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ २३-२४।

क्षुद्र और घरेलू नौकर-चाकर अथवा गुलाम, जिनका काम दूसरों के आदेश पालन करना ही था या जो पॉल और स्टीफेनस जैसे लोगों के प्रभाव में थे; इसके प्रारम्भिक सदस्य थे। इस प्रकार जनोत्तेजन और निरंकुश योग्यताएँ रखनेवाला कोई भी व्यक्ति इस संसार में अपना कोई भी धर्म/पंथ स्थापित कर सकता है क्योंकि कुछ-न-कुछ, थोड़े-बहुत ऐसे लोग तो हमेशा ही मिल जाएँगे जिनको बातचीत के माध्यम से किसी नए पंथ या धर्म में प्रवेश के लिए तैयार कर लिया जा सके।

ये प्रारम्भिक सदस्य इतने भोले-भाले और अज्ञानी, प्रवंच्य थे कि इनको विश्वास था कि पॉल के नए कृस्ती-पंथ को अंगीकार कर लेने से वे मृत्यु से बच जाएँगे और या मृत्यु के तुरन्त बाद वे पुनः जीवन प्राप्त कर सकेंगे तथा उसके बाद खुशी के साथ आनन्दोपभोग कर जीवित रह पाएँगे। कुछ लोग विश्वास करते थे कि बपतिस्मा, कृस्ती-पंथ अंगीकरण रोगों से मुक्ति या उपचार कर सकता था। इस प्रकार, यह कोई प्रबुद्ध समर्थन न था। किन्तु मानव-जीवन में अनेक बातों में मात्र संख्या का ही महत्त्व होता है। जिस धर्म के जितने अधिक अनुयायी होते हैं, उतना ही अधिक उसका आकर्षण, उसकी गड़गड़ाहट व उसकी विनाशकारी शक्ति होती है। महा-काय बुलडोज़र के समान यह अन्य पंथों को चकनाचूर, ध्वस्त कर सकता है और फिर भयंकर बाढ़, जल-प्लावन की तरह विशाल क्षेत्रों, इलाकों को उसमें जलमग्न, आत्मसात् कर सकता है। कृस्ती-पंथ ने यूरोप और एशिया में यही किया था। जितनी अधिक संख्या इससे चिपकी रहेगी, अन्य लोग उतनी ही अधिक संख्या में इसकी ओर आकर्षित होंगे।

ब्रिटिश ज्ञानकोश के अनुसार, "आगे चलकर, सच्चा कृस्ती-पंथ भी परम संस्कारों से स्वयं को मुक्त रखने में अयोग्य सिद्ध हुआ है; पूर्वी चर्च तो विशेष रूप में गूढ़ रहस्यवाद से ही दिशा-निर्देश प्राप्त करता रहा है। धर्म में मुक्ति के विचार पर प्रबल आग्रह में भी कृस्ती-चर्च का प्रवर्तक गूढ़ रहस्यवाद ही तो था।"[१]

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खण्ड १२, ११वाँ संस्करण, १९१०-११, पृष्ठ १५५।

'नास्टिक' (जी एन ओ एस टी आई सी) संस्कृत शब्द है जो 'ज्ञ' और 'अस्तिक' से बना है जिसका अर्थ ज्ञानवान ईश्वरवादी होता है। वह हिन्दू-धर्म की एक शाखा है। हिन्दुओं ने ही परम संस्कारों—गूढ़ रहस्यों पर विशेष बल, आग्रह प्रदर्शित किया है। कृस्ती-पंथ ने हिन्दू देवगणों के साथ-साथ ऐसे रहस्यमय संस्कार भी ग्रहण कर लिए थे। इसलिए कृस्ती-पंथ कृष्ण-नीति अर्थात् भगवान् कृष्ण का हिन्दू-पंथ, सम्प्रदाय ही है।

श्री बैरेट द्वारा दिए गए एक भाषण में उन्होंने 'विशाल अन्तर' को स्पष्ट किया था जो "कोरिन्थ में घटित तथा पॉल ने सोचा कि किस प्रकार होना चाहिए"[1] के मध्य था।

श्री बैरेट ने कोरिन्थ के पत्रों से किसी प्रकार के स्पष्ट या क्रमानुसार, संगत विवरण-प्राप्ति को कठिन कार्य कहते हुए कहा है कि तत्कालीन स्थिति के बारे में उन पत्रों में फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत या तथ्य उपलब्ध, समाविष्ट हैं। साथ ही, "नितान्त महत्त्व के पद्यों में मुश्किल से एकाध पद ही ऐसा है जिसकी व्याख्या विवादास्पद नहीं है।" "कोरिन्थ-पत्रों में सर्वाधिक साहित्यिक समस्या उनकी निष्ठा, एकता की है।"

पॉल ने कोरिन्थ को चार पत्र लिखे माने जाते हैं। प्रथम पत्र खोया जा चुका है, जब तक कि इसका कोई हिस्सा २. कोरिन्थ, vi. १४—vii—१ में सुरक्षित न मान लिया जाए।

दूसरा पत्र वह है जो १. कोरिन्थवाला नाम से ज्ञात है। तीसरा पत्र आंशिक रूप में २. कोर०, x—xiii में सुरक्षित है।

चौथा पत्र २. कोर०, i—ix में संग्रहीत है (सम्भवत: vi. १४— vii १ को छोड़ दिया गया है)।

प्राचीन कोरिन्थ नगर लगभग एक सौ वर्ष तक उजड़ा, वीरान पड़ा रहा था जब (चाहे इसका जो भी अर्थ हो) रोमन लोगों ने ईसा-पूर्व ४४ वर्ष में वहीं नए कोरिन्थ नगर की नींव डाली थी।

स्वयं उन धर्म-पत्रों से ही स्पष्ट है कि "कृस्ती-प्रचारकर्ता, पॉल से

---

१. मानचेस्टर विश्वविद्यालय में २६ नवम्बर, १९६३ को दिया गया 'मैन्शन मैमोरियल लेक्चर', पृष्ठ २६९।

भिन्न और कुछ तो उससे बिल्कुल ही अलग शहर में काम करते रहे थे जिनमें अपोलो निश्चित रूप से था, पीटर के होने की भी बहुत ज्यादा सम्भावना थी और यदि स्वयं पीटर न था, तो भी उसके शिष्य तो थे जो स्वतन्त्रतापूर्वक उसके नाम का प्रयोग कर रहे थे। ये लोग उलझनकारी रहे होंगे। अन्य लोग भी थे और एक भिन्न धर्म-पुस्तिका, एक अन्य जीसस और अन्य आत्मा प्रचारित किए गए थे। सिकन्दराई यहूदीवाद, कृस्ती-पंथ, हेलेनवाद सभी ने कोरिन्थ में पूर्व संग्रहीत प्रज्वलनशील, जोशीली सामग्री में आग में घी का काम किया प्रतीत होता है।"[1]

चूंकि हिन्दू शासन और शिक्षा कोरिन्थ में बहुत पहले ही अपना अस्तित्व समाप्तप्राय कर चुके थे, अनेक नए स्थानीय विश्वास अपने-अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में स्पर्धा करने लगे ताकि इनके नेतागण अपना प्रभाव बढ़ा सकें और सम्मान, महत्व व धन अर्जित कर सकें। इसी पृष्ठ-भूमि का उल्लेख करते हुए श्री बैरेट कहते हैं कि "तत्कालीन परिस्थिति ने स्वयं पॉल से भी एक मिथक, काल्पनिक कथा विकसित करा दी जिसमें कृस्त का आगमन, उसको दुष्टात्माओं द्वारा सूली-दण्ड व उन आत्माओं पर विजय; और परिणामस्वरूप मानव-जाति का पुनरुद्धार वर्णित था।"[2]

पॉल ने १-कोरिन्थ-पत्रावली में अनेक स्थानों पर कोरिन्थ में उस समय प्रचलित मतों, रायों का उद्धरण दिया है। १. कोर में कृस्त-वर्ग रहस्यवादी प्रकार के कृस्ती थे जो करिश्मे और आध्यात्मिक प्रक्रिया पर आग्रह, जोर देते थे "जिनके मुकाबले में पॉल को अहना पट्ट-शिष्यत्व सिद्ध करना ही पड़ता था।" उसके विरोधी इन विषयों में पॉल की कमियों के लिए उसका तिरस्कार करते थे; उसे तुच्छ समझते थे। उत्तर में पॉल अपने पट्ट-शिष्यत्व को बेतहाशा बचाने का यत्न करता था।

श्री बैरेट के विश्लेषण के अनुसार जीसस और कृस्ती-पंथ दोनों ही पॉल की सृष्टि हैं। "समय-समय पर, जब-तब पॉल कोरिन्थवासियों का उल्लेख कुछ कटुता के साथ करता है।" अतः पाल ने अपने विरोधियों का

---

१. मानचेस्टर विश्वविद्यालय में २६ नवम्बर, १६६३ को दिया गया 'मैन्शन मैमोरियल लेक्चर', पृष्ठ २७२।

२. वही, पृ० २८३।

मुंह बन्द करने के लिए और धर्म-विज्ञानी नेतृत्व में देवदूत अथवा कम-से-कम पट्ट-शिष्यत्व की दौड़ में तो अपना स्थान अग्रतम बनाए रखने के लिए कृस्ती-पंथ का सिद्धान्त विकसित कर दिया।

"पुराना दृष्टिकोण, जो एफ० सी० बौर तक पीछे जाता है, यह था कि झगड़ा करनेवाले जरुस्लम-स्थित शिष्य थे···पॉल के साथियों ने उसको आध्यात्मिक उपहारों, गुणों से हीन होने के लिए दोषी कहा था क्योंकि इसी विहीनता, अभाव के कारण वह स्वतन्त्र शिष्य नहीं हो सका···(इसीलिए) वह अनुचित उद्देश्यों के निमित्त ही कार्यरत होगा; इसलिए उसके सम्पूर्ण कृस्ती-अस्तित्व पर ही प्रश्न उठने लगे थे। यह पूछना जरूरी है कि इतनी भयंकर लड़ाई में भी पॉल ने अपने विरोधियों के विश्वासों, उनकी आस्थाओं के बारे में इतना अत्यल्प किस कारण से कहा है। यह तथ्य कि उसके निकटतम विरोधी जरुस्लम-शिष्यों को आहूत कर सके, पॉल के लिए एक बड़ी उलझन थी। वह कोरिन्थ में पैठ करनेवालों के विरुद्ध अथक, घोर प्रतिक्रिया करना चाहता है, किन्तु फिर भी वह जरुस्लम के संघर्ष करने में न तो सक्षम, योग्य होता है और न ही इच्छुक होता है।"[1]

शोधकर्ता अभी तक कोरिन्थ और जरुस्लम के बीच सम्बन्ध का पता लगा पाने में सफल नहीं हुए थे। ऊपर के समान अवतरणों के उद्धरण स्पष्ट कर देते हैं कि जरुस्लम और कोरिन्थ की एक उभयनिष्ठ कृष्ण-मन्दिर धुरी थी। जरुस्लम-स्थित मन्दिर बड़ा, प्राचीन और अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण कोरिन्थ-स्थित मन्दिर पर नियन्त्रण-अधिकार रखता था। पॉल जैसे हिन्दू-पुरोहित अस्थायी कार्य या विशिष्ट कार्यों के निष्पादन हेतु कोरिन्थ तथा अन्य अधीनस्थ संस्थापनाओं में प्रतिनियुक्त किए, भेजे जाते थे। पॉल जैसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति भगवान् कृष्ण के जरुस्लम-स्थित प्रधान देवालय के प्रबन्ध के साथ झगड़े की स्थिति में अपने स्थानान्तरण के लिए अनुरोध करते थे। बेथलेहम और नज़रथ में छोटे कृष्ण मन्दिर थे जहाँ पॉल जैसे महत्त्वाकांक्षी वरिष्ठ लोग नियुक्त होना नहीं चाहते थे। कोरिन्थ में एक बहुत विशाल मन्दिर-संस्थापना थी। चूंकि पॉल जरुस्लम के मन्दिर-प्रबन्ध

१. मानचेस्टर विश्वविद्यालय में २६ नवम्बर, १९६३ को दिया गया 'मैन्शन मैमोरियल लेक्चर', पृष्ठ २८९-२९०।

से झगड़ा कर बैठा, इसलिए उसे कोरिन्थ स्थित मन्दिर-व्यवस्था में स्थानान्तरित कर दिया गया। किन्तु वहाँ भी वह अपने साथियों से मिल-जुलकर नहीं चल सका। उसने कृष्ण मन्दिर में जाना बन्द कर दिया और जिन लोगों को वह प्रभावित कर सकता था, उनको निजी घरों में बुलाकर, उनकी बैठकें आयोजित करने लगा। स्टीफेनस का मकान एक ऐसा ही स्थल था जहाँ असन्तुष्टों की बैठक हुआ करती थी। वे सभी दिग्भ्रमित, रुष्ट व्यक्ति थे जो कुछ भिन्न आयोजित, संगठित करना चाहते थे किन्तु जानते नहीं थे कि क्या और कैसे संगठित, आयोजित किया जाए।

रोष और हताशा में उन लोगों ने अपने अनुयायियों को सदस्य बनाना (अर्थात् बपतिस्मा करना) शुरू कर दिया और विरोध-सभाओं, प्रदर्शन व बहिष्कारों का आयोजन आरम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों दिन गुजरते गए उनके विरोध अधिक जल्दी-जल्दी, उग्र और शोर-शराबावाले, सामूहिक गिरफ्तारियों और 'क्रॉस' पर सामूहिक मृत्युदण्ड प्राप्त करनेवाले हो गए। जरुस्लम-स्थित कृष्ण मन्दिर के प्रबन्ध के विरुद्ध निजी कारणों और वैयक्तिक असंतोषों की वजह से पॉल और उसके अनुयायियों द्वारा किया गया यह संघर्ष ही बाइबल में प्रतिबिम्बित हो गया है। यही कारण है कि किसी व्यक्ति को बाइबल में जीसस के जीवन की दार्शनिकता का कोई संगत रूप, कोई तारतम्यवाली धार्मिक, देव-पद्धति या कोई कथा प्राप्त नहीं हो पाती।

पॉल की भूमिका किसी बड़ी व्यावसायिक शाखा (फर्म) में उस दुकान-सहायक के समान थी जो अपने नियोक्ताओं का विश्वास प्राप्त करके, बड़े व्यापार का तंत्र समझ गया, कोरिन्थ जैसे सुदूर स्थान पर, बिना पर्यवेक्षण, एक अभिकर्ता के रूप में अपनी तैनाती का लाभ उठाने लगा, अपना निजी व्यापार शुरू कर बैठा और फिर अपनी पुरानी स्थिति से किनारा कर बैठा तथा अपने आपको एक अज्ञात, अजन्मे, काल्पनिक ईश्वर अर्थात् संरक्षक, मुक्तिदाता का शिष्य घोषित कर दिया।

किन्तु कोरिन्थ में तैनात पॉल ही एकमात्र वरिष्ठ कृष्ण-शिष्य नहीं था। अन्य लोग भी थे। इसलिए उनके कार्य-क्षेत्र व कार्य अलग-अलग बँटे हुए थे। उदाहरण के लिए पॉल को गैर-यहूदियों, गैर-ईसाइयों में काम करना था जबकि सेफस को यहूदियों में। किन्तु उनके मार्ग एक-दूसरे के

भीतर होकर जाते थे किन्तु जनसंख्या, बस्तियों में ऐसे स्थान कम ही थे जो विशुद्धरूपेण यहूदी या गैर-यहूदी ही हों।

हिन्दू धर्म, प्रशासन और शिक्षा के स्रोतों के सूख जाने से प्रथम शताब्दी में पश्चिमी विश्व में धार्मिक हौदियाँ निर्मित हो गई थीं। पॉल, स्टीफन और सेफस जैसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया और शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रतिद्वन्द्वियों को इस क्षेत्र से बाहर कर देने के लिए अपने सतत बढ़ रहे अनुयायियों की संख्या अति-त्वरा सहित बढ़ाने का क्रम बनाया।

श्री बैरेट कहते हैं: "इस तथ्य से चकित होने की कोई वजह नहीं है कि इस प्रकार की संकटावस्था कोरिन्थ में उत्पन्न हुई।···पद्य २ एफ० में पॉल ने शैतानी लोगों द्वारा कोरिन्थ-स्थित चर्च के प्रलोभन की बात कही है और पद्य ४ में उस (व्यक्ति) की चर्चा की है जो आता है और एक अन्य जीसस, एक भिन्न आत्मा (और) एक भिन्न धर्मग्रन्थ का प्रचार-कार्य करता है।"[१]

इन सभी पट्ट-शिष्यों को जरुस्लम का वर्चस्व स्वीकार करना पड़ता था और उसी के नाम में प्रचार करना होता था क्योंकि भारत से बाहर सबसे बड़ा कृष्ण मन्दिर और धार्मिक केन्द्र जरुस्लम अर्थात् यदु-ईश-आलयम ही था।

कोरिन्थ में भारी प्रतिद्वन्द्विता होने के कारण पॉल ने कोरिन्थ से परे छोटे-छोटे उपनगरों व गाँवों में सरल, भोले-भाले लोगों में अपना प्रचार-कार्य शुरू कर दिया जिससे अनुयायियों की संख्या बढ़ सके, उस (पॉल) का महत्त्व बढ़ जाए और फिर वह अपने विरोधियों से समर्पण करा सके तथा उन्हें अपने अधीन कर ले।

श्री बैरेट पद्य क्रमांक १ और ५ का विश्लेषण करते हुए कहते हैं: "विचार-प्रवाह निम्न प्रकार होता है: कृपया मेरी कोई छोटी त्रुटि भुला दो, (पद्य १)। मुझे जरूर बोलना पड़ेगा क्योंकि मुझे तुम्हारे बारे में बहुत अधिक आतुर, चिन्तित होने की बात है (पद्य २ एफ०)। तुम तो उसके साथ

१. मानचेस्टर विश्वविद्यालय में २६ नवम्बर, १९६३ को दिया गया 'मैन्शन मैमोरियल लेक्चर', पृष्ठ २९४-२९५।

भी निर्वाह करने को तैयार हो जो तुमको एक झूठे, जाली धर्मग्रन्थ का प्रचार करता है (पद्य ४)। तुम्हें मेरे साथ मिलकर रहना चाहिए क्योंकि मैं उन लोगों के पीछे नहीं चलता जिनको तुम सबसे बड़ा शिष्य समझते हो (पद्य ५)। यह सत्य है कि कुछ लोग मेरी वाक्-शक्ति का तिरस्कार करते हैं, किन्तु मुझमें ज्ञान का अभाव नहीं है (पद्य ६)।''[१]

श्री बैरेट को यह सम्भव नहीं लगता कि (बाद के दिनों में) पॉल व्यंग्यात्मक रूप में जरुस्लम के शिष्यों के बारे में कहने में कोई निषेध अनुभव करने लगा था, किन्तु यह भी सम्भव नहीं लगता कि वह उनको झूठे, ढोंगी, पाखण्डी शिष्य कहने लगा हो।[२] यह तो सहज, स्वाभाविक ही था क्योंकि पॉल जरुस्लम में अपने उच्चाधिकारियों के प्रशासनिक नियंत्रण से मुक्त हो जाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक-मात्र उपाय एक नये मुक्तिदाता, संरक्षक के नाम में एक नये धर्म-विधान का प्रचार करना ही था। इस प्रकार पॉल यद्यपि मूल, सैद्धान्तिक रूप से भगवान् कृष्ण की पूजा-आराधना से श्रान्त-क्लान्त नहीं हुआ था, फिर भी उसने अपने जरुस्लम-अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह करने का मन बना ही लिया और उस विद्रोह की घड़ी में शेष से अंधा व निजी आकांक्षा से ग्रस्त-त्रस्त पॉल ने जरुस्लम के प्रति निष्ठा के साथ-साथ कृष्ण-शिशु का भी परित्याग कर दिया और जीसस के नाम में एक अजन्मा दिखावटी, काल्पनिक व्यक्तित्व अंगीकार कर लिया।

श्री बैरेट का भी यही मत है। उन्होंने लिखा है कि, ''पॉल के प्रचार से कोरिन्थ में कई लोगों का धर्म-परिवर्तन हुआ, जिनमें प्रथम (अकोइया में तो कम-से-कम प्रथम) स्टीफेनस के परिवार के लोग ही थे (xvi—१५)। पॉल ने तो केवल एक कृस्ती चर्च (अर्थात्) जीसस कृस्त (क्राइस्ट) खुद के लिए मनोगम्य, कल्पनीय नींव ही रखी थी (iii—१० एफ०)। अन्य लोगों को इसके (नींव के) ऊपर निर्माण करना था, और ऊपरी निर्माण कम संतोषजनक सिद्ध हुआ उस नींव, आधार की अपेक्षा, तुलना में जिस पर

१. मानचेस्टर विश्वविद्यालय में २६ नवम्बर, १९६२ को दिया गया 'मैन्शन मैमोरियल लेक्चर', पृष्ठ २९५।

२. वही, पृष्ठ २९६।

वह सारा बना था।"[१]

इस प्रकार, श्री बैरेट जैसे कुशाग्र-बुद्धि, विवेकी विद्वानों के अनुसार आधार से लेकर ऊपर तक सम्पूर्ण कृस्ती-निर्माण पॉल की सृष्टि ही है। एक बार जब पॉल ने इस दिशा में कार्य प्रारम्भ कर दिया, तब किसी ने भी जीसस के अस्तित्व के बारे में प्रश्न करने या उसकी परख करने का कष्ट नहीं किया। और आज हमारे सम्मुख एक अति विशाल ऊपरी निर्माण है जिसमें पोप से नीचे तक तथा शाखाओं-प्रशाखाओं तक और करोड़ों की संख्या तक अनुयायी, धर्मावलम्बी हैं। किन्तु जब श्री बैरेट और प्रोफेसर जी० ए० वैल्स जैसे विद्वान् इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल करते हैं कि वास्तव में ये करोड़ों लोग किसका अनुसरण करते हैं तब वे विफल हो जाते हैं।

हम ऐसा ही समान उदाहरण ताजमहल की कथा में पाते हैं। तीन लम्बी शताब्दियों तक ढोल बजा-बजाकर विश्व-भर में प्रचार ने यह विश्वास उत्पन्न कर विश्व को दिग्भ्रमित किया है कि ताजमहल का निर्माण एक इस्लामी मकबरे के रूप में १७वीं सदी में हुआ था। हमने जब इस मामले की जाँच-परख की तो यह पाया कि यह ताजमहल तो उस शाहजहाँ से पूर्व लगभग ५०० वर्षों से ही अस्तित्व में रहा है, जिसे आमतौर पर इसका निर्माण-श्रेय दिया जाता है। यहाँ भी सम्पूर्ण विश्व ने किसी भी तथ्य को सत्यापित करने की परवाह किए बिना ही मात्र कानाफूसी पर ही अपना भावात्मक, कारुणिक विश्वास जमा लिया।

पॉल और उसके समकालीन साथी भगवान् कृष्ण की पूजा करनेवाले होने के कारण उनके पास भगवद्गीता (या उसका सार-संक्षेप) किसी-न-किसी रूप में थी ही। यह वह उपदेश-ग्रन्थ है जो महाभारत-युद्ध-क्षेत्र में भगवान् कृष्ण ने अपने शिष्य अर्जुन को परामर्श रूप में दिया था।

विल डूरंट ने लिखा है, "मैथ्यू ने सूक्ति-संग्रह (लोगिया) हिब्रू भाषा में लिपिबद्ध किया...जो प्रकटतः क्राइस्ट (कृस्त) के कथनों का एक पूर्वकालिक अरामाइक संग्रह था। सम्भवतः पॉल के पास कोई ऐसा अभिलेख—

---

१. सी० के० बैरेट : 'ए कमेंटरी ऑन दि फर्स्ट एपीसल टु दि कोरिंथियन्स', पृष्ठ ३।

दस्तावेज था क्योंकि वह चाहे किसी धर्मग्रन्थ का उल्लेख नहीं करता, फिर भी जीसस के प्रत्यक्ष शब्दों, उद्‌गारों को वह प्राय: उद्धृत करता ही रहता है।"[1]

उपर्युक्त अवतरण केवल तभी सार्थक होगा जब क्राइस्ट (कृस्त) को कृष्ण का एक रूपान्तरण और जीसस को ईशस का रूप समझ लिया जाए। उपर्युक्त अवतरण में यह भी उल्लेख किया गया है कि पॉल के पास कोई धर्मशास्त्र (धर्मग्रन्थ) न था और इसीलिए वह किसी धर्मग्रन्थ का उल्लेख भी नहीं करता। इसी प्रकार हम पहले ही यह भी अवलोकन कर चुके है कि जीसस का जन्म कभी हुआ ही नहीं था। अत: स्वाभाविक ही है कि यदि पॉल के पास (बाइबल से पहले की) कोई पुस्तक थी जिससे वह स्वयं उस भगवान् के उद्‌गारों को उद्धृत करता था जिसका नाम जीसस क्राइस्ट (कृस्त) अर्थात् ईशस कृष्ण था, तब वह धर्मशास्त्र (ग्रंथ) या पुस्तक स्वयं 'भगवद्‌गीता' के अतिरिक्त-अन्य कुछ थी ही नहीं।

प्रारम्भ में पॉल अर्थात् सॉल भगवान् कृष्ण का इतना कट्टर, एक-निष्ठ भक्त और हिन्दू धर्म का अनुयायी था कि जब लगभग ईसा-पश्चात् सन् ३० में स्टीफन पर मुकदमा चला था और उसे मृत्युदंड दिया गया था तब उस पर आक्रमण में पॉल ने भी भाग लिया था।

स्टीफन को ७१ सदस्यवाली प्राचीन जरुस्लम की सर्वोच्च परिषद् और न्याय के उच्चतम न्यायालय 'सन्हेड्रिन' के समक्ष इस आरोप पर बुलाया गया था कि उसने मोजेज़ तथा ईश्वर के विरुद्ध अपशब्दोंवाली भाषा का प्रयोग किया था। उसने अत्यधिक प्रतिशोध के साथ अपना बचाव किया था यह कहकर कि "मूर्तिपूजक दिलों और कानोंवाले तुम जिद्दी, हठी लोगो! तुम हमेशा पवित्र आत्मा का विरोध कर रहे हो जैसा तुम्हारे पूर्वजों ने किया था। तुम्हारे पूर्वजों ने किन पैगम्बरों पर मुकदमा नहीं चलाया? तुमने उन आदमियों को मार डाला जिन्होंने सत्पुरुष के आने का भविष्य कथन किया था, तुमने जिसको अब धोखा दिया है और मार डाला है।"[2]

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५५।

२. वही, खण्ड ३, पृष्ठ ५७५-५७६।

स्टीफन की पागलों जैसी बातों से कुपित होकर, क्योंकि जैसा हम देख ही चुके हैं, कोई जीसस हुआ ही नहीं था, "सन्हेड्रिन ने क्रुद्ध होकर उसे बाहर तक घसीटकर निकलवा दिया और पत्थरों की मार से मरवा दिया।" पाखण्डी पॉल ने हमले में साहाय्य, बढ़ावा दिया और बाद में वह जरूस्लम में घर-घर की तलाशी लेने के लिए गया जहाँ उसे शंका थी कि स्टीफन जैसे अन्य लोग छुपे होंगे जो हिन्दू-पूजा के विरोध में प्रचाररत होंगे, और फिर उसने उनको कारावास में ठूँस दिया।

विल डूरण्ट के अनुसार, "बाइबल की व्याख्या करने का पॉल का ढंग अति दक्षतापूर्ण और प्रखर था। पॉल ने स्वयं को व्यक्तित्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वहीन और भयंकर शारीरिक पीड़ा से ग्रसित बताया। वह एक झुका हुआ, गंजा, विशाल मस्तक, पीला मुख, कठोर मुखाकृति तथा पैनी आँखोंवाला दाढ़ीयुक्त तपस्वी था। वह कार्य करने में शक्तिशाली था क्योंकि विचारों में वह संकुचित था। वह ईश्वर की मस्तीवाला व्यक्ति था, जो धार्मिक उत्साह, उमंग से मदमस्त, ओतप्रोत था। वह स्वयं को दैवी प्रेरणावाला व्यक्ति विश्वास करता था जिसको चमत्कार करने की योग्यता ईश्वर से कृपावश प्राप्त थी।"[1]

पॉल ने "यहूदीवाद के नाम में कृस्ती-पंथ पर आक्रमण करने से प्रारम्भ किया और क्राइस्ट (कृस्त) के नाम में यहूदीवाद की अस्वीकृति से अन्त, समापन किया।"

विल डूरण्ट का यह पर्यवेक्षण ठीक, सही नहीं है। पॉल ने कृस्ती-पंथ पर आक्रमण नहीं किया जिसका सीधा-सादा कारण यही था कि पॉल को मालूम था कि कोई जीसस था ही नहीं और इसी कारण कोई कृस्त-नीति भी नहीं थी। पॉल स्टीफन और उसके अनुयायियों से इस कारण चिढ़ गया, कुपित हो गया कि वे एक गैर-मौजूद, अस्तित्वहीन पैगम्बर के नाम में एक तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह, बगावत खड़ी कर रहे थे। इसलिए पॉल स्टीफन के विरुद्ध ठीक ही उत्तेजित था।

विल डूरण्ट का कहना है कि, "विधि (कानून) के प्रति स्टीफन की

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५८०।

अवहेलना-वृत्ति से आहत होकर पॉल स्टीफन की हत्या करने में शामिल हो गया और जरुस्लम में कृस्ती-पंथियों के सर्वप्रथम प्रताड़न में नेतृत्व प्रदान किया। यह सुनकर कि नये धर्म ने दमिश्क में धर्म-परिवर्तन कराया है, उसने प्रधान पुरोहित से वहाँ जाने की, उक्त पंथ से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों को बन्दी बना लेने की और उनको जंजीरों में बाँधकर जरुस्लम ले आने की अनुमति (लगभग ईसा-पश्चात् सन् ३१ में) प्राप्त कर ली।"

सभी विद्वानों ने अभी तक यही विश्वास करने में गलती की है कि स्टीफन और पॉल का समान, एक ही धर्म था और वह धर्म था ईसाई-धर्म, कृस्त-नीति। यह दुहरी, दुतरफा गलती है। स्टीफन कृस्ती नहीं था। वह तो स्थापित धार्मिक प्रणाली का एक विरोधी मात्र था। उन दिनों कृष्ण मन्दिरों का नियंत्रण करने वाले लोगों के विरुद्ध अपने क्रोध में स्टीफन अपना आगा-पीछा भुला बैठा। अपनी दिमागी उत्तेजित अवस्था में उसने अपने विरोधियों पर भगवान् की हत्या करने, सत्य व न्याय का नाश कर देने के आरोप लगा दिए। मनुष्य क्रोधित होने पर इसी प्रकार की परिचित भाषा का इस्तेमाल करता है। पॉल ने भी बाद में इसी भाषा को दोहराया था। किन्तु पॉल ने भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभाईं। पहले की भूमिका में उसने स्टीफन को विरोधी करार देते हुए उसकी निन्दा की और उसको मार डालना उचित बताया। बाद में जब वह स्वयं पुरोहित-वर्ग के साथ झगड़े में पड़ गया, तब उसने पुरोहित-समाज को कृष्ण अर्थात् कृस्त (क्राइस्ट) की हत्या का दोषी ठहराया—अर्थात् देवत्व के प्रत्येक सिद्धान्त की उपेक्षा, अवहेलना करने का पुरोहित-वर्ग को दोषी कहा। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो देवत्व की 'भावना, आत्मा' का हनन करने के लिए पुरोहित-वर्ग को ही पूरी तरह अपराधी कहा गया था। यह सामान्यतः प्रचलित वाक्य-शैली है जिसका प्रयोग अन्याय की शिकायत करनेवाला प्रायः हर व्यक्ति सामान्यतः करता ही है।

कृस्ती-पंथ ने स्टीफन और पॉल द्वारा विभिन्न अवसरों पर प्रयुक्त क्रुद्ध भाषा का मूलार्थ निकालने में भयंकर भूल की है। सर्वप्रथम, जब पॉल और स्टीफन ने पौरोहित्य को कृस्त की हत्या करने का अपराधी कहा था, तब उनका भाव, नाम-संकेत कृष्ण था क्योंकि उन दिनों के यूरोपीय-अरब

क्षेत्रों में कृष्ण का अपभ्रंश-उच्चारण कृस्त के रूप में होता था। दूसरी बात, कृस्त अर्थात् कृष्ण की 'हत्या करने' का अर्थ उसे शारीरिक सूली-मृत्युदंड देने का न था। तीसरी बात, जब 'हत्या करना' का 'दैवी-आत्मा के उल्लंघन' तक अर्थ-विस्तार कर दिया गया, जैसा हम दूसरों पर शब्दों का नहीं, कानून की भावना/आत्मा का उल्लंघन करने का आरोप लगाते हैं, तब हम किसी 'अदृश्य, आत्मा' का नहीं—मुख्य पदार्थ/भाव का निहितार्थ रखते हैं। कृस्ती-पंथ ने कृस्ती-त्रि-देवमूर्ति में ईश्वर की 'आत्मा/छाया' को एक अंश/भाग बनाने में स्टीफन और पॉल की अभिव्यंजना को पूरी तरह गलत रूप में समझा और उसकी गलत व्याख्या की है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि 'जीसस' और 'ईश्वर की आत्मा' किस प्रकार भ्रांत अवधारणाएँ हैं। इस तरह, बिना किसी देवत्रयी के 'ईश्वर' अकेला ही रह जाता है।

कृस्ती-पंथ के साथ जुड़ी हुई त्रि-देव की यह धारणा कृस्ती-पूर्व की हिन्दू-परम्पराओं की ही एक कड़ी है। हिन्दुओं की एक देव-त्रयी परम्परा है जिसमें वे एक ही देवत्व में ब्रह्मा, विष्णु व महेश के व्यक्तित्व की प्रति-छवि ईश्वर के सृजनात्मक, संरक्षणात्मक और विध्वंसक पक्षों (तत्त्वों) को सँजोए व अवधारित रखते हैं।

इतना ही नहीं, त्रि-नेत्र (संस्कृत में त्रि-नेत्र का अर्थ तीन आँखों वाला व्यक्ति है) भगवान् शिव का एक विशेषण-सूचक शब्द, उपाधि-नाम है जो हिन्दू जनश्रुति के अनुसार तीन आँखोंवाले हैं। त्रि-नेत्र अर्थात् भगवान् शिव की पूजा सम्पूर्ण कृस्ती-पूर्व विश्व में प्रचलित थी। उसी विश्वव्यापी पूजा के आधार पर भगवान् शिव 'विश्वनाथ' अर्थात् 'विश्व के स्वामी' के रूप में भी जाने जाते हैं। वह 'त्रि-नेत्र' शब्द भी त्रि-नीति में उच्चारित हो अपभ्रंश रूप धारण कर बैठा।

इसी के साथ-साथ 'त्रि-नीति' शब्द भी स्वयं संस्कृत और हिन्दू शब्द है। इसमें दो शब्द हैं 'त्रीणि-इति' अर्थात् ये तीन।

इस प्रकार कृस्ती-पंथ में न तो पॉल और न ही स्टीफन ठीक प्रकार, यथार्थ में समझे गए या उनकी व्याख्या, समीक्षा की गई है। पॉल जहाँ कहीं भी गया, उस पर सामूहिक आक्रमणों ने पॉल की भावात्मक, महत्त्वाकांक्षी और सतत-सक्रिय प्रकृति को शोचनीय, दयनीय कर दिया; अतः वह

मनोवैज्ञानिक रूप से अस्थिर हो गया स्टीफन की पत्थर मार-मारकर की गई हृदय-विदारक मृत्यु के भयावह दृश्य ने पॉल के अवचेतन मन में प्रवेश कर लिया था। इसने तथा पॉल द्वारा पैदा किए गए वाद-विवादों ने उसको निराश और चिन्तित, विचारमग्न बना दिया था।

एक बार जब ऐसी ही निराश और खेदजनक अवस्था में वह दमिश्क की यात्रा पर था तब "स्वर्ग (आकाश) से अकस्मात् एक प्रकाश-किरण उसके ऊपर अवतरित हुई और वह भूमि पर गिर पड़ा। फिर उसने सुना कि एक आवाज उससे कह रही है कि, 'सॉल, सॉल, तुम मुझे क्यों सता रहे हो?' उसने पूछा, 'आप कौन हैं श्रीमन?' आवाज ने कहा, 'मैं जीसस हूँ'।" इस उपर्युक्त घटना का उल्लेख धर्म-चरित में है। स्पष्ट है कि खराब स्वास्थ्य, यात्रा की थकान, श्रान्ति-क्लान्ति और अत्यन्त गर्मी या ठंड ने पॉल पर रक्ताघाती दौरा चालू कर दिया था। ऐसी (शारीरिक-मानसिक) अवस्था में रोगी का कोई दृश्य देखना और अज्ञात से कोई आवाज सुनना आम बात ही है। 'जीसस' शब्द तो अरब-संसार में ईश्वर के अर्थ-द्योतक संस्कृत शब्द 'ईशस' का तत्कालीन उच्चारण-मात्र ही था। अतः यह मानना, कहना अधिक उचित है कि पॉल ने 'ईश्वर' द्वारा उसको (स्वयं को) पुकारा जाना सुना था, न कि 'जीसस' नाम से पुकारे जानेवाले किसी व्यक्ति द्वारा। यह फिर एक अन्य उदाहरण है जो प्रदर्शित करता है कि कृस्ती-पंथ किस प्रकार गलत व्याख्या और गलत अवधारणाओं पर आधारित है। मूल संस्कृत शब्द-युग्म 'ईशस कृष्ण' ही 'जीसस क्राइस्ट (कृस्त)' उच्चरित हो रहा है और फिर उसकी गलत व्याख्या किसी अजन्मे व्यक्ति के रूप में की जा रही है।

उस दृश्य के बाद ही पॉल ने दमिश्क की यहूदी प्रार्थना सभाओं में प्रवेश करके तथा सम्भवतः उसी आघात के कुछ शेष प्रभाव के अन्तर्गत ही अपने दृश्य की चर्चा अन्य लोगों से करनी शुरू कर दी। उसने आग्रहपूर्वक कहा कि उसने ईश्वर या ईश्वर के पुत्र की आवाज सुनी थी। उसका मन्तव्य यह था कि उसने जीसस कृस्त के रूप में उच्चरित ईशस कृष्ण का स्वर ही सुना था।

पुरोहित-वर्ग से उसके पुराने कटु विवादों के सन्दर्भ में उसका नया

दृष्टिकोण पापमय, घृणित दृष्टिगत होने के कारण दमिश्क के लोग उससे कुपित, उत्तेजित हो गए। कुछ लोग उसके पीछे दौड़े भी। इसलिए, उसके कुछ शुभचिन्तकों ने उसे एक टोकरी में नगर-कूप में लटका दिया (और उसके प्राण बचाए)।

इसके बाद तीन साल तक पॉल ने अरेबिया के पुरवा, गाँव-देहातों में कृस्त का प्रचार किया। उसने पीटर से समझौता कर लिया जिसके साथ वह पहले झगड़ चुका था और अब कुछ समय तक दोनों साथ-साथ रहे। एक नई धार्मिक व्यवस्था का शीर्षस्थ स्थान ग्रहण करने के लिए पट्ट-शिष्यों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनमें से अधिकांश पॉल से घृणा करते थे। किन्तु बर्नाबस पॉल से मिल गया और जरुस्लम में असन्तुष्टों से उसने कहा कि वे अपने पूर्वकालिक यातनादाता को यह शुभ समाचार (अर्थात् धर्म-वाक्य) प्रवर्तक के रूप में प्रचारित करें कि मसीह (देवदूत) आ गया है और वह शीघ्र ही अपना साम्राज्य स्थापित करेगा।

तथ्यत: तो, इसको कृस्ती-पंथ का प्रारम्भिक बिन्दु माना, समझा जाना चाहिए। इसका संस्थापक, जनक पॉल है जिसकी सहायता बर्नाबस और पीटर द्वारा की जाती है। जीसस कहीं नहीं है, गैर-मौजूद, अस्तित्वहीन है।

'मसीह/मसीहा' शब्द 'महान् ईश्वर' के अर्थ-द्योतक संस्कृत शब्द 'महेश' का विकृत रूप है। और धर्म-वाक्य, धर्म-वचन अर्थात् शुभ समाचार या सन्देश कि 'मसीहा को आना है' वास्तव में भगवान् कृष्ण की 'भगवद्-गीता' का सन्देश/उपदेश ही है। पॉल के हाथ में जो पुस्तक, उसके परम्परागत चित्र में दिखाई जाती है, हम पहले ही देख चुके हैं, वह भगवद्-गीता या उसमें से चुने हुए सारांश हैं क्योंकि पॉल के समय तक कृस्ती-बाइबल का कोई आकार, रूप बन ही नहीं पाया था।

यूनानीभाषी यहूदी लोग, जिन्हें पॉल ने अर्ध-ईशस कृष्ण और अज्ञात जीसस कृस्त (क्राइस्ट) का मिश्रित-मिष्ट धर्म प्रचारित किया था, इतने क्रुद्ध, उत्तेजित थे कि उन लोगों ने पॉल को मार डालने का यत्न किया तथा अन्य शिष्यों ने अपनी प्राण-रक्षा के लिए पॉल को अपने मूल नगर, दूरस्थ तारसुस चले जाने के लिए तैयार कर लिया। उसके बाद, आठ वर्ष

तक पॉल के बारे में कुछ नहीं सुना गया। सम्भवत: वह भेष बदलकर रहने लगा था जिससे उसके दुश्मन उसे खोज न सकें व भूल जाएँ तथा वह अपने उस मानसिक सन्तुलन को पुन: प्राप्त कर सके जो भगवान् कृष्ण के प्रति उसकी परम्परागत निष्ठा एवं उसके मस्तिष्क में चल रहे जीसस की अवधारणा के बारे में नए विचार के कारण बिगड़ गया था।

आठ वर्ष के उक्त अन्तराल के बाद बर्नाबस ने पॉल से सम्पर्क किया और उसे अपना नया देव-विज्ञान अंटियोक में प्रचारित करने के लिए तैयार कर लिया। वहाँ बर्नाबस और पॉल ने अपने अनुयायियों की बहुत बड़ी संख्या तैयार कर ली, जो बहुत धनी भी थे। ये ही नव-धर्मपरिवर्तित धनाढ्य व्यक्ति थे जिन्होंने एक राशि संग्रह की जिसके माध्यम से बर्नाबस और पॉल अन्य नगरों, उप-नगरों में अपने शिष्य बनाने के लिए ईसा-पश्चात् सन् ४५ से ४७ के मध्य प्रवास पर रहे। इसे सन्त पॉल की प्रथम धार्मिक (धर्म-प्रचार सम्बन्धी) यात्रा कहते हैं। वे साइप्रस गए जहाँ उनके नव-धर्म में बहुत सारे यहूदी उनके अनुयायी बन गए। सम्भवत: कोई समझा भी नहीं कि नया धर्म क्या था। शायद इसको पिछले सारांश से अत्यल्प अंश में ही भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया था। किन्तु नए विश्वास की नवीनता अति उग्र, प्रचण्ड थी। नया धर्म विकसित होने पर उसमें महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करने के लिए पहले-पहले प्रवेश लेने का मोह अत्यन्त आकर्षक था। यह वैसे ही था जैसे किसी नाटक-मंच या सिनेमाघर में कुछ जल्दी पहुँचकर अपने-अपने स्थानों पर निश्चिन्त व सुविधापूर्वक बैठने हेतु कुछ लोग टिकट पहले ही ले लेते हैं जिससे वे स्थान के लिए अनावश्यक धक्कम-धक्की से बच सकें और परेशान न हों।

किन्तु पॉल के धर्म-प्रचार का अनेक लोगों ने विरोध, तिरस्कार भी किया था। पीसीडिया में अंटियोक में पॉल को निर्वासित कर दिया गया था। इकोनियम में भी लोगों ने पॉल की उपस्थिति पर एतराज़ किया था। लिस्ट्रा में पॉल को पत्थर मारे गए, उसे घसीटा गया और शहर के बाहर, मृत समझकर, फेंक दिया गया।

वहाँ से पॉल और बर्नाबस डर्बी और परगा तथा वहाँ से सीरियाई अंटियोक चले गए। अन्तिम उल्लेख किए गए स्थान पर पॉल का विरोध

जरुस्लम से भेजे गए एक दल ने किया जिसका आग्रह था कि नए धर्म में भी सुन्नत करानी चाहिए क्योंकि यहूदियों में इसको प्रचलित रखा हुआ था। पॉल कृस्ती-पंथ में जरुस्लम में प्रविष्ट यहूदियों को समझाने-बुझाने के लिए वहाँ (जरुस्लम में) आया कि वे सुन्नत—मुसलमानीकरण—के लिए आग्रह न करें। जरुस्लम के दल को अंटियोक-संग्रह से विशाल धनराशि देकर सम्भवत: मना लिया गया था। किन्तु बाद में भी पॉल और बर्नाबस को कष्ट दिए जाते रहे और उन्हें दबाया, उन पर जोर भी डाला जाता रहा।

ईसा-पश्चात् सन् ५० के आसपास, विश्वास किया जाता है कि पॉल ने अपनी दूसरी धर्म-प्रचार यात्रा की थी। लगभग इसी कालावधि में बर्नाबस पॉल से मनमुटाव कर बैठा था और फिर इतिहास में कभी उसका नाम नहीं सुना गया। विश्वास किया जाता है कि वह मूल स्थान साइप्रस वापस चला गया था। किन्तु पॉल को एक युवा टिमोथी मिल गया तथा लूके व सिलास भी आकर उसके साथ हो लिए।

मेसेडोनिया में फिलिप्पी में पॉल और सिलास बन्दी बना लिए गए थे, उन्हें कोड़े मारे गए तथा कारागार में डाल दिया गया। किन्तु उन्हें तब मुक्त कर दिया गया जब उन्होंने अपनी रोमन नागरिकता सिद्ध, प्रमाणित कर दी।

टेसालोनिका में जीसस के नाम में प्रचार करने के लिए पॉल का विरोध किया गया था और उसे गुप्त रूप से रात्रि के समय शहर से बाहर सुरक्षित निकाल दिया गया था।

अत: पॉल बोराइया के लिए चल पड़ा, लेकिन वहाँ भी उसका विरोध हुआ और उसे जान बचाकर भागना पड़ा। पाल एथेन्स पहुँच गया। वहाँ वह बाजार में खड़ा हो जाता था और अन्य कई धर्म-प्रचारकों के समान भीड़ को लम्बा-चौड़ा, उग्र भाषण दिया करता था। लोग उसको ताना मारते और मजाक उड़ाते थे।

उन दिनों के एथेन्स में, आक्रमणों से ध्वस्त होने के कारण, अनेकों उपासनागृह खाली पड़े थे। एक स्थान पर लगी पुरातत्त्वीय-सूचना के अनुसार वह पूजा-स्थान 'अज्ञात ईश्वर' का था। पॉल ने उसकी व्याख्या इस अर्थ में की कि इस पूजा-स्थान का सम्बन्ध उस ईश्वर से था जो अदृश्य था।

एथेंसवासियों ने उसकी ओर तिरस्कार-दृष्टि ही रखी। पॉल निराश हो कोरिन्थ के लिए चल पड़ा, जो समृद्धिशील व्यापारी केन्द्र था। पॉल वहाँ १८ महीने रहा, आजीविका के लिए टैण्ट बनाने का काम करता रहा और साप्ताहिक छुट्टियों में उपासनागृहों की धर्म-सभाओं में प्रचार-भाषण करता रहा जो 'सब्बाथ' के नाम से जाने जाते हैं।

यहाँ पॉल ने अपने अनेक अनुयायी बना लिए यद्यपि उसका अपने विरोधियों से झगड़ा भी हुआ जिन्होंने पॉल पर मुकदमा दायर कर दिया।

कोरिन्थ से पॉल 'चर्च को सलामी' देने के लिए जरुस्लम चला गया। जरुस्लम उन दिनों में सभी धर्मों का प्रधान केन्द्र होने के महत्व को बनाये हुए था क्योंकि इसमें अरब-यहूदी केन्द्र का सबसे बड़ा कृष्ण-मन्दिर स्थित था।

ईसा-पश्चात् सन् ५४ के आसपास पॉल अपनी तीसरी धर्म-प्रचार-यात्रा के दौरान जरुस्लम से अंटियोक और एशिया लघु के लिए चल पड़ा। ईपिसस में अपने दो वर्षीय प्रवास के मध्य आध्यात्मिक उपचार का अभ्यास करने के लिए उसने अनेक लोगों को अपना अनुयायी बना लिया। यहाँ कई कलाकार हिन्दू देवताओं की प्रस्तर या धातुओं की मूर्तियाँ/प्रतिमाएँ बनाकर या उनके मन्दिरों के प्रतिरूप बनाकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। पॉल द्वारा नए मत/पंथ के प्रचार का उनके व्यवसाय पर कु-प्रभाव होता था। अत: उन्होंने पॉल को वह स्थान छोड़कर चले जाने के लिए विवश, मजबूर कर दिया।

इसके पश्चात् उसने कुछ मास फिलिप्पी, टेसालोनिका और बोराइया में स्थापित लघु सभाओं के साथ सुखपूर्वक गुजारे। उसे संतोष था कि उसने प्रबल विरोध और घृणा का बहादुरी के साथ मुकाबला किया था और उसे एक नायक के रूप में अपनी छवि बनाने की अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति भी होती हुई दिखी थी जो कई स्थानों पर चाहे थोड़े ही लोग मानने लगे। पॉल को पता था कि इसके बाद अन्य पंथों से विलग हुए लोग इस नए पंथ में आ ही जाएँगे क्योंकि यह क्रम उसने एक बार तो शुरू कर ही दिया था। चूँकि अब नया पंथ प्रारम्भ कर ही दिया गया था, अत: समय बीतते-बीतते उसके अनुयायियों की संख्या बढ़नी भी लाजिमी, आवश्यकीय ही थी।

इसी घड़ी में पॉल ने कोरिन्थ स्थित अपने अनुयायियों में मौजूद मतभेद,

असंतोष और भ्रष्टाचार की शिकायतें भी प्राप्त कीं। उसने उनकी भर्त्सना के कई पत्र उनको लिखे। बाद में, जब ईसा-पश्चात् सन् ५६ के आसपास पॉल कोरिन्थ गया, तब उसकी मुखालफत करनेवालों ने उसके ऊपर आरोप लगाए कि उसने धर्म-प्रचार के कार्यकलापों से बहुत भौतिक लाभ उठाए थे; उन्होंने उसके अलौकिक, रहस्यमय दृश्यों का भी मजाक उड़ाया।

पॉल की जीवन-गाथा सताए गए, तंग किए गए, उजाड़े गए, दुःखी व्यक्ति की जीवन गाथा थी। उसने आठ कशाघात (कोड़ों-चाबुकों की मार), एक बार पत्थरों की मार, तीन बार सर्वनाश और नदियों, लुटेरों तथा प्रतिद्वन्द्वियों से हजारों बार विपत्तियाँ सहन की थीं।

चूँकि नव-धर्मावलम्बी अधिकांशत: यहूदी थे, उन्होंने कृस्ती-पंथ में भी 'सुन्नत' कराने को अनिवार्यत: जरूरी कर देने पर जोर दिया। पॉल उस यहूदी-प्रथा का कोई आग्रही नहीं था। यह विवाद तथापि बना रहा और बाद में अति तीव्र हो गया। पॉल जरुस्लम जाने के लिए और यह मामला सदैव के लिए निपटा देने के लिए मजबूर हो गया।

जरुस्लम में पॉल का प्रत्यक्षत: भव्य स्वागत किया गया। अनेक कृस्ती-बस्तियों, उपनिवेशों के संस्थापक नेता के रूप में परन्तु परोक्ष, निजी रूप में 'सुन्नत' पर आग्रही न होने के लिए उसकी निन्दा, भर्त्सना की गई। अपनी भूल-चूक के लिए प्रायश्चित्त के निमित्त विशुद्धिकरण-रीति पूरी करने को बाध्य किया गया। किन्तु जब वह यहूदी-मन्दिर में देखा गया, तो उसके विरुद्ध जन-रोष मुखर हो गया। उसे घेर लिया गया और घसीटकर बाहर कर दिया गया। रोमन सैनिकों ने बीच-बचाव किया और उसे सुरक्षात्मक अभिरक्षा प्रदान की। उसे कैसेरिया भेज दिया गया और वहाँ दो वर्ष तक ईसा-पश्चात् ५८ से ६० सन् तक घर में नजरबन्द रखा। उस पर नया पंथ, धर्म प्रारम्भ कर लोगों को भड़काने का आरोप लगाया गया। छूटने पर, पॉल को जलपोत में भेजा गया जो समुद्र में नष्ट हो गया।

रोम में आने पर पॉल पर निगरानी रखी गई। वहाँ से वह विभिन्न स्थानों पर अपने अनुयायियों को प्रेममय पत्र लिखा करता था। उन पत्रों में पॉल की इस अपराध-स्वीकृति से कि "मैं सब लोगों के लिए सभी कुछ हो चुका हूँ" यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पॉल सभी लोगों को उनकी ही इच्छानु-

सार शर्तों पर नया पथ स्वीकार करने के लिए एकत्र होने का आग्रह कर रहा था, जो उनके अपने मूल विश्वासों का मात्र थोड़ा भिन्न रूप ही था।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण के महान्, अटल हिन्दू भक्तों को—कोरिन्थ-वासियों को पॉल कहा करता था : "क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारा शरीर उसमें निवास करनेवाली पवित्र आत्मा का मन्दिर है? प्रत्येक आत्मा दिव्य आत्मा, परमात्मा का ही एक अंश है—यह मान्य सिद्धान्त हिन्दू लक्षण ही है।"

पॉल के विरोधियों को पॉल स्वयं ही दिग्भ्रमित तथा एक नए पंथ का नेता बनने और एक नए 'चर्च' का प्रधान बनने के लिए अन्य लोगों को भ्रम में डालनेवाला प्रतीत होता था। अन्य लोगों को अपने पंथ में लाने के लिए उनको यह समझाने के बारे में कि उनके पुराने विश्वासों, पंथों से उसका नया पंथ थोड़ा-सा ही भिन्न था, विल डूरण्ट कहते हैं कि "पॉल ने यहूदियों के नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र को यूनानियों की तत्त्वमीमांसा में गूँथ दिया था और धर्मग्रन्थ के जीसस को देव, ब्रह्म-विज्ञान के क्राइस्ट (कृस्त) में रूपान्तरित कर दिया था। उसने एक नया रहस्य सृजित कर दिया था।"[१]

अपने शोचनीय, त्रासदायी अन्त से कुछ माह पूर्व ही पॉल ने कोरिन्थ-वासियों को लिखा था : "नियत घड़ी बहुत थोड़ी रह गई है...विश्व का वर्तमान रूप बदला जा रहा है...मारानाथ, भगवन्, शीघ्र आओ!"

यह विशिष्ट हिन्दू-आह्वान है। स्वयं 'मारानाथ' विशेषण-सम्बोधन 'मारण-नाथ' है जो मृत्यु-देवता के लिए संस्कृत उपाधिगत शब्द है। मृत्यु की कामना करते हुए पॉल द्वारा उस नाम का उच्चारण इस तथ्य का स्पष्ट संकेतक है कि पॉल का देवता भगवान् कृष्ण ही था, जिसके जरुसलम और कोरिन्थ-स्थित देवालयों, मन्दिरों में पॉल एक सहायक के रूप में नियुक्त था। उसका अपना स्वयं पॉल अर्थात् पाल नाम भी गोपाल, ग्रन्थपाल या असुर बेनीपाल में प्रयुक्त सामान्य संस्कृत प्रत्यय ही है। चाहे सॉल हो या पॉल, नाम तो संस्कृत भाषा का ही है जिसमें से 'गौ' उपसर्ग पृथक् हो गया था। 'गौसाल' अर्थात् 'गौपाल' नाम का अर्थ गौओं का लालन-पालन,

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५९१।

देखभाल करनेवाला व्यक्ति था। अतः पॉल तो भगवद्गीता का हिन्दू प्रचारक, धर्मोपदेशक था।

अन्तिम समय तक, पॉल की किसी भी स्थान पर उपस्थिति कटु भावनाएँ उत्पन्न कर देती थी। रोम में फिर उस पर मुकदमा चला; अपराधी घोषित हुआ और उसे मृत्युदण्ड दिया गया। उसका साथी पीटर भी उसी प्रकार अपराधी और दण्डित किया गया, स्पष्टतः एक अज्ञात, अजन्मे, काल्पनिक देवदूत-पैगम्बर-मसीहा के नाम पर लोगों को दिग्भ्रमित करने के अपराध में।

रोम में जहाँ पॉल का सिर धड़ से अलग कर दिया गया (था) विश्वास किया जाता है उसी स्थान पर सान पाओलो फुओरि ले मूरा अर्थात् 'प्राचीरों से परे—अस्पृश्य सेंट पॉल' का महामन्दिर खड़ा है।

यह धारणा बनाना गलत होगा कि पीटर या पॉल के सिर काटने की घटना के कारण कृस्ती-पंथ की लोकप्रियता व उसका प्रचार हुआ। कई शताब्दियों पश्चात् एक रोमन सम्राट् का धर्म-परिवर्तन हो जाने से रोमन अक्षौहिणी सेनाएँ कृस्ती-धर्म-प्रचारकों की सेवा में प्रस्तुत हो गईं। ये तो रोमन सैनिक दस्ते ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम रोमन प्रान्तों में ही कृस्ती-पंथ को बलात् थोप दिया ठीक उसी प्रकार जैसे कुछ शताब्दियों बाद ही अरबों ने जिन राष्ट्रों को पददलित किया उन पर इस्लाम जबरन थोप दिया।

विभिन्न आधिकारिक स्रोतों से खोजा गया पॉल का उपर्युक्त जीवन-चरित इस तथ्य का द्योतक है कि यद्यपि कृस्ती-पंथ के फलने-फूलने के बाद ही पॉल को सेंट—संत पद की उपाधि से सुशोभित, अलंकृत किया गया था, तथापि अपने जीवन-काल में तो पॉल से हाथापाई की गई थी, उसे पत्थर मारे गए थे, उसका पीछा किया गया था, उसे यातनाएँ दी गई थीं, और अन्त में फाँसी—सजाए मौत दे दी गई थी मात्र इसलिए कि उसने एक ऐसे पैगम्बर के बारे में झूठी-झूठी बातें बताकर लोगों को दिग्भ्रमित किया था और शान्ति भंग की थी, जिस (पैगम्बर) का कभी जन्म हुआ ही नहीं था।

अध्याय ५

राजद्रोह : विद्रोह, बगावत

आधुनिक प्रचार-माध्यमों ने कृस्ती-पंथ को पवित्र, शान्तिप्रिय, भोले-भाले, विनीत, निरीह और दुर्बल नर और नारियों के एक समूह के रूप में प्रस्तुत, प्रदर्शित किया है जिनको विधर्मी मूर्तिपूजक रोमनों और वैरपूर्ण यहूदियों द्वारा अति निष्ठुरतापूर्वक दमन-चक्र में पीसा, रौंदा गया था क्योंकि इन लोगों ने जीसस कृस्ती (क्राइस्ट) के माध्यम से मुक्ति, मोक्ष की कामना की थी।

हमारी शोध से उपर्युक्त की बिल्कुल उलटी, विपरीत बात ही सम्मुख आई है। रोमनों और यहूदियों ने जिस बात का दमन, विरोध असफल रूप में किया, करने का यत्न किया वह एक अस्तित्वहीन जीसस के नाम में किया गया राजद्रोह, विरोध, बगावत थी। उनकी आशंका पक्की सिद्ध हुई। कृष्ण मन्दिर-प्रबन्ध-विवाद के रूप में प्रारम्भ हुए इस आन्दोलन ने इतना बल पकड़ लिया कि इसने विरोधी मूर्तिपूजक रोमनों का दमन कर दिया और उनका सफाया कर दिया तथा यहूदियों को ध्वस्त-धूमिल, अकिंचन कर दिया और एक नये धर्म के रूप में उदित हो गया।

बाइबल, तथ्य रूप में तो सुस्थापित प्रशासनिक प्राधिकरण के विरुद्ध उसी संघर्ष का वर्णन, लेखा-जोखा मात्र है। यही कारण है कि बाइबल को भूल से नये मोक्ष-ग्रन्थ के रूप में माननेवाले सच्चे, सत्यनिष्ठ विद्वान् अत्यन्त निराश, हताश हुए थे। इसमें किसी सम्यक्, संगत जीवन-दर्शन ढूँढ़ पाने के लिए उन लोगों ने बार-बार निष्फल ही प्रयास किया। चाहे कितनी ही बार और चाहे कितनी ही सावधानी से उन्होंने बाइबल का अध्ययन करने का प्रयत्न किया, खुले-दिमागवाले विद्वानों को उसमें कुछ भी संगत, समानुरूप और निर्णायक नहीं मिल सका।

इसके विपरीत, बाइबल मन्दिर-नियंत्रण-विवाद, गुप्त बैठकों, सुनियोजित हिंसा, धोखा और सूली-दण्डों, फाँसियों का उल्लेख करती है। अतः बाइबल इतिहास की एक पुस्तक के रूप में ही सार्थक है। किन्तु यह सीधा-सीधा इतिहास भी नहीं है। यह उस राजद्रोह का कुछ अंशतः सांकेतिक और कुछ अंशतः लाक्षणिक, प्रतीक-कथात्मक रूप में वर्णन है जो एक मन्दिर-नियंत्रण के विवाद के रूप में प्रधानतः जरुस्लम व कोरिन्थ में शुरू हुआ था किन्तु अनायास ही जिसकी समाप्ति एक नये धर्म के अभ्युदय में हुई। इसी का समानान्तर उदाहरण हमें ब्रिटिश संसद में अपने प्रतिनिधित्व के लिए अमरीकी उपनिवेशों के संघर्ष में किन्तु एक शक्तिशाली स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में समाप्त होने में मिलता है। यदि संस्थापक जनकों द्वारा स्वाधीनता की घोषणा को धर्म नहीं समझा जाता, तो बाइबल को भी एक कृष्ण मन्दिर-विवाद का घोषणा-पत्र ही समझकर पढ़ना चाहिए, न कि एक नये धर्म की शास्त्रीय पुस्तक के रूप में उसका अध्ययन किया जाए।

जिस प्रकार अमरीकी स्वाधीनता अ-नियोजित, अ-याचित सुपरिणाम थी, उसी प्रकार कृस्ती-पंथ भी एक विचित्र और अज्ञात फल के रूप में मन्दिर-विरोधियों की गोद में आ पड़ा। इसको सप्राण, सजीव बनाने के लिए विरोधियों ने एक मिथक, काल्पनिक जीसस अर्थात् ईशस (अर्थात् स्वयं ईश्वर) के नाम में संघर्ष को रूपान्वित कर दिया। फिर, उन्होंने (जीसस के) पुनर्जीवित हो जाने की कहानी से यह भाव प्रचारित कर दिया कि रोमनों और यहूदियों ने उनको (विरोधियों को) यद्यपि पूरी तरह नष्ट, ध्वस्त कर दिया और मौत के घाट उतार दिया था तथापि वे अन्ततोगत्वा विजयी हो गए।

अभी हाल ही में कई विद्वानों ने किसी ऐतिहासिक जीसस में अपने विश्वास के कारण यह संदेह व्यक्त किया है कि वह रोमन अधिकारियों के विरुद्ध बगावती व्यक्ति था। अपने समर्थन में वे मार्क (११ : १५-१८) को उद्धृत करते हैं : "और वे जरुस्लम आ गए। और वह (जीसस) मन्दिर में घुसा और वहाँ उसने मन्दिर में बेचनेवालों को और जो वहाँ खरीद रहे थे उन सभी को बाहर खदेड़ना शुरू कर दिया। उसने वहाँ धन का लेन-देन करनेवालों की मेजें और कबूतर बेचनेवालों के स्थानों को उखाड़-पछाड़

दिया; उसने किसी को मन्दिर से कुछ भी ले जाने की अनुमति नहीं दी। उसने उनको सिखाया, बताया और पूछा : 'क्या यह नहीं लिखा है कि 'मेरा घर' सभी राष्ट्रों के लिए प्रार्थनागृह कहलाएगा ? किन्तु तुम लोगों ने तो इसे लुटेरों, ठगों का अड्डा बना दिया है।' मुख्य पादरियों-पुरोहितों, धर्मशास्त्रियों और लिपिकों ने इस बात को सुना और उस व्यक्ति को नष्ट करने का उपाय सोचने लगे क्योंकि वे उससे डरे, आशंकित थे और उसकी शिक्षा पर सारी भीड़, जनसाधारण चकित थे।" इस उद्धृत अवतरण में जीसस को विरोध-प्रदर्शनकारियों का एक प्रतीक-व्यक्ति मात्र ही समझना चाहिए।

सभी राष्ट्रों का वह प्रार्थनागृह और मन्दिर स्पष्टतः भगवान् कृष्ण का मन्दिर ही था। यह स्वयं भगवान् कृष्ण के अनेक चमत्कारों में से ही एक चमत्कार है कि इस्लाम और ईसाई धर्मपंथियों द्वारा नष्ट किया गया भगवान् कृष्ण का आराधना-पूजन एक बार पुनः अतिशक्तिशाली आन्दोलन के रूप में कृष्ण-चैतन्य की अन्तर्राष्ट्रीय सोसायटी के 'हरे कृष्ण' आन्दोलन की छवि में खड़ा हो गया है। सभी नास्तिक भी इस बात पर विचार करें कि ब्रह्माण्ड की वायु, चुम्बकीय, गुरुत्वाकर्षण, विद्युत् आदि बाध्यकारी महान् शक्तियाँ भी किस प्रकार अदृश्य ही हैं। क्या इसी प्रकार भगवान् कृष्ण की आराधना-पूजा भी एक ऐसी ही अटल, अबोधगम्य, अप्रत्यक्ष शक्ति से पुनः प्रारम्भ हुई हो—क्यों सम्भव नहीं है ?

आराध्यदेव याहवेह ने घोषित कर दिया था कहा जाता है : "मेरे उपासनालय में उनकी भेंटें स्वीकार्य होंगी।" यह भगवान् कृष्ण के संदर्भ में बिल्कुल सटीक है क्योंकि याहवेह यदु-वंश (परिवार) के एक के द्योतक 'यादवेयाः' संस्कृत शब्द का अपभ्रंश रूप ही है। भगवान् कृष्ण का सम्बन्ध उसी वंश से था। भगवान् कृष्ण ने भी भगवद्गीता में घोषणा की है कि, "श्रद्धापूर्वक मुझे समर्पित, भेंट का एक पत्ता, फूल, फल या जल भी मुझे स्वीकार्य है।"

कुछ विद्वान् (लूक और जोह्न से विहीन) रात्रिक सन्हेड्रिन मुकदमे को मार्क द्वारा किसी ग्रहीत परम्परा का ध्यान रखे बिना ही ठूंस दी गई रिपोर्ट माना है।

जीसस का तीन दिनों के बारे में संदर्भ १४ : ५७, ५८ ऐसा सुझाता है कि यह रोष पॉल, स्टीफन, मार्क आदि का है (मैं हाथों से बनाए गए इस मन्दिर को नष्ट कर दूंगा और तीन दिन में ही दूसरा मन्दिर बना दूंगा जो हाथों द्वारा निर्मित नहीं होगा)। मन्दिर के प्रबन्ध में उनकी कोई भी राय न सुनी जाने पर उन लोगों ने सोचा कि मन्दिर नष्ट हो जाए, तभी ठीक है। यही वह असंतोष और क्षोभ है जिसके कारण उन्होंने कृस्ती-पंथ अर्थात् कृष्ण-नीति का अपना पृथक् समूह स्थापित कर लिया और इसे जनप्रिय बनाने के लिए कठोर परिश्रम किया जिससे वे प्रचार, प्रतिष्ठा, समृद्धि और शक्ति के प्रबल केन्द्र बन जाएँ।

धन की अदला-बदली करनेवालों की मेजें पलट देने, हर एक को बाहर निकाल देने, मन्दिर को लुटेरों-ठगों का अड्डा कह देने और उसे उन लोगों से मुक्त, स्वच्छ करने की यह विद्रोही-योजना, जिसके लिए अजन्मे क्राइस्ट (कृस्त) को यश दिया जाता है, वास्तव में वह चाहना-इच्छा थी जिसे पॉल, स्टीफन और अन्य प्रारम्भिक कृस्ती नेतागण गम्भीरतापूर्वक पूर्ण करना चाहते थे। उपर्युक्त उद्धरण इस बात का अत्यन्त सशक्त, महत्त्व-पूर्ण साक्ष्य प्रमाण है कि बाइबल प्रारम्भिक कृस्ती (ईसाई) नेताओं की ऐसी ही काल्पनिक बातों से भरी पड़ी है। उनकी यह विद्रोहात्मक योजना ही है जो उन्होंने बाइबल में जीसस के नाम से अभिलेख, अंकित कर दी है।

उपर्युक्त उद्धरण ही इस बात का भी निर्णायक साक्ष्य है कि कृस्ती-पंथ किसी नई देव-पद्धति या धर्म-विज्ञान के रूप में प्रारम्भ न होकर उस वर्ग-समूह का झगड़ाऊ दल था जो उन लोगों से कृष्ण मन्दिर का प्रबन्ध छीन लेना चाहते थे जिनके नियंत्रण में वह था।

इतिहास छः सौ वर्ष बाद उस समय भी पुनः दोहराया गया था जब मक्का-स्थित विख्यात हिन्दू काबा मन्दिर पर नियंत्रण के लिए संघर्ष के परिणामस्वरूप इसलाम का जन्म हुआ। इसका अपना संस्कृत-नाम 'ईश-आलयम्' (अर्थात् ईश्वर का निवास-स्थान) और वे सात परिक्रमाएँ जो विश्व-भर के मुसलमान वहाँ पर स्थित भगवान् शिव की प्रस्तर-प्रतिमा के चारों ओर अभी भी लगाते हैं, इस तथ्य का प्रमाण पर्याप्त रूप में हैं कि इस्लाम भी किसी धर्म-विज्ञान, ईश्वर-मीमांसा के रूप में प्रारम्भ नहीं हुआ

था अपितु उस विलग धड़े के रूप में जन्मा था जो काबा-मन्दिर पर नियंत्रण करने के लिए तत्कालीन नियंत्रक-प्रबन्ध से लड़-झगड़ रहा था। अरब के काबा-मन्दिर में ३६० हिन्दू-देवमूर्तियों में से एक मूर्ति भगवान् कृष्ण की थी।

कृस्ती-पंथ और इसलाम दोनों की ही विशेष, अलग-थलग लक्षणोंवाली धर्म-विज्ञानी-परिभाषाएँ अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए इन सम्प्रदायों के सर्वेसर्वा लोगों की तत्कालीन आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुरूप निर्धारित कर ली गई थीं।

विद्रोह में ही दोनों का जन्म होने के कारण इसलाम और कृस्ती-पंथ का अन्त भी विद्रोहों में ही हो सकता है क्योंकि अ-दृश्य, अज्ञात अलौकिक शक्तियों द्वारा नियंत्रित ब्रह्मांड में, सभी लोगों के लिए शान्ति और सुख का भाव रखनेवाली धारणा में अपनी जड़ें न रखनेवाली व्यवस्थाएँ स्थायी नहीं बनी रह सकतीं। दैवी-योजना में, इसलाम और कृस्ती-पंथ जैसे विश्वासों का मात्र कार्य दुष्कर्मियों को अस्थायी दण्डात्मक स्वरूप तक ही सीमित हो सकता था। उक्त भूमिका के समाप्त होते ही वे सभी पंथ एक स्थायी, शाश्वत, सर्वस्नेही, सर्वसुखदा, मातृ-सदृश दार्शनिकता के अभाव में नष्ट, ओझल हो सकते हैं।

कृस्ती-पंथ का जन्म कृष्ण मन्दिर पर नियंत्रण के विवाद से उत्पन्न, केन्द्रित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण, निष्कर्ष उस प्रतिवेदन से होता है कि मन्दिर को नष्ट करने की जीसस की योजना सुननेवाले प्रधान पुरोहितों और उसके अन्य सहायकों ने स्वयं "जीसस को नष्ट कर देने का ही उपाय ढूँढ़ना चाहा था।"

कृस्ती (ईसाई) साहित्य और उसके इतिहास के सभी विद्वानों ने इन १९०० वर्षों तक इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर ध्यान ही नहीं दिया है। बाइबल में और कृस्ती परम्परा में मिलनेवाली विपरीत बातें और असंगतियाँ तभी ग्राह्य, बोधगम्य हो जाती हैं जब वह मूल विवाद समझ लिया जाए।

उदाहरण के लिए, मार्क ने लिखा है कि जीसस के अनुयायियों ने उसका परित्याग कर दिया और उसकी गिरफ्तारी पर भाग खड़े हुए थे।

यदि यह बात है तो जीसस-सम्बन्धी मुकदमे के विवरण आधिकारिक कैसे हो सकते थे। सही मन्तव्य तो यह है कि विरोध-प्रदर्शनकारियों के कई प्रारम्भिक समर्थक भयभीत हो गए थे और भाग गए थे।

तथ्य रूप में तो उन लोगों के कठोर श्रम, जिन्होंने मन्दिर-प्रबन्ध पर नियंत्रण या उसे ध्वस्त कर देना चाहा था, एक आविष्कृत जीसस के व्यक्तित्व में ही मूर्त रूप धारण कर लिए प्रतीत होते हैं। अतः यह जीसस नहीं था जिसे यहूदियों द्वारा 'धोखा' दिया गया था और जो रोमनों द्वारा मुकदमा चलाया व दंडित, सूली पर चढ़ाया गया था। पॉल और स्टीफन जैसे नेतागण ही, जिन्होंने मन्दिर-व्यवस्था के विरोध में आन्दोलन भड़काया प्रतीत होता है, वे व्यक्ति थे जिन पर मुकदमे चले थे और जिन्हें दण्डित किया गया था क्योंकि इन्होंने ही प्रत्यक्ष रूप में एक विद्रोह करने की और सार्वजनिक शान्ति भंग करने की धमकी दी थी।

जीसस और उसके बारह पट्ट-शिष्यों की कल्पित अन्तिम ब्यालू वास्तव में पॉल और उसके बारह (१२) समर्थक की ही थी। सम्भव है कि रोमन प्रशासन ने इन १३ व्यक्तियों को रात्रि-ब्यालू के समय उस मध्यम रोशनीवाले कमरे में उपस्थित होकर चकित, विस्मित कर दिया हो और एक विद्रोह करने की योजना बनाने के लिए मुकदमा चलाने के अभियोग/आरोप में गिरफ्तार कर लिया हो। कृष्ण-मन्दिर पर नियंत्रणासीन यहूदियों को, जिन्होंने रोमन अधिकारियों के समक्ष असंतुष्टों की सूचना दी, विश्वासघाती जुदास के रूप में मूर्त कर दिया गया है।

मार्क का विद्रोह-सम्बन्धी संदर्भ अभी तक कृस्ती-विज्ञान, कृस्ती-शास्त्र के छात्रों के लिए एक गुत्थी, पहेली रहा है। अब यह ऐसा नहीं होना चाहिए।

मन्दिर के उच्च पुरोहितों द्वारा लगाया गया 'गम्भीर आरोप' जीसस के विरुद्ध नहीं था बल्कि उन प्रारम्भिक कृस्ती-नेताओं के खिलाफ था वह जिनका व्यक्तित्व-प्रतिफलन था।

मार्क ने लिखा है : "अब दावत (भोज) पर वह (पीलेट) उनके लिए उन्हीं की इच्छानुसार एक कैदी को छोड़ दिया करता था और जेल में विद्रोहियों में जिन्होंने विद्रोह-राजद्रोह में हत्या कर दी थी, बाराब्बस

नामक एक व्यक्ति था…और पीलेट ने भीड़ को संतुष्ट करने की इच्छा से, उनके लिए बाराब्बस को मुक्त कर दिया और उसके बदले में सूली पर चढ़ाए जाने के लिए जीसस दे दिया।"

जीसस जैसे एक सज्जन, संतनुमा व्यक्ति के बदले में एक लुटेरे, ठग को छुड़ाने का भीड़ का स्पष्ट, प्रत्यक्ष आग्रह सबसे बड़ी विसंगति कही जा सकती है। हमारा विश्वास है कि बाइबल या यहूदी इतिहास का कोई भी विद्वान् अभी तक इस गुत्थी का कोई सम्यक्, संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाया है।

हमारा समाधान-उपाय इस प्रश्न को निश्चित रूप से पूरी तरह हल कर देता है। अन्तिम बात यह है कि जीसस नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं। जीसस के स्थान पर तथाकथित कृस्ती-राजविद्रोह के विरोधी यहूदी और यूनानी नेतागण थे। उनको फाँसी, सूली दी गई थी।

अध्याय ६

बाइबल में असंगतियाँ

बाइबल की विद्वत्तापूर्ण जाँच-पड़ताल स्पष्ट दर्शा देती है कि यह कई पृथक्, विषम तत्त्वों का संकलन है। इसका एक बहुत बड़ा भाग **प्राचीन-विधान** (ओल्ड टेस्टामैंट) है जो उपयुक्त, समीचीन, रूप में मात्र उन्हीं लोगों से सम्बन्धित है जो यहूदी ही बने रहे और जिन्होंने बपतिस्मी कृस्ती (ईसाई) होने से इन्कार कर दिया। किन्तु जैसे-तैसे, चूँकि नए बपतिस्मी परिवर्तित लोग अधिकांशतः यहूदियों में से ही थे, इसलिए उन्होंने अपने प्राचीन मूल ढाँचे को पीछे छोड़ देने और इसका परित्याग कर देने की बजाय इसको ही अपने नए पंथ से भी जोड़ दिया।

अन्य है **'अपोक्रिफा'**। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश ने 'अपोक्रिफा' की परिभाषा यूँ की है : "सेप्टुआजिण्ट और वलगेट (प्राचीन लाटीनी बाइबल) में सम्मिलित प्राचीन विधान की पुस्तकें, किन्तु जो मूल रूप में हिब्रू भाषा में नहीं लिखी गईं, न ही जिन्हें यहूदियों ने वास्तविक, असली, मूल ग्रन्थ माना और धर्म-सुधार (रिफॉर्मेशन) के अवसर पर धर्मग्रन्थ संग्रह से जिसे बाहर कर दिया गया।" यह अप्रामाणिक ग्रन्थ, प्रक्षिप्त भाग माना जाता है।

इसके बाद आता है **नव-विधान**, नया पाठ (न्यू टेस्टामेंट)। इसे विशुद्ध कृस्ती धर्मग्रन्थ ही माना जाना चाहिए। यह भी, किन्तु, मात्र एक संकलन, रचना नहीं है। यह चार पृथक्-पृथक् व्यक्तियों द्वारा, पृथक्-पृथक् समय पर स्वतन्त्र रूप से लिखे गए रूपान्तरों का संकलन है। अतः उनमें लम्बाई, अन्तर्वस्तु तथा स्वर-भाषा में अन्तर है। ये व्यक्ति हैं—मैथ्यू, मार्क, लूके और जोह्न।

इसके बाद संलग्न हैं वे दस्तावेज जिन्हें **'पट्ट-शिष्यों के चरित'** (ऐक्ट्स

ऑफ़ दि अपोस्सल्स) कहते हैं।

फिर, **पत्र** आते हैं। कई पत्र पॉल द्वारा कोरिन्थवासियों, गैलेशियनों, एफ़ेसिनियनों, फिलिपीनियनों, कोलोसिनियनों और थेसेलेयनियनों में से उसके सम्पर्क-सूत्रों, टिमोथी, टाइटस और फिलेमन जैसे व्यक्तियों तथा हिब्रुओं को सम्बोधित हैं।

इनके पश्चात् वे पत्र हैं जो जेम्स, पीटर, जोह्न और जूडे ने अपने सम्पर्क-सूत्रों, व्यक्तियों को लिखे हैं।

इसके पश्चात् आता है वह जिसे सेंट जोह्न, दिव्यपुरुष का **दिव्य-दर्शन** कहते हैं।

ये सभी तत्त्व मिलकर भी एक मिश्रित चित्र की सृष्टि नहीं करते यद्यपि एक अस्तित्वहीन कृस्त (क्राइस्ट) के बारे में ये छोटे-छोटे अंश भी ७,७५,००० शब्दों की भारी, विशाल संख्या प्रस्तुत करते हैं।

ये पत्र प्रदर्शित करते हैं कि अपने साथियों से अलग होकर पॉल किस प्रकार जीसस क्राइस्ट (ईशस कृस्त) के नाम में एक नए पंथ का संगठन कर रहा था जिसमें वह एक प्रतीक रूप जीसस की कठिनाइयों, संघर्ष और निराशाओं के माध्यम से अपनी ही घटनाओं को प्रस्तुत कर रहा था।

ये पत्र **निजी पत्राचार** के रूप में हैं जो तत्कालीन प्रचलित धार्मिक अनुशासन से पृथक् होते जा रहे लोगों और एक नई व्यवस्था का निर्माण करना चाहनेवालों के मध्य हुआ। इन पत्रों में, इसीलिए, मुख्य रूप से विरोध, प्रतिरोध, निराशाओं, शिकायतों, मिथ्यावाद—निन्दा, निजी समर्थन हेतु अनुरोध तथा कई बार, जैसा सहज-स्वाभाविक था, कुछ प्रेम-प्रसंगों का भी उल्लेख है।

इस प्रकार, टिमोथी को लिखे दूसरे पत्र में पॉल लिखता है : "मैं जिस लबादा (आवरण) को ट्रोस में कारपस के पास छोड़ आया था, तुम जब आओगे, तब उसे और पुस्तकों को, लेकिन चर्मपत्रों को तो खासतौर से लेते ही आना। ताम्रकार-ठठेरे अलैक्ज़ेन्डर ने बहुत बुरा किया···जिसके बारे में तुम्हें भी पता था; क्योंकि वह हमारे शब्दों का बहुत अधिक विरोध करता था।"[1]

१. 'दि होली बाइबल', किंग जेम्स वर्शन, पृष्ठ ८९४।

वरिष्ठ जोह्न द्वारा मनोनीत महिला और उसके बच्चों को लिखे द्वितीय पत्र में "जिनको मैं सत्य ही प्यार करता हूँ" जोह्न ने जोड़ा है "हे नारी ! अब मैं तुम्हारी अनुनय-विनय करता हूँ···कि हम एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। और यह प्रेम ही है कि हम उसके धर्मादेश के बाद चल रहे हैं···यद्यपि मुझे तुमको बहुत सारी बातें लिखनी हैं किन्तु मैं कागद-मसि में वे नहीं लिखूंगा; किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि तुम्हारे पास आऊँगा और आमने-सामने बातें करूँगा जिससे हमारी इच्छाएँ, खुशी पूरी हो सकें।"

कुछ लोग आग्रह कर सकते हैं कि ऊपर उद्धृत भाषा एक आध्यात्मिक सम्बन्ध की द्योतक है। यद्यपि सम्भावना की दृष्टि से उससे इन्कार नहीं किया जा सकता, तथापि प्रायिकता है कि एक सामान्य आध्यात्मिक, असन्तुष्ट दृष्टिकोण आसानी से शारीरिक, सदेह, शृंगारिक प्रेम की ओर मुड़ सकता, जा सकता है। यह विशेषरूपेण तब दृष्टव्य, सम्भाव्य है जब विल डूरण्ट लिखते हैं कि "अन्य अधिकांश पट्ट-शिष्यों की ही भाँति पीटर भी अपनी एक 'बहन' को धर्म-प्रचार-कार्य के लिए उसकी अपनी पत्नी और सहायिका के रूप में कार्य करने के लिए ले गया था।"[१]

पॉल के जीवन से काल्पनिक रूप से निर्मित कथा ही जीसस की सम्पूर्ण जीवन-गाथा के साथ-साथ आधुनिक पीढ़ियों तक चले आए धर्मग्रन्थ भी इतने अधिक घटिया, रद्दी, नकली अनुवादों, सुविधाजनक जालसाजियों, मनचाहे विकल्पों, जान-बूझकर किये गए संशोधनों और काल्पनिक परिवर्तनों से गुजर चुके हैं कि क्रुस्ती-पंथ की परिभाषा एक ऐसी आस्था, विश्वास के रूप में की जा सकती है जो कहीं से भी प्रारम्भ न होकर भी कहीं भी, किसी प्रकार पहुँच गया है।

डॉ० जेफ्रीज़, एक ब्रह्म-वैज्ञानिक स्पष्टीकरण देते हुए उद्धृत[२] किए जाते हैं: "यह पिछले समय, काल की त्रुटि, गलती है···जो विद्वानों को बाइबल के नए अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए प्रस्तुत करती (रहती) है।···'पिम' शब्द लो। यह बाइबल अर्थात् बुक ऑफ़ सेमुअल (सेमुअल रचित ग्रन्थ) में

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड २, पृष्ठ ५७७।

२. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ १२७।

केवल एक बार आया है। अनुवादकों ने सदैव सोचा था कि 'पिम' का अर्थ एक औजार...बढ़ई की रेती जैसा उपकरण था। अभी हाल ही में, अनुवादकों को ज्ञात हुआ है कि 'पिम' का वास्तविक अर्थ भार का एक माप था।...एक अन्य उदाहरण, प्राचीनतर अंग्रेजी बाइबल में एक पंक्ति सदैव होती थी...ईसैआह ७ : १४...लिखा होता था : "अवलोकन करो, एक कुंवारि गर्भधारण करेगी।" वर्षों तक इसको क्राइस्ट (कृस्त) के जन्म की भविष्यवाणी माना गया था। फिर संशोधित, परिमार्जित मानक रूपान्तर के अनुवादक आए और उन्होंने पंक्ति को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया : "अवलोकन करो, एक युवा महिला गर्भधारण करेगी।" वे मूल हिब्रू भाषा से अनुवाद कर रहे थे जहाँ 'ऐमाह' का अर्थ 'युवा महिला' होता है। पूर्ववर्ती बाइबलें अ-यथार्थ यूनानी पाठों के रूपान्तर थे जिन्होंने 'कुँवारि' (कुमारी) के अर्थ-द्योतक शब्द 'पार्थिनोस' (अनिषेक) का अनुवाद कर दिया था।

पहली शताब्दी में मक्की के भुट्टों (इअर्स ऑफ़ कार्न) को (हैड्स ऑफ़ कार्न) मक्की के शीर्ष कहते थे। बाइबली अनुवादों में 'दानों की बालियाँ' (इअर्स ऑफ़ ग्रेन) प्रयुक्त अभिव्यक्ति भी अशुद्ध, गलत है। बाइबली युग में ढोर, मवेशी (कैटल) का अर्थ केवल गोजातीय पशु न होकर सम्पूर्ण पशु-जगत् था।

विभिन्न आवश्यकताओं और अभिप्रेरणाओंवाले विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न काल-खण्डों में किए गए ये सभी अनुवाद उन पूर्वकालिक यूनानी और हिब्रू (यहूदी) रचनाओं से किये गए थे जो अलग-अलग क्षमताओं, निष्ठा, विश्वसनीयता और प्रेरणा-उद्देश्यवाले व्यक्तियों द्वारा तैयार कर दी गई थीं।

अनुवादों के गलत हो जाने और मूल से बिल्कुल ही भिन्न हो जाने का मुख्य कारण यह है कि हर व्यक्ति एक झूठी, काल्पनिक कथा का निर्माण करने, उसमें कुछ जोड़ने या पैवन्द लगाने का यत्न कर रहा था। अतः प्रत्येक लेखक अपने सामने उस समय उपस्थित स्थिति का सामना करने के लिए जैसा भी आवश्यक समझता था, वैसे ही अपनी लेखनी चला देने या कल्पना की उड़ान के लिए स्वयं को पूर्णतः स्वतन्त्र समझता या पाता था।

हिब्रू शब्द 'अल' का अनुवाद 'पर' हुआ करता था। अतः अनूदित

कृतियों, रचनाओं में कहा गया था कि जीसस पानी पर चला। किन्तु हिब्रू में 'अल' का अर्थ 'साथ' भी है। अतः उन अनुवादों में कहना चाहिए था कि जीसस पानी के साथ-साथ चला। अनुवादों में 'पर' शब्द जान-बूझकर प्रयोग में लाया गया प्रतीत होता है जिससे यह चमत्कार मालूम पड़े और भोले-भाले, प्रवंच्य व्यक्तियों को कृस्ती-पंथ में धर्म-परिवर्तित करने को लुभाया, प्रेरित किया जा सके। प्रोफेसर इस्साक का कथन उद्धृत किया जाता है कि "पूर्वकालिक, प्रारम्भिक कृस्ती-प्रचारकों ने सम्भवतः जान-बूझकर उक्त पद-यात्री को एक चमत्कारी पुरुष दर्शाना चाहा था।"[1]

बाइबल के कैथोलिक (उदारवादी) और प्रोटेस्टैण्ट (विरोधी) भाषान्तरों में अत्यल्प अन्तर है। प्राचीन विधान (पाठ) में कैथोलिक लोग अधिकांशतः अप्रोक्रिफ़ा-ग्रन्थों को पवित्र और विधिसम्मत मानते हैं, जबकि प्रोटेस्टैण्ट लोग ऐसा नहीं मानते। दोनों के बाइबली-पाठ लगभग एक-से ही हैं जिनके धर्म-विज्ञानी स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। एक संयुक्त कैथोलिक-प्रोटेस्टैण्ट बाइबल फ्रांस में विद्यमान, मौजूद है।

प्रोस्टिआ अंटिका प्रति में, जो बाद में जाली, झूठी और धोखा मालूम हुई, जीसस के अपने भाई ने कहा बताते हैं : "मैं, जरुस्लम का जेम्स, प्रभु जीसस क्राइस्ट का भाई, प्रभु का उत्तराधिकारी, प्रभु के जीवित भाइयों में ज्येष्ठतम और नजरथ के जोसेफ का पुत्र···अपने भाई जीसस क्राइस्ट के जीवन और मन्त्रालय (साथियों) का एक संक्षिप्त साक्ष्य लिखता, प्रस्तुत करता हूँ।"

किन्तु जेम्स का जीसस के साथ क्या सम्बन्ध था ? क्या वे सौतेले भाई थे या असली, सगे भाई थे जिनका रक्त-सम्बन्ध था—कोई नहीं जानता। अनेक मामलों में से यह एक मामला है जिस पर हर कृस्ती व्यक्ति अपने ही दूसरे कृस्ती बन्धु से भिन्न मत रखेगा। विकल्प तो कई हैं। एक बात यह हो सकती है कि मेरी जोसेफ की शादी से पहले ही गर्भवती रही है। अथवा, वह शादी के तुरन्त बाद गर्भवती हो गई किन्तु जोसेफ से नहीं। या, उसको गर्भ तो जोसेफ से ठहरा जिसका परिणाम हुआ जीसस का जन्म। फिर भी

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ १५७।

जेम्स जीसस का बड़ा सौतेला भाई था—यह मत चर्च के पादरियों और कैथोलिक लोगों का है। इसका अर्थ यह है कि जोसेफ के पहले भी एक पत्नी थी जिससे जेम्स का जन्म हुआ था। बाद में उसने मेरी से शादी कर ली प्रतीत होती है जो पहले ही गर्भवती थी। कृस्ती सिद्धान्त एक कुमारी मेरी के गर्भधारण का स्पष्टीकरण उस पर आई/छाई/प्रभावी पुण्य, पवित्र आत्मा द्वारा कृत्य से प्रस्तुत करते हैं। अधिक तार्किक, युक्तियुक्त मानसवाले व्यक्तियों की दृष्टि में बिना मानव पुरुष द्वारा रति-कार्य के तो गर्भधारण करना असम्भव है। अतः, उनके अनुमान के अनुसार तो जीसस को मेरी ने तभी गर्भ में धारण किया होगा जब उसने जोसेफ से शादी के पूर्व या शादी के बाद भी किसी अन्य पुरुष के साथ शारीरिक सम्बन्ध रखा होगा, सम्भोग किया होगा।

तथापि, कृस्ती-पंथ में रूढ़िवादी, पुरातनपंथी तत्त्व धार्मिक मान्यता के बारे में ऐसी सूक्ष्म विवेचना पर चिढ़ते, नाक-भौं चढ़ाते हैं। उनके लिए तो किसी कुमारी द्वारा जन्म देना, कुमारी द्वारा गर्भ से जन्म देना ही है चाहे प्राणिविज्ञान, जीवशास्त्र इसे असम्भव मानकर इन्कार ही कर दे। व्यापारिक वर्गों के अतिरिक्त ऐसे रूढ़िवादी तत्त्वों का भी कृस्ती-पंथ से सम्बन्धित कोई सनसनीखेज घोषणा करते रहने में निहित स्वार्थ होता है। व्यापारिक वर्ग तो प्रत्येक नई सनसनीखेज, धमाकेदार घोषणा से काफी विशाल धनराशि अर्जित करता है, तथापि रूढ़िवादी तत्त्व और पादरी-वर्ग, ऐसे अवसरों से जन-रुचि पुनः जाग्रत् करने का यत्न करते हैं जिससे वे अधिक सुदृढ़-सुरक्षित अनुभव कर सकें और अपनी शक्ति, स्थिति, धन-सम्पत्ति एवं महत्ता में वृद्धि कर सकें। विकसित होना परिवर्तनकारी भाव और युवा पीढ़ियों में असमाधान-इच्छा, प्रवृत्ति को पादरी-व्यवस्था अपनी स्थिति के लिए एक महान् चुनौती, खतरा समझती है। अतः वे व्यवस्थाएँ ऐसे अवसरों का उपयोग आशंका, भय, आश्चर्य और द्विविधा की स्थिति उत्पन्न करने में करती हैं और अनुशासन व अपना सत्ता-बल सिद्ध करने के लिए जन-साधारण को विभ्रम की स्थिति में रखना/एकड़ना चाहती हैं।

पादरी-वर्ग द्वारा इसी उद्देश्य के लिए उपयोग में लाया गया अन्य उपकरण है मिथ, सिद्धान्त, सम्प्रदाय और कर्मकाण्ड के महत्त्व पर जोर

देना।

पादरी-वर्ग द्वारा एक नकारात्मक सावधानी के रूप में उठाया गया पग होता है कि रूढ़िवादी विचारों की विभिन्न शाखाओं के मध्य धर्म-विज्ञान-सम्बन्धी कोई मनमुटाव, मतभेद उत्पन्न न हों। उनका हित परस्पर साथ-साथ, मिल-जुलकर चलने में ही है। अतः आत्म-संरक्षण का स्वभाव उनको विवश करता है कि वे सैद्धान्तिक एकता के निमित्त परस्पर विभेद-कारी धार्मिक विश्वासों में भी समझौता बनाए रखें।

मेरी के कुँवारेपन के समान ही जीसस को सूली-दण्ड दिया जाना भी गरमागरम विवाद का विषय है। सूली-दंड के विषय में आस्कर वाइल्ड ने एक स्मरणीय टिप्पणी की है: "चूंकि किसी उद्देश्य के निमित्त कोई व्यक्ति अपने प्राण त्याग देता है, इसलिए वह उद्देश्य आवश्यकीय रूप से सच्चा, सही हो कोई जरूरी नहीं है।" हम प्रायः ऐसे लोगों के बारे में सुनते हैं जो अपने घोषित कारणों, उद्देश्यों के लिए आग लगाकर अपने प्राण त्याग देते हैं किन्तु शेष विश्व उन कारणों, उद्देश्यों को बेकार, रद्दी, निकम्मे उद्देश्य समझता है। किन्तु यह बात तो उन लोगों से सम्बन्धित है जो किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सचमुच मरते हैं। कृस्ती-पंथ में तो यह बिल्कुल अलग बात है। जीसस का तो जन्म ही नहीं हुआ, इसलिए वह मर भी कैसे सकता था ?

सारे विश्व के कृस्ती लोग भोले-भाले, निर्दोष रूप में मानते हैं कि बाइबल उन लोगों के लिए ही जीसस द्वारा लिखकर छोड़ दिया गया धर्म-ग्रन्थ है। किन्तु चूंकि कोई जीसस कभी पैदा हुआ ही नहीं था, इसलिए वह कोई बाइबल छोड़कर जा ही नहीं सकता था।

"ईटेनेअस (ईसा-पश्चात् सन् १९०) से पूर्व धर्म-पुस्तकों (बाइबलों) से हमारे उद्धरण अंश-अंश में और अ-यथार्थ हैं— वे स्वयंसिद्ध, प्रमाणित करने योग्य नहीं हैं कि कोई भी धर्म-पुस्तक (बाइबल) आज वाले रूप-आकार में विद्यमान थी।"[1] अर्थात् कृस्त के कल्पित जन्म के लगभग २०० वर्षों के बाद तक बाइबल ने कोई रूप-आकार धारण ही नहीं किया था।

---

१. अलबर्ट जे० एडमंड्स कृत 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ ३।

इसे कौन-सी दैवी पवित्रता प्रदान की जा सकती है जब विभिन्न कालखण्डों में, विभिन्न स्थानों पर रहनेवाले कई व्यक्तियों ने अपनी मनमौजी तरंगों में इसका संकलन कर दिया प्रतीत होता है।

संयोगवश, कुरान का मूलोद्गम लगभग इसी प्रकार का है। "कुरान के प्रकटन, रहस्योद्घाटन भी संक्षिप्त थोड़े-थोड़े समय बाद होते गए और सबसे पहले इनको व्यावसायिक रूप से याद रखनेवालों द्वारा याद रखा गया, कंठस्थ कर लिया गया। मुहम्मद के जीवनकाल में पद्यों को ताड़-खजूर के पत्तों पर, पत्थरों पर तथा आसानी से मिल गई किसी भी सामग्री पर लिख लिया गया था। उनका संग्रह दूसरे खलीफ़ा, खलीफ़ा उमर के काल में संकलित किया गया था और एक आधिकारिक रूपान्तर उसके परवर्ती ओथमन (आत्मन ?) खलीफ़ा के समय (६४४-६५८) में स्थापित किया गया था।"[१]

चूंकि मुहम्मद पहाड़ों की गुफाओं में अकेला जा बैठता था और वह लिखना जानता नहीं था, इसलिए उसे सिर्फ एक ही रास्ता खुला था कि वह अल्लाह द्वारा उसे प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप दर्शाए गए लम्बे-लम्बे अवतरणों को जैसा कहा जाता है, याद रखे जब तक कि उसे कोई ऐसा इच्छुक व योग्य व्यक्ति न मिल जाए जो उससे श्रुति-लेख, इमला लेकर ईंट, पत्थर या दीवार के टुकड़े पर लिख ले, अंकित कर ले। यदि इसी बीच अल्लाह ने मुहम्मद के मन, मस्तिष्क में ज्ञान-प्रकाश स्वरूप दूसरा लम्बा अवतरण भी दे दिया तो पहले अवतरण का क्या हुआ, हम नहीं जानते। प्रश्न तो यह भी खड़ा होता है कि ऐसी विभिन्न सामग्री सब मिलाकर एक ही स्थान पर कैसे एकत्र हो सकती थी या की जा सकती थी? फिर, वे शब्द भी वर्षा और धूप-छाँव में वर्षों और दशकों तक कैसे सुरक्षित, स्पष्ट, सुपाठ्य बने, बचे रहे? अन्य लोगों के प्रक्षिप्रांशों से कैसे इंकार किया जा सकता था? और चूंकि कुरान का संकलन और मानकीकरण मुहम्मद की मृत्यु के काफी सालों बाद किया गया था, इसलिए स्पष्ट, प्रत्यक्ष है कि ईंट-पत्थरों के

---

१. 'दि कुरान'—अनुवाद एन० जे० दाऊद, चतुर्थ संस्करण, १९७४, पृष्ठ १०।

अव्यवस्थित ढेरों से कुरान के संकलनकर्ताओं ने स्व-विवेकानुसार उन अंशों को चुन लिया जो उनको अपनी आवश्यकतानुसार ठीक जँचे या जो उन्होंने सोचा कि इसलाम के अनुयायियों के लिए वांछनीय, आवश्यक होने चाहिए। ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका विद्वानों को विभिन्न धर्मों, पंथों के दावों का परीक्षण करते समय उत्तर, समाधान अवश्य प्रस्तुत करना चाहिए।

बाइबल के संकलन में भी हम देख चुके हैं कि इसमें वह शामिल नहीं है जो जीसस ने कहा, बल्कि वह सभी कुछ संकलित है जो पट्ट-शिष्यों, भक्तों, श्रद्धालुओं ने जीसस के मुख से कहलवाना चाहा है।

जीसस को सूली पर दंडित किए जाने का पूरा प्रश्न इतना झमेले का बना दिया गया है कि किसी को पता ही नहीं चलता कि "जीसस पर आरोप किस बात का था और उस पर मुकदमा किस प्रकार चलाया गया था।" आधुनिक बाइबल के विद्वानों ने दीर्घकाल से ही सन्देह किया था कि अनिच्छुक पीलेट को यहूदी अधिकारियों द्वारा जीसस को मृत्युदण्ड दिए जाने के लिए बाध्य करने का पूर्ण विचार ही राजनीतिक कारणों से कृस्ती धर्म-पुस्तक (बाइबल) लेखकों द्वारा सत्य को नष्ट करने का प्रयास ही रहा था। फ्रांसीसी विद्वान् मौरिस गोगुअल ने पर्यवेक्षण किया है कि कृस्तियों ने जिस व्यक्ति को संसार में ईश्वर का दूत और विश्व का संरक्षक कहकर प्रस्तुत किया उसे एक रोमन न्यायाधिकरण द्वारा मृत्युदण्ड दे दिया गया था; इस तथ्य ने रोमन-संसार में बाइबल (धर्मग्रन्थ) के प्रचार में कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी थीं क्योंकि इससे ऐसी भी धारणा बन सकती थी कि कृस्ती-आस्था में परिवर्तित होने के लिए एक विद्रोही का पक्ष लेना जरूरी था और इसलिए शाही अधिकारियों के विरुद्ध होना था। इसलिए कृस्ती लोग यह प्रमाणित, सिद्ध करने के लिए आतुर थे कि जिस राज्यपाल ने जीसस को फाँसी लगाने की सजा घोषित की थी वह उसकी निर्दोषता स्वीकार्य कर चुका था और उसने सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दी थी कि इसे तो जन-साधारण, कुंजड़े-कसाई और यहूदी अधिकारियों के अदमनीय दबाव के आगे झुकने के लिए मजबूर होना पड़ा था।"[1]

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ १८६।

यह भी विश्वास किया जाता है कि रोम में अपनी धर्म-पुस्तिका लिखनेवाले मार्क ने यह भाव उजागर नहीं करना चाहा कि रोमन साम्राज्य के विरुद्ध राजद्रोह करने के लिए जीसस पर मुकदमा चलाया गया था। इसलिए मार्क ने ऐसा प्रतीत होने दिया है कि जीसस को न तो रोमन सैनिकों ने बंदी बनाया था, न ही किन्हीं राजनीतिक कारणों से किसी रोमन दंडाधिकारी ने उसे सजा दी थी, बल्कि जीसस को दोषी सिद्ध करना और उसे फाँसी देना तो यहूदी कानून के किसी गुप्त, अस्पष्ट प्रावधान के अन्तर्गत किया गया था।"[1]

काफी लम्बे समय से, क्रुस्ती विद्वान् जीसस क्राइस्ट (कृस्त) के अस्तित्व को उच्च स्वर से प्रमाणित करने के लिए ('स्रोत, मूल', शब्दार्थ-द्योतक जर्मन शब्द 'क्यूल्ले' से) 'क्यू' दस्तावेज की खोज में रहे हैं। किन्तु वे तो मृग-मरीचिका का पीछा ही करते रहे हैं। जब कोई जीसस ही नहीं था, तो उसका 'क्यू' दस्तावेज कैसे हो सकता था?

किन्तु यदि इस तथ्य, बात को असंदिग्ध रूप से, स्पष्ट तौर पर स्वीकार कर लिया जाए तो पोप व उसकी समस्त धार्मिक उत्तराधिकारी सत्ता तथा विश्व-भर के विश्वविद्यालयों और पुस्तकालयों के व गिरजाघर-संस्थापनाओं के सारे तथाकथित बाइबल-विशेषज्ञ अपने पदों से हाथ धो बैठेंगे। अतः 'क्यू' अभिलेख की खोज, तलाश उसी प्रकार अनन्त रूप से चली जा रही है जिस प्रकार काली कोठरी में काजल खोजना या अँधेरे, काले कमरे में काली बिल्ली को खोजने का असफल प्रयत्न करना प्रसिद्ध कहावत है।

सम्राट् (किंग) जेम्स (की) बाइबल के सम्बन्ध में, कहा जाता है कि सन् १६०१ में इंग्लैण्ड में धार्मिक असहमति, मतभेद काफी था और चर्च (गिरजाघर) के संघर्षशील तत्त्वों को एक मान्य, सामान्य उद्देश्य और परि-योजना प्रदान करने के उद्देश्य से सम्राट् जेम्स ने ऑक्सफोर्ड स्थित एक महाविद्यालय के अध्यक्ष डॉक्टर रीनोल्ड्स, विशुद्धिवादी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और शुरू में ५४ गिरजाघर-परिचरों को आदेश दिया

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ १८९-१९०।

कि बाइबल का नया अनुवाद कर दें। सम्राट् जेम्स ने ४७ अनुवादकों का एक नानाविध रूपी और कौतूहल उत्पन्न करने वाला समूह इस कार्य हेतु मान्य कर दिया।[1] वे लोग धर्म-प्रचारक, आचार्य, भाषा-शास्त्री, विद्वान् थे। एक पन्द्रह भाषाएँ जानता था···एक अन्य ने यूनानी भाषा का ज्ञान सम्राज्ञी एलिज़ाबेथ को दिया था, उसे पढ़ाया था। एक अन्य व्यक्ति ६ वर्ष की आयु में ही बाइबल को हिब्रू भाषा में पढ़ सकने योग्य हो चुका था। एक तो बेल्जियम से शरणार्थी होकर आ गया था। एक अन्य शराबी, पियक्कड़ था। एक अन्य क्षयरोग से जीर्ण-शीर्ण, नित-प्रति घुलता हुआ भी मृत्यु-शय्या पर लेखन-कार्य कर रहा था। एक अन्य विधुर व्यक्ति, जो परियोजना की अवधि के बीच ही मर गया, अपने पीछे ग्यारह अनाथ, कंगाल बच्चे छोड़ गया था।···इनको छः समितियों में बाँट दिया गया था; दो समितियाँ ऑक्सफोर्ड में अनुवाद कर रही थीं, दो कैम्ब्रिज में और दो वैस्टमिन्स्टर में। ऑक्सफोर्ड स्थित ८ सदस्यीय समिति ने आधे नव-विधान (न्यू टेस्टामैंट) का कार्य किया और वैस्टमिन्स्टर स्थित सात सदस्यीय समिति ने दूसरे आधे भाग का काम किया।···चूँकि हर समिति को हिब्रू और यूनानी भाषाओं से अंग्रेजी में बाइबल का अनुवाद करने के लिए उसका एक-एक भाग सौंपा हुआ था और समिति का हर सदस्य उक्त भाग के एक या अधिक अध्यायों के लिए उत्तरदायी था, इसलिए एक समिति के सदस्य अपने-अपने अनुवाद अन्य सदस्यों को पढ़कर सुनाते थे, उनके सुझाव लेते थे, सुधार करते थे और जब उनका पूरा भाग (इस प्रकार) देख लिया जाता था, तब इसके पुनर्लेखन के लिए इसे एक भिन्न समिति के पास भेज दिया जाता था। दो वर्ष और नौ महीनों में इनका काम हो गया। फिर, १२ व्यक्तियों की एक नामिका (पैनल) ने प्रथम प्रारूप का पुनर्संशोधन और इसका संयोजन किया। अन्त में, एक व्यक्ति डॉक्टर माइल्स स्मिथ ने जो एक कसाई का पुत्र था और जिसने उन्नीस वर्ष की आयु में ऑक्स-फोर्ड से स्नातक-उपाधि प्राप्त कर ली थी, अन्तिम पुनर्लेखन किया, जिसके ऊपर एक बिशप-धर्माध्यक्ष निगरानी, देखभाल कर रहा था। परिणाम?

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ २३५।

सम्राट् जेम्स आधिकारिक संस्करण सन् १६११ में, शेक्सपियर की मृत्यु से पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ।"[१]

सिंहावलोकन करने पर यह विचित्र दिखता है कि बाइबल विषयक कार्य विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग करते हुए भी इतने सारे विद्वान् यह नहीं जान पाए कि यह सब काल्पनिक, मनगढ़न्त किस्सा था। सम्भवतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचने से दूर रहे क्योंकि वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना नहीं चाहते थे। उनके प्रबल स्वार्थ अर्थात् उनकी आय, उनकी प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और पद—सभी फँसे थे।

जीसस को आमतौर पर जोसेफ का पुत्र कहा जाता है और फिर भी मैथ्यूज़ के सुसमाचार (बाइबल) में ये शब्द सर्वप्रथम मिलते हैं : "डेविड के पुत्र, अब्राहम के पुत्र जीसस क्राइस्ट की पीढ़ी की पुस्तक।" किन्तु लगभग ४० पंक्तियों के बाद (इसी पुस्तक में) कहा गया है कि अब्राहम और जीसस क्राइस्ट के बीच बयालीस (४२) पीढ़ियाँ गुजर चुकी थीं।

मैथ्यूज़ के अनुसार, बपतिस्मी जोह्न समकालीन एक सन्त पुरुष था जिसने अत्यन्त अनिच्छा से जीसस का बपतिस्मा किया था क्योंकि वह जीसस को दोनों में से (अर्थात् अपने से) बड़ा समझता था। क्यों? कोई नहीं जानता।

बाद में, "जीसस ने सुना था कि जोह्न को जेल में डाल दिया था।" और फिर भी जीसस ने कुछ नहीं किया बल्कि गलीली चला गया। जोह्न के बन्दी बनाए जाने का कारण और जीसस की अन्यमनस्कता का कोई भी कारण कहीं उल्लेख नहीं किया जाता। बाइबल में जैसी आपाधापी है, उसमें ऐसी अव्यवस्थित वृत्ति स्पष्ट है। न तो इसमें कोई संगत, तारतम्य-वाली कथा है और न ही कोई अकाट्य, स-निश्चय धर्मशास्त्र।

यह अवतरण "तुम इस धरती का नमक हो···किन्तु बाहर बिखेर दिए जाने और आदमियों के पैरों तले रौंदे जाने के लिए हो" (५ : १३) हमको आज के साम्यवादी शब्दबादी जाल के समान भली प्रकार ज्ञात है जिसे वे धनिकों के विरुद्ध धनहीनों, गरीबों को भड़काने के अवसर पर बुनते हैं।

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ २७७-२७८।

यह वही भाषा है जिसे पॉल ने जीसस के नाम में प्रयोग में लिया था। अतः हुआ यह है कि पॉल की ही पत्थरों से मार-मारकर हत्या की गई थी। उसने कदाचित् सूली-दण्ड की पूर्व कल्पना कर ली थी क्योंकि जीसस को ऐसे प्रस्तुत किया जाता है मानो वह सूली (क्रॉस) पर मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

यह सुझाव (कि) "अपने विरोधियों से जल्दी सहमत हो जाओ··· ऐसा न हो कि विरोधी तुमको न्यायाधीश को सौंप दें और न्यायाधीश तुम्हें अधिकारी को दे दे और फिर तुम कारागार में डाल दिए जाओ" (५ : २५) यद्यपि प्रकट रूप से जीसस द्वारा कहा गया है तथापि वास्तव में यह पॉल का अपने अनुयायियों को बन्दी बनने से बचने का परामर्श है।

पॉल का यह परामर्श कि "तुम्हारे दाएँ गाल पर चाँटा मारनेवाले का प्रतिरोध करने की बजाय उसके सामने बायाँ गाल कर दो।" विद्रोह के लिए तैयार अपने अनुयायियों को पॉल का सावधानी-संकेत उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे महात्मा गांधी ने बीसवीं शताब्दी में किया था।

मैथ्यू ६ : १ "ध्यान रखो कि तुम किसी के भी सामने अपने (दान) 'आम्स' नहीं दोगे, वे बिल्कुल भी दिखने नहीं चाहिए।" और बाद में "तुम्हारे बाएँ हाथ को भी मालूम नहीं पड़ना चाहिए कि तुम्हारा दायाँ हाथ क्या करता है।" एक सांकेतिक संदेश है जिसमें 'आम्स' (दान-सूचक शब्द) को 'आर्म्स' (हथियार, शस्त्रास्त्रसूचक शब्द) पढ़ा जाना चाहिए।

गुप्त प्रार्थना की सावधानी (६ : ६) भी वह है जिसे स्थापित प्राधिकरण के विरोध में प्रत्येक विरोधी, विद्रोही बरतता है।

"दो स्वामियों की सेवा, आज्ञापालन कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकते।" (मैथ्यू० ६ : २४) शब्दों का अर्थ उन लोगों के लिए है जो अपनी निष्ठाओं में स्थिर नहीं थे और पॉल को संकोच में, अनिश्चित तथा सशर्त समर्थन ही दे रहे थे। वह उनसे आशा करता था कि वे नौकरशाही (अधिकार-तंत्र) का खुलकर उल्लंघन, विरोध करें और पॉल को अपना एकमेव नेता स्वीकार, शिरोधार्य कर लें।

यही कारण है कि इससे अगले वाक्य में ही उनको कहा जाता है :

"अपनी जीविका का कोई विचार न करो; कि तुम क्या खाओगे और क्या पिओगे ! चिड़ियों का शिकार देखो।…मैदान में कुमुदिनियों का विचार करो। उनको भी जीवन प्राप्त होता है।" इसके द्वारा पॉल चाहते हैं कि उनके अनुयायी लोग अपने भावी जीवन-योजना की परवाह किए बिना ही और ईश्वर में यह विश्वास रखते हुए कि वह जिस-तिस प्रकार उनकी देखभाल करेगा ही, सर्वसामान्य विद्रोह में सम्मिलित हो जाएँ।

"तुम अपने भाई की आँख की कणिका क्यों देखते हो और अपनी आँख में विद्यमान चमक, मुस्कराहट पर विचार नहीं करते।"—यह स्पष्टतः पॉल द्वारा अपने अनुयायी को झिड़कना ही है जो दूसरे साथी की शिकायत कर रहा था।

"तू ढोंगी, पाखण्डी, दंभी ! पहले अपनी मुस्कराहट दूर कर दे…जो कुत्तों के लिए पवित्र है वह न दे और न ही अपने मोती शूकर के सामने फेंक।" —यह रोष, क्रोध की भाषा है जो पॉल ने अपने अनुयायियों से धर्मोपदेश के समय कही होगी, चाहे यह जीसस के मुख से कहलायी गई है क्योंकि पॉल में ही जीसस का व्यक्तित्व प्रतिफलित हुआ है।

इस प्रकार सम्पूर्ण बाइबल, इसकी असंबद्ध अण्ड-बण्ड स्थिति की जरूरत के अनुसार इसकी कोमल और कठोर भाषा का प्रयोग, प्रतिरोध या समर्पण के लिए इसका औचित्य-प्रदर्शन और जीसस (अर्थात् पॉल) के भाग्य के साथ ही अपने को संयोज्य कर लेने के लिए सभी अधिकारियों और गैर-सरकारी व्यक्तियों से इसका अनुरोध केवल तभी बोधगम्य हो पाते हैं जब बाइबल को पॉल द्वारा राजद्रोह का वर्णन माना जाए, जो पहले तो जरुस्लम और कोरिन्थ में कृष्ण मन्दिर-प्रबन्ध-व्यवस्था के विरुद्ध किया गया और फिर दुबारा समकालीन यहूदी समाज के खिलाफ तथा बाद में स्थानीय रोमन-प्रशासन के विरोध में किया गया था। जीसस के पात्र की सृष्टि मात्र पॉल के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने के लिए की गई थी। बाइबल की सही व्याख्या की दीर्घकाल से विलुप्त कुंजी, समाधान प्रस्तुत करने में उपर्युक्त उदाहरण (प्रचुर मात्रा में) पर्याप्त होने चाहिए।

बाइबल में कोई आध्यात्मिक संदेश या धर्म-ज्ञान खोजने का प्रयास

करना अनावश्यक, व्यर्थ है। इसके आध्यात्मिक प्रच्छन्न भाव और धार्मिक व्यंजनाएँ संयोगवश ही सामने आ जाते हैं क्योंकि पॉल अपने समय की धार्मिक संस्थापना के विरुद्ध और रोमन प्रान्तीय प्रशासन के विरुद्ध भी बगावती मुद्रा में था और उनको तो पॉल द्वारा नेतृत्व प्रदान किए गए राजविद्रोह के खिलाफ कठोर कार्रवाई करनी ही थी।

अध्याय ६

कृस्ती कामचलाऊ प्रबन्ध

जीसस के बारे में सभी कुछ अनिश्चित, अस्पष्ट, संदिग्ध है। उसकी जन्म की तारीख, जो २५ दिसम्बर घोषित की गई है, विश्व-भर के कृस्तियों द्वारा स्वयं ही स्वीकार की जाती है कि यह एक सुविधानुसार सोची-विचारी, मनगढ़न्त, कल्पित तारीख है।

इसी प्रकार यह धारणा भी, कि जीसस का जन्म ईसवी सन् के पहले दिन (जो २५ दिसम्बर होना चाहिए था) हुआ था, गलत है क्योंकि कृस्ती-शास्त्र के विद्वान् भी कहते हैं कि हो सकता है जीसस का जन्म इससे चार वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा-पूर्व ४ में हुआ हो। किन्तु इस तारीख के बारे में भी वे पक्के, निश्चित नहीं हैं। इस प्रकार, न जीसस के जन्म-दिन का ही पता है और न ही उसके जन्म-वर्ष का। यदि जीसस जननायक होता, यहूदियों का सम्राट् और बहुसंख्यक अनुयायियोंवाला कोई चमत्कारी पुरुष रहा होता तथा वह व्यक्ति होता जिसके लिए पूर्व के ज्ञानियों ने जन्म लेने की पूर्व घोषणा पहले ही कर दी थी, तब उसके जन्म के बारे में इतनी अस्पष्टता, इतनी अनिश्चितता क्यों होती यदि वह कोई कल्पित व्यक्ति न था?

चूँकि जीसस कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न था, इसलिए उसके जन्म की तारीख गढ़नी ही पड़ी, उसकी कल्पना करनी ही थी।

उन दिनों में, शनि ग्रह द्वारा शासित मकर राशि में जब सूर्य प्रवेश करता है तब शीत-संक्रान्ति से मुक्ति, राहत की स्मृति में मनाया जानेवाला हिन्दू आनन्दोत्सव समारोह यूरोप में महान् प्रसन्नता, खुशियों का अवसर प्रदान करता था क्योंकि इससे बहुत अधिक ठंड से एक मांगलिक, हितकर परिवर्तन का श्रीगणेश होता था। भारतीय शब्दावली—बोलचाल में

२५ दिसम्बर को अभी भी 'बड़ा दिन' कहते हैं जो प्रथम लम्बे दिन का द्योतक है; यह भी इस तथ्य का संकेतक है कि २५ दिसम्बर जीसस का जन्मदिन नहीं है।

जीसस के जन्मदिन को उक्त समारोह, आनन्दोत्सव की पहचान प्रदान करने के लिए प्रारम्भिक कृस्ती नेताओं ने अपने झूठे, कल्पित नायक (जीसस) के जन्मदिन को एक महान् जनप्रिय समारोह, उत्सव के रूप में प्रच्छन्न रूप दे दिया। शुरू-शुरू के अवसरों पर वे विश्व के अन्य लोगों के साथ मौज-मस्ती तो करते रहे किन्तु मन में यह गुप्त संकोच भी सँजोए रहे कि वे तो अपने विशेष प्रयोजन से ही इसको मना रहे थे। अगला पग, कदम २५ दिसम्बर के गैर-यहूदी, कृस्ती-पूर्व महत्त्व को समाप्त कर देना था ताकि इन समारोहों को मात्र कृस्ती-कर्म ही घोषित किया जा सके। किसी गैर-ईसाई उत्सव की मूल श्वास को चुराकर एक गैर-विद्यमान जीसस को प्राण प्रदान करने की यह अद्वितीय पूर्व-प्रक्रिया धार्मिक झाँसापट्टी का एक विरला, अति दुर्लभ अंश, उदाहरण ही था। उन लोगों ने इस उद्देश्य की प्राप्ति भी कर ली—सर्वप्रथम रोमन सम्राट् को कृस्त-पंथी बनाया और फिर गैर-ईसाईवाद को रोमन सैनिकों के पैरों तले रौंद डाला।

स्वयं क्रिसमस (क्राइस्ट मास) नाम भी संस्कृत, हिन्दू शब्द है। कुछ भी हो, यह किसी भी प्रकार २५ दिसम्बर का अभिव्यंजक नहीं है। न ही 'क्रिसमस' शब्द किसी प्रकार जीसस के जन्मदिन का द्योतन करता है। यूरोपीय भाषाओं के शब्दकोश व्युत्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि से बिल्कुल गलत हैं जब वे क्रिसमस का विवरण, स्पष्टीकरण क्राइस्ट के जन्म के उत्सव में देते हैं। वास्तव में तो यह बिल्कुल उलटा ही है। यह तो जीसस का जन्मदिन ही था जिसे छल-कपट करके शीत-प्रकोप से मुक्ति के समारोह, आनन्दोत्सव में जबर्दस्ती धकेल दिया गया था। जब क्राइस्ट (क्रिस्त) कृष्ण का ध्वन्यात्मक विकल्प माना जाता है, तब कृष्ण मास शब्द को संस्कृत-यौगिक शब्द समझा जाना चाहिए जो अन्तिम (अँधेरे, कृष्ण) मास का द्योतक है क्योंकि 'कृष्ण' शब्द का अर्थ देव, भगवान् के साथ-साथ काला रंग भी है।

तथ्य रूप में तो जीसस और क्राइस्ट दो भिन्न-भिन्न, असंबद्ध शब्द हैं। यदि उसका नाम जीसस था, तो उसके जन्म का दिन जीसस के जन्मदिन

के रूप में ज्ञात, प्रसिद्ध होना चाहिए था। अन्त्य शब्द 'मास' का अर्थ जन्मदिन किस प्रकार ध्वनित होता है? एक अन्य प्रासंगिक प्रश्न यह है कि यदि उसका नाम जीसस था, तो कैसे, कब और क्योंकर क्राइस्ट (कृस्त) उपाधि, नाम को उसके साथ जोड़ दिया गया? इन सब बातों को, शंकाओं को कभी किसी ने उठाया ही नहीं। हर बात को सहज स्वीकार कर लिया गया है और उसे नित्य की भाँति सही मानकर उसका अनुसरण किया गया है।

अब हम चूँकि इन प्रश्नों को लगभग पहली ही बार उठा रहे हैं, इसलिए लोग इस प्रकार की जाँच-पड़ताल की उपयुक्तता को समझ रहे हैं।

जीसस नाम भी एक मौलिक शब्द नहीं है। जीसस 'ईशस' शब्द का अपभ्रंश रूप है जो प्राचीन युग में यूनानियों में एक अत्यन्त लोकप्रिय, सर्वसाधारण नाम रहा है। उक्त 'ईशस' नाम एक संस्कृत नाम है जिसका अर्थ 'ईश्वर' या 'देवता भगवान्' है। यही कारण है हिन्दुओं में 'रमेश' और 'उमेश' जैसे नाम होते हैं जिनमें 'एश' अन्त्य (प्रत्यय) ईशस (ईश) शब्द ही है। इसका अन्य संस्कृत समानक 'ईश्वर' शब्द है। प्राचीन यूनान में ईशस एक प्रसिद्ध न्यायविद् था जो एथेन्स में ईसा-पूर्व ३८७ सन् में रहा था।[1]

इसी प्रकार क्राइस्ट (कृस्त) शब्द भी, जैसा पहले स्पष्टीकरण किया जा चुका है, हिन्दू अवतार कृष्ण का अपभ्रंश रूप ही है। इसलिए संयुक्त शब्द ईशस क्राइस्ट अर्थात् जीसस क्राइस्ट का अर्थ ईशस (ईश, ईश्वर) कृष्ण ही है।

इसी तथ्य की पुष्टि जन्म के समय से भी होती है। जीसस का जन्म आजकल गिरजाघरों में रात्रि के ठीक १२ बजे घंटियों की झंकार के बीच मनाया जाता है। कृस्ती-गाथा में कहीं भी अर्धरात्रि की घड़ी को क्राइस्ट के जन्म के समय में अंकित नहीं किया गया है। उक्त समय तो वह निश्चित घड़ी है जिस क्षण कृस्ती-पूर्व युगों से, हजारों वर्षों से, विश्व-भर के हिन्दू लोग अपने घरों और मन्दिरों में घंटे-घड़ियाल (शंख-मजीरे) बजाकर

---

१. 'दि स्पीचेस ऑफ़ ईशस इन काज़ेस कनसर्निग दि लॉ ऑफ़ सक्सेशन टु प्रापर्टी एंड एथेन्स, विद कमेन्टरी बाई विलियम जोन्स'।

भगवान् कृष्ण का जन्मोत्सव मनाते चले आ रहे हैं।

चूँकि कृस्ती-पंथ के प्रारम्भिक नेता लोग अपने 'सिद्धान्तों' (?) को अपने कल्पित नायक की झूठी खूँटी पर आश्रित किए हुए थे, इसलिए उन लोगों को उस नायक के जन्म का दिन व समय भी 'कामचलाऊ प्रबन्ध' की दृष्टि से सोचने, विचारने पड़ गए। यह कार्य उन लोगों ने एक काल्पनिक जीसस के जन्मदिन को अपने ही युग के एक अत्यन्त लोकप्रिय समारोह (अर्थात् आनन्दोत्सव) के साथ जोड़कर अत्यन्त प्रवीणतापूर्वक कर दिया जिससे उस कार्य को एक विश्वव्यापी समारोह का आयोजन तैयार ही मिल सके।

अगला प्रश्न था वह घड़ी, समय सुनिश्चित करना जब जीसस जन्मा था। ऐसे सुअवसर के लिए आवश्यकता थी एक शुभ, पवित्र, मांगलिक दिव्य-परम्परा की। चूंकि भगवान् कृष्ण का जन्मोत्सव सम्पूर्ण प्राचीन यूरोप में रात्रि १२ बजे घंटियों की झंकार के मध्य मनाया जाता था, इसलिए प्रारम्भिक कृस्ती-नेता तुरन्त उक्त समय के लिए झपट पड़े। इस प्रकार जीसस के जन्म की तारीख व जन्म का समय 'कामचलाऊ प्रबन्ध' के रूप में नियत कर दिए गए। तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि 'जीसस क्राइस्ट (कृस्त)' शब्द 'ईशस कृष्ण' का लोकप्रिय अपभ्रंश उच्चारण है। जब इन सभी विवरणों को एकत्र कर दिया जाए तब यह अनुभूति हो जाएगी कि तथाकथित 'एक्स-मस' समारोह कोई कृस्ती-समारोह न होकर एक हिन्दू कृष्णन-समारोह ही है।

इस प्रकार जीसस के जन्म का दिन, समय और वर्ष भी, सभी झूठे, काल्पनिक हैं। यह तो होना ही था। जब किसी अस्तित्वहीन व्यक्ति की कल्पना की जाए और उसे एक महामानव या पृथ्वी पर एक खरे, वास्तविक भगवान् के रूप में इतिहास पर थोपने का काम किया जाए, तो उसके जीवन और चरित के विवरण समकालीन घटनाओं से तो असंगत, अटपटे होंगे ही। और इसीलिए जीसस के जन्म और मृत्यु के दिनों, समय व वर्ष और स्थान तथा उसके तथाकथित जीवन के अन्य प्रसंगों में भी यही हुआ है।

चूंकि विश्व के कार्यकलापों में पश्चिम के प्रभुत्व के कारण आज

अधिकांश देशों में कृस्ती-सँवत् (सन्) प्रचलित है, इसलिए सभी तारीखों का उल्लेख जीसस क्राइस्ट के संदर्भ में ही किया जाता है; यथा—ईसा-पूर्व या ईसा-पश्चात् इतने वर्ष। इससे आम लोग सहज ही विश्वास करते हैं कि वर्तमान कृस्ती-पंचांग ने कृस्ती-युग की गणना उसी दिन और समय से तो प्रारम्भ की होगी जब क्राइस्ट का जन्म हुआ था (?)।

किन्तु चूँकि कोई क्राइस्ट था ही नहीं, इसलिए वह किसी दिन जन्मा, पैदा हुआ हो ही नहीं सकता था। इस समस्या की खोजबीन पहले जिन विद्वानों ने की है, उनके प्रयत्नों से यही स्थिति सम्मुख उपस्थित हुई है।

इस प्रश्न पर विचार-विमर्श करते हुए विल डूरण्ट ने कहा है कि मैथ्यू और लूके, दोनों ही "जीसस का जन्म तब हुआ मानते हैं जब हेरोड जूडिया का सम्राट् था···परिणामत: ईसा-पूर्व ३ में।"[१]

किन्तु ईसा-पूर्व ३ में भी किस नियत समय/दिन जीसस का जन्म हुआ था, यह फिर भी अन-कहा, न-बताया रह गया है। यदि जीसस ऐसा दिव्य-शिशु रहा होता जिसका जन्म पहले ही बता दिया गया था और जिसको मिलने के लिए ज्योतिषी विशेष रूप में बेथलेहम गाँव गए थे, तो जीसस के जन्म की तारीख और समय/घड़ी के बारे में यह अनिश्चितता नहीं होनी चाहिए थी।

तथापि लूके जीसस को उस समय लगभग ३० वर्ष की उम्र का वर्णन करता है जब टाइबेरियस के पन्द्रहवें वर्ष में, अर्थात् ईसा-पश्चात् २८-२९ सन् में जोह्न ने उसका बपतिस्मा किया था।

इस कथन के अनुसार तो जीसस ईसा-पूर्व सन् २ व १ के मध्य जन्म लेने चाहिए थे, ऐसा विल डूरण्ट का कहना है।[२] इसका मतलब यह कहने के बराबर है कि क्राइस्ट का जन्म कृस्ती-युग प्रारम्भ होने से पहले ही हो गया था, जो एक बेहूदगी, अटपटी बात है।

इस प्रश्न पर आगे विचार करते हुए विल डूरण्ट ने कहा है: "हमें उसके जन्मदिन की तारीख की—विशिष्ट तिथि की कोई जानकारी नहीं

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५७।

२. वही, पृष्ठ ५५८।

है। सिकन्दरिया के क्लीमैंट (लगभग २०० ईसवी सन्) ने इस दिन के बारे में भिन्न-भिन्न मत अंकित किए हैं—कुछ तिथि-क्रम लेखकों ने जन्म १६ अप्रैल को, कुछ ने २० मई को बताया है। उसने स्वयं ईसा-पूर्व ३ सन् में १७ नवम्बर का दिन लिखा है।"[1]

यही कारण है कि कृस्ती-पंथ के प्रारम्भिक दिनों में क्राइस्ट का जन्म-दिन आयोजित करने के बारे में एकरूपता नहीं थी। ईसा-पश्चात् दूसरी शताब्दी तक पूर्वी कृस्त-पंथी क्राइस्ट का जन्मदिन ६ जनवरी को ही मनाते रहे। ईसवी सन् ३५१ में ही रोम के गिरजाघरों सहित कुछ पश्चिमी चर्चों ने २५ दिसम्बर को जन्मदिन मनाना शुरू कर दिया जिसका आकलन गलती से शीत की मकर संक्रांति के रूप में कर लिया गया था और इसलिए, जैसा आधुनिक विद्वानों ने प्रचलित रूप में समझा है, सूर्य-पूजा-पद्धति के एक महत्त्वपूर्ण उत्सव के रूप में माना जाता था। उन्होंने उक्त पद्धति का नाम मित्र-धर्म (मित्र-इज़्म) घोषित किया है। इस दीर्घकालीन धारणा में कुछ सुधार, संशोधन जरूरी है। मित्र (मिथ्र भी उच्चारण करते हैं) संस्कृत में सूर्य के अनेक नामों में से एक है। सूर्य की नित्य वंदना, उपासना करने-वाले हिन्दू उसके १२ नाम मंत्रों का उच्चारण करते हैं जिनमें से पहला नाम मित्र (मिथ्र) ही है। इसलिए मित्र-धर्म, मित्रोपासना कोई अलग पंथ, पूजा-पद्धति न होकर सूर्य-पूजा की हिन्दू-परम्परा ही है।

हिन्दू व्यक्ति ठीक ही देव को भिन्न-भिन्न रूपों में देखता है। जिस प्रकार कोई एक पुरुष अपनी पत्नी का पति होता है, अपने बच्चों का पिता होता है, अपने अधीनस्थों का अधिकारी और अपने अधिकारियों का अधीनस्थ होता है, उसी प्रकार एक हिन्दू भी देवता के दर्शन उसके सृजनात्मक, पालक और विध्वंसक/विनाशक रूपों में करता है। अतः चाहे यह सूर्य-पूजा, सूर्योपासना हो या ब्रह्मा, कृष्ण, हनुमान, विष्णु, माता देवी, शिव या अन्य किसी की भी पूजा-आराधना, ये भिन्न पंथ न होकर मात्र हिन्दू-धर्म, हिन्दू-उपासना-पद्धति ही है जो प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देती है कि वह किसी भी समय किसी भी आकार, रूप में

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५८।

देवाराधन कर सकता है। वही हिन्दू-पूजा-पद्धति थी जो प्राचीन विश्व में सर्वत्र प्रचलित थी। अत: हमें जब कभी प्राचीन विश्व में ऐसे देवताओं की पूजा-पद्धतियों का ज्ञान हो, तब उन्हें पृथक् पंथ या पूजा-पद्धति न मानकर हिन्दू-धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार व प्रचलन का प्रमाण ही स्वीकार करना चाहिए।

२५ दिसम्बर का मकर संक्रांति का दक्षिण अयनान्त समारोह लैटिन भाषा में 'नटालिस इनविक्टी सेलिस' अर्थात् अपराजेय सूर्य का जन्मदिन है। इसे दक्षता, निपुणता, चतुराई से (ईश के) पुत्र के जन्मदिन में बदल दिया गया था। वह तो केवल छल-कपट, धोखेबाजी थी। मतभेद बने रहे, चलते रहे। पूर्वी चर्च कुछ समय तक ६ जनवरी की तारीख ही जन्मदिन के रूप में मनाते रहे और अपने पश्चिमी गिरजाघरों पर यह दोषारोपण करते रहे कि वे मूर्तिपूजा की अपनी सूर्योपासना-परम्परा जारी रखे हुए थे। इस संकेत और पारस्परिक खींचातानी से ही यह स्पष्ट होता है कि २५ दिसम्बर वास्तव में दक्षिण अयनान्त समारोह, आनन्दोत्सव है, न कि जीसस का जन्मदिन (और उसका उत्सव)।

जब एक ही (कल्पित) घटना अर्थात् क्राइस्ट के जन्म के दो भिन्न-भिन्न समारोह—१२ दिनों के अन्तर से—एक आलोचक और शंकालु विश्व की नजरों में हास्यास्पद दिखाई देने शुरू हो गए, तब एकता द्वारा अपना अस्तित्व बनाए रखने की सहज, प्राकृतिक इच्छाशक्ति ने प्रारम्भिक क्रिस्ती नेताओं को किसी भी मूल्य पर समझौता कर लेने और आचरण, व्यवहार की एकता प्राप्त कर लेने के लिए बाध्य कर दिया। तदनुसार पूर्वी गिरजाघरों ने समर्पण कर दिया, घुटने टेक दिए और जिस २५ दिसम्बर को मूर्तिपूजक परम्परा, पद्धति का जारी रखना मानकर उसका पूरी तरह विरोध करते रहे थे, उसी को उन्होंने (अजन्मे) क्राइस्ट का जन्मदिन स्वीकार कर लिया।

स्वयं ६ जनवरी की तारीख का भी हिन्दू-महत्त्व है। रूढ़िवादी, पुरातनपंथी हिन्दू-परम्परा, पद्धति के अनुसार नए जन्मे शिशु—जातक—का नामकरण जन्म के १२वें दिन होता है। १२वें दिन नामकरण-समारोह एक सुपरिष्कृत कर्मकांड और विशाल समारोह होता है। अत: २५ दिसम्बर

और ६ जनवरी—दोनों ही प्राचीन हिन्दू-समारोह हैं जिन्हें यूरोप और अन्य कृस्ती क्षेत्रों में कृस्ती रूप, आवरण दे दिया गया है।

इसी प्रकार जीसस के जन्म-स्थान के बारे में भी मनगढ़न्त, काल्पनिक व्यवस्था की हुई है। यह तो सहज, स्वाभाविक ही था क्योंकि (जब) जीसस कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है ही नहीं और इसलिए वह कभी पैदा हुआ ही नहीं था। किन्तु कृस्ती-पंथ नामक एक संगठन का एक बार रूप स्थापित हो जाने पर, इसके नेताओं को एक कल्पित जीसस के चरित में रिक्त स्थानों को तो भरना ही था। ऐसी ही एक आवश्यकता उसके जन्म-स्थान (?) को पहचानने, बताने की थी।

इसके लिए भी वही सुपरिचित विधि, प्रणाली अपनाई गई थी, उसी का अनुसरण किया गया था—अर्थात् हिन्दू लोग जहाँ एक कृष्ण-मन्दिर में कृष्ण का जन्म-समारोह मनाते थे, उसी स्थान को कृष्ण अर्थात् क्राइस्ट (कृस्त) का जन्मस्थान मान लिया, पहचान लिया और घोषित कर दिया गया था।

इसके सम्बन्ध में विल डूरण्ट का कहना है कि "मैथ्यू और लूके, दोनों सुसमाचार लेखकों ने क्राइस्ट के जन्म का स्थान जरुस्लम के दक्षिण में पाँच मील दूर स्थित बेथलेहम में बताया है। वे हमको बताते हैं कि यहाँ से परिवार गलेली में नज़रथ नामक स्थान पर चला गया। (किन्तु अन्य सुसमाचारी) मार्क बेथलेहम का कोई उल्लेख नहीं करता और क्राइस्ट का उल्लेख 'नज़रथ का जीसस' मात्र के रूप में ही कर देता है।" कृष्ण अर्थात् क्राइस्ट (कृस्त) का जन्मस्थान बेथलेहम या नजरथ होने के बारे में विभ्रम इस तथ्य के कारण उत्पन्न होता है कि उक्त दोनों ही स्थानों पर कृष्ण मन्दिर थे। जहाँ कहीं हिन्दू पद्धति के अनुसार कृष्ण की पूजा होती है, वहाँ उन सभी घरों और मन्दिरों में कृष्ण का जन्म अर्ध-रात्रि को ही घंटे-घड़ियालों की झंकार में समारोहपूर्वक मनाया जाता है। इसीलिए, बेथलेहम और नज़रथ, दोनों ही स्थानों पर कृष्ण के जन्म-समारोह आयोजित होते रहे।

"उसके माता-पिता ने उसे अत्यन्त लोकप्रिय नाम दिया 'येशवा' जो हमारा 'जोसुवा' है, जिसका अर्थ है : 'याहवेह की मदद'। यूनानियों ने

इसे 'ईशस' और रोमनों ने 'जीसस' बना दिया।"[1]

आधुनिक युग में ईसाई-धर्म (कृस्ती-पंथ) को जिस प्रकार समझा जाता है उस कृस्ती-धर्म से उनके धर्मशास्त्र 'प्राचीन विधान' (ओल्ड टेस्टामेंट) का, तथ्यतः, कोई भी लेना-देना, सम्बन्ध नहीं है। और फिर भी, 'प्राचीन विधान' को बाइबल का एक अनिवार्यरूपेण आवश्यक भाग, हिस्सा समझा जाता है। प्रत्यक्ष कारण यह है कि कृस्ती-पंथ (क्रिश्चियनिटी) केवल कृष्ण-नीति ही है। चूंकि 'जुदाइज़्म' अर्थात् 'यदुइज़्म' और 'क्रिश्चियनिटी' अर्थात् 'कृष्ण-नीति' दोनों ही कृष्ण भगवान् के चारों ओर केन्द्रित थे, इसलिए तथाकथित कृस्तपंथियों को अपने धर्मग्रन्थ के रूप में 'प्राचीन विधान' को स्वीकार करने में कोई भी संकोच, हिचकिचाहट लेशमात्र भी न हुई।

स्वयं 'प्राचीन विधान' भी भगवान् कृष्ण के विश्वविख्यात प्रवचन, हिन्दुओं द्वारा 'भगवद्गीता' के रूप में संरक्षित अद्भुत धर्मग्रन्थ का ही एक परवर्ती दूरस्थ रूपान्तर है—यह तथ्य दोनों में एकसमान 'भविष्य-वाणी' से स्पष्ट, प्रत्यक्ष हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि 'प्राचीन विधान' में वचन दिया गया है कि एक संरक्षक, पालनकर्ता अर्थात् सभी के रक्षक के रूप में एक दिव्य अवतार होगा। उसी भविष्यवाणी को संकेत मानकर तथाकथित कृस्तियों ने कहा था कि जीसस सभी के संरक्षक, पालनकर्ता के रूप में प्रकट, आविर्भूत हुआ था।

'प्राचीन विधान' की उक्त भविष्यवाणी भगवान् कृष्ण की सुप्रसिद्ध 'भगवद्गीता' के निम्नलिखित आश्वासन, वचन का हिब्रू भाषान्तरित वाक्यांश होने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है: "जब-जब पृथ्वी पर अव्यवस्था, कु-शासन और अत्याचार होते हैं, मैं सज्जनों की रक्षा-निमित्त और विधि व व्यवस्था की स्थापना हेतु पुनः अवतरित होता हूँ।"[2]

संरक्षक, पालनकर्ता का समानार्थक अंग्रेजी शब्द 'सेविअर' भी संस्कृत

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५८।

२. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक ७-८।

शब्द 'ईश्वर' अर्थात् 'प्रभु ईश्वर' है।

यह इतिहास की विचित्र विडम्बना है कि यद्यपि कभी कोई जीसस जन्मा ही नहीं था, तथापि एक कृष्ण-पंथ अर्थात् जुदाइज्म (यदुवाद) भविष्यवाणी की चर्चा करते हुए एक अन्य दूसरे, कृष्ण-पंथ अर्थात् क्रिश्चियनिटी को जन्म दे बैठा और दोनों ने ही, पृथक्-पृथक् तथा संयुक्त रूप से भी, आधुनिक युग में अपने-आपको उस हिन्दू कृष्ण-उपासना से बिल्कुल भिन्न समझ लिया है जो आज भी भारत में प्रचलित है, आज भी आचरण, अभ्यास में आती है।

तथाकथित यहूदी और कृस्ती लोग भारत में प्रचलित कृष्ण-पूजा से संकेत, मार्गदर्शन ग्रहण कर अपनी प्राचीन कृष्ण-परम्परा पुनः प्रारम्भ कर सकते हैं। मुस्लिम लोग भी यह मनोभाव धारण कर ठीक ही करेंगे कि 'इसलाम' शब्द (ईश + आलयम्) भी एक कृष्ण मन्दिर का द्योतक ही है।

स्वर्गीय भक्ति-वेदान्त प्रभुपाद द्वारा संस्थापित 'कृष्ण-चैतन्य की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था' (इसकोन) ने गैर-हिन्दू विश्व में कृष्ण-पूजा, आराधना पुनः प्रारम्भ करने की दिशा में ईश्वरीय वचन पूर्ण करने के लिए उसी की प्रेरणा पर प्रथम पग उठाया है।

कृष्ण-चैतन्य आन्दोलन 'इसकोन' इतिहास पुनः दोहराने का एक विशिष्ट उदाहरण है यद्यपि सर्वसाधारण व्यक्ति से लेकर विद्वानों सहित सामान्य संसार ही अत्यन्त आनन्दमय रूप से इस तथ्य से अनभिज्ञ है कि जुदाइज्म (यहूदी-धर्म), इसलाम और क्रिश्चियनिटी अभी भी अपने अन्दर अपनी प्राचीन कृष्ण-उपासना के बीज सँजोए हुए हैं।

अध्याय ७

संस्कृत शब्दावली

क्राइस्ट (क्रस्त)-कथा से सम्बन्धित सभी नाम हिन्दू, संस्कृत नाम हैं जो भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित, जुड़े हुए हैं।

'बेथलेहम' का नाम परखें। यह 'वत्सलधाम' है। संस्कृत में 'वत्सल' 'प्रिय' (शिशु) का द्योतक शब्द है। दूसरे अक्षर 'धाम' का अर्थ है 'घर'। अतः स्पष्ट है कि वत्सलधाम उपनाम बेथलेहम एक नगरी थी जो बाल भगवान् कृष्ण के मन्दिर के चारों ओर बसी हुई थी। संस्कृत का 'व' अन्य भाषाओं में बहुधा 'ब' में बदल जाता है। इसलिए 'वत्सलधाम' का उच्चारण 'बत्सलधाम' होने लगा जो बाद में 'बेथलेहम' के रूप में उच्चरित हो बदल गया।

बेथलेहम एक कृष्ण मन्दिर और नगरी का नाम होने के कारण वहाँ पर हिन्दू-पंचांग के अनुसार अगस्त में मध्यरात्रि के समय ही कृष्ण-जन्म समारोहपूर्वक आयोजित किया जाता था।

जरुस्लम भी एक संस्कृत शब्द है। इसका मूल नाम 'यरुस्लयम' है। 'जुडैका ज्ञानकोश' का कहना है कि "जरुस्लम सम्भवतः 'रुशलीमम' था। १४वीं शताब्दी ईसा-पूर्व युग के तेल-एल-अमरना पत्रों में यह 'उरुसली' लिखा है और असीरियन (जैसे सेन्नाखरीब शिलालेख) में उरसलीम्मू। बाइबल में इसकी वर्तनी प्रायः यरुशिम और कई बार यरुशिलम होती है, जो उच्चारण में यशलरुयिम हैं। सलेम नगर स्पष्टतः जरुस्लम है। यूनानी हीरोसोलिमा 'पवित्रता' प्रतिबिम्बित करता है (हीरोस का अर्थ पवित्र, शुभ, सत् है)। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल नाम इरुसलेम था और इसमें प्रयुक्त दोनों शब्दों का मिलाकर अर्थ है 'स्थापना करना' ('यराह'), और पश्चिमी शामी भगवान् का नाम शुलमन्न या शलीम।

भगवान् को ही नगर का संरक्षक मान लिया गया होगा जिसकी प्रतिष्ठा में एक यज्ञ-मण्डप, गर्भ-कक्ष था। काव्यात्मक शब्द मिद्राशिक—जरुस्लम नाम का 'शान्ति की स्थापना' के रूप में स्पष्टीकरण नगर के काव्यात्मक अभिधान से जुड़ा हुआ है।"[१]

हीरोसोलिमा संस्कृत-यौगिक शब्द है: हरि-ईश-आलयम् अर्थात् भगवान् हरि अर्थात् कृष्ण का देवालय। यह प्रदर्शित करता है कि महान् व्युत्पत्ति-समीक्षक भी कितनी भारी, बड़ी गलती पर हैं।

नगरों के नामों में 'अम्' अन्त्य अक्षर भी हिन्दू, संस्कृत शैली ही है। संस्कृत भाषा में 'नगर' नपुंसक लिंग होने के कारण हिन्दू शहरों को नगरम्, कांचिपुरम्, रामेश्वरम् आदि पुकारते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जरुस्लम अर्थात् यरुस्लयम् संस्कृत में अन्त्य शब्द ही है।

विश्व ज्ञानकोश यह धारणा बनाने में तो सही है कि नगर में नगर-संरक्षक देव (ईश्वर) का एक गर्भ-मन्दिर था। किन्तु हम आग्रहपूर्वक यह जरूर कहेंगे कि 'शलोम' शब्द का अर्थ 'शान्ति' लगाने में यहूदी और यूनानी विद्वान् पूरी तरह गलती पर हैं। इसी प्रकार मुस्लिम विद्वान् भी 'इसलाम' शब्द का अर्थ 'शान्ति' या 'समर्पण' करने में पूरी तरह गलती पर हैं। यहाँ, हिन्दू-परम्परा, संस्कृत-परम्परा अद्वितीय कुंजी प्रस्तुत करती है।

नगर का मूल संस्कृत नाम है यदु-ईश-आलयम्। यदु भगवान् कृष्ण के वंश का नाम है। चूँकि संस्कृत के 'ड'/'द' अक्षर की वर्तनी पश्चिम देशों में 'र' होती है (उदाहरण के लिए, महिलाओं द्वारा पहनावा—वस्त्र का हिन्दू शब्द 'साड़ी' पश्चिम में 'सारी' लिखा जाता है), 'यदु' शब्द 'यरु' बन गया। 'ईश' का अर्थ 'ईश्वर' या भगवान् है, जैसा पहले ही स्पष्टीकरण दिया जा चुका है। इसके संस्कृत-रूप ईशस की वर्तनी भी यूनानी विद्वानों ने इसी प्रकार कुछ भिन्न कर दी है। अन्त्य-अक्षर 'आलयम्/अलयम्' का अर्थ ऐसे ही एक उपासनालय या निवासस्थान (घर) होता है; यथा—देव-आलयम् (अर्थात् ईश्वर का निवासस्थान) और ग्रन्थ-आलयम् (पुस्तकों का घर)। अंग्रेजी शब्द 'असायलम्' (शरण-स्थल) भी उसी संस्कृत-मूल का शब्द ही है।

---

१. 'एन्साइक्लोपीडिया जुडैका', खंड ९, १३८९।

अतः यरुस्लयम (या यरुस्लम) शब्द यदु-वंश, कुल के स्वामी, प्रभु, भगवान् कृष्ण का आवास-स्थान है।

चूँकि बेथलेह्म और जरुस्लम कृष्ण मन्दिर के चारों ओर ही स्थापित हुए, बसे थे और शलोम व इस्लाम यरुस्लम शब्द के ही विकृत, खण्डित रूप हैं, इसलिए स्पष्ट/प्रत्यक्ष है कि आज अपने-आपको यहूदी, मुस्लिम और क्रस्ती कहने/कहलवानेवाले सभी लोग भी भगवान् कृष्ण की आराधना, पूजा-अर्चना करनेवालों के वंशज उन्हीं की सन्तानें हैं।

हजारों वर्ष पहले यहूदी लोग बाँसुरी बजाते, बछड़े पर झुके हुए, चरती हुई गौओं की देखभाल करनेवाले के रूप में वृक्ष के नीचे खड़े हुए भगवान् कृष्ण की पूजा-आराधना करते थे। यहूदी लोग उसी के साथ-साथ (अपनी श्रद्धानुसार) हिन्दू-परम्परा के अनुसार अन्य देवताओं की पूजा भी करते थे। किन्तु रेगिस्तानों में भटकते हुए हजारों वर्षों के अपने श्रमसाध्य, कठिन दिनों की अवधि में विभिन्न देवगणों की पूजा-पद्धति, नित्याभ्यास ने उन लोगों को शनैः-शनैः विभिन्न पंथों, टुकड़ों में विभाजित करना, बाँटना शुरू कर दिया। उनके नेताओं को आभास हो गया कि ऐसे संकेतों से वे असंगठित हो जाएँगे तथा उन पर उनके शत्रुओं के आक्रमण आसानी से हो सकेंगे। अतः आपात्-पग के उपाय-स्वरूप यहूदी नेताओं ने अपने सारे समाज को प्रत्येक मूर्ति का परित्याग कर देने के लिए बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप यहूदी-इतिहास के लेखकों को जो कुछ स्मरण रह सका और उन्होंने अंकित किया वह यह है कि जरुस्लम के मन्दिर में निश्चित रूप से ही एक स्वर्णिम-वत्स की प्रतिमा, मूर्ति प्रतिष्ठित थी। उसके पास ही कौन-सी देव-प्रतिमा खड़ी थी, उनको स्मरण नहीं प्रतीत होता है। किन्तु अभी तक जिन साक्ष्यों की चर्चा की गई है उनके अनुसार यह लगभग निश्चित, पक्का ही है कि वह देवमूर्ति भगवान् कृष्ण की ही थी। वह वत्स, बछड़ा, स्वर्ण का था क्योंकि भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु, हिन्दू-परम्परा में स्वर्ण की ही होती है। भगवान् कृष्ण की राजधानी द्वारका भी स्वर्णिम नगरी ही थी। भगवान् कृष्ण स्वयं स्वर्ण-मुकुट और अन्य कई आभूषण शरीरांगों पर धारण करते थे।

नन्द नामक पशुपालक द्वारा पाल-पोसकर बड़े किए जाने के कारण

बालक कृष्ण अपने संरक्षक की गौओं की देखभाल किया करते थे। अतः बालक कृष्ण को गौओं को चराते, उनकी देखभाल करते ही सदैव दिखाया जाता है। गाय के लिए संस्कृत शब्द है 'गौ' और गाय-फार्म या पशु, ढोर-शालाओं को संस्कृत में 'गावालय' कहते हैं। गलीली (गालिली) शब्द संस्कृत के 'गावालय' शब्द का अपभ्रंश रूप ही है।

इसी प्रकार, बचा हुआ नज़रथ शब्द भी संस्कृत का नन्दरथ शब्द है। संस्कृत का 'द' अक्षर बहुधा अन्य भाषाओं में 'ज़' में बदल जाता है। उदाहरण के लिए संस्कृत का 'ध्यान बुद्ध-धर्म' को चीनी लोग 'ज़्यान बुद्ध-धर्म' और जापानी लोग 'ज़ेन बुद्ध-धर्म' उच्चारित करते थे। अतः नज़रथ शब्द नन्दरथ है जिसका शाब्दिक अर्थ 'नन्द का रथ' है। अतः प्रत्यक्षः नज़रथ वह स्थान है जहाँ नन्द के रथ खड़े किए जाते, मरम्मत किए जाते और निर्माण किए जाते थे। इस प्रकार जरुस्लम के चारों ओर के स्थान कृष्ण कथा-साहचर्यों से जुड़ गए क्योंकि जरुस्लम स्वयं ही कृष्णोपासना का एक प्रमुख केन्द्र था।

'जुडिया' और 'जुडाइज़्म' शब्द क्रमशः यदुआ और यदुइज़्म व्युत्पन्न हैं। संस्कृत भाषा का 'य' अन्य भाषाओं 'ज' में परिवर्तित हो जाता है जैसे यदुनाथ को जदुनाथ और यशवन्त को जशवन्त लिखते हैं—उनकी ऐसी वर्तनी (भी) करते हैं। यदुआ और यदुइज़्म क्रमशः यदु लोगों का क्षेत्र और उनका (यादवों का) कुल, वंश मुखरित करते हैं।

'ज़िओनिज़्म' भी यहूदी-संस्कृति के लिए एक अन्य नाम है चाहे आज इसे एक अत्यन्त सीमित रूप में मात्र एक खास पंथ के लिए प्रयोग में लिया जा रहा है। उनका ज्ञानकोश स्वीकार करता है कि 'जिओन' शब्द का अर्थ 'ज्ञात नहीं है'।[1]

मुस्लिमों और यहूदियों को तथा उनकी संस्कृति के विद्वानों को निरुत्तर इसलिए होना पड़ा कि उन्होंने कभी संस्कृत भाषा में पैठ करने का विचार ही नहीं किया। हम विश्व के लिए यह घोषणा करना चाहते हैं कि, "संस्कृत भाषा और हिन्दू-धर्म, हिन्दू-वाद के पास अन्य सभी बातों की समझ के लिए

१. 'एन्साइक्लोपीडिया जुडैका', खण्ड ६, पृष्ठ १३७६।

कुंजियाँ हैं। संस्कृत और हिन्दू-परम्पराओं की उपेक्षा, अवहेलना करनेवाले दिग्भ्रमित हो चक्कर में फँस जाते हैं, अपने प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर, स्पष्टीकरण प्राप्त करने में समय व्यर्थ गँवा देते हैं और कोई ऊलजलूल, बेतुका, असम्बद्ध, असन्तोषकारी स्पष्टीकरण का सुझाव प्रस्तुत करते हुए अपनी कोशिशें समाप्त कर देते हैं।

यही स्थिति 'ज़िओन' शब्द के साथ भी हुई है। संस्कृत का 'द' अन्य भाषाओं में 'ज़' में बदल जाने के पूर्व प्रतिपादित नियम को लागू करने पर अत्यन्त सहज रूप में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रचलित 'ज़िओन' शब्द संस्कृत का 'देवन' है। अत: देव-वाद अर्थात् 'ज़िओनिज़्म' देव-धर्म या ईश्वर में विश्वास अर्थात् ईश्वर का पंथ है।

जरुस्लम की दक्षिण प्राचीर में ज़िओन शिखर (माउंट ज़िओन) पर 'ज़िओन द्वार' (देवन द्वार) में मेहराब (तोरण) के ऊपर एक प्रस्तर कमल-चक्र बना हुआ है।

इसी प्रकार जफ़्फ़ा द्वार शिलालेख में इसके ऊपर तीन पत्थरों के कमल-चक्र हैं। कमल एक सुविख्यात शुभ, पवित्र, मांगलिक हिन्दू चिह्न, लक्षण है। हिन्दू लोग व्यक्ति के हाथों, पैरों, आँखों और मुखाकृति को प्रतिष्ठा, सम्मान के रूप में 'कमल' शब्द से सम्बोधित करते हैं (जैसे—कर-कमल, चरण-कमल, कमल-नयन, मुख-कमल आदि)। सभी हिन्दू देवगण कमल पर ही आसीन हैं। हिन्दू योग-साधना में योगी लोग भी कमल (पद्म) पर विराजमान, उसी आसन में बैठे होते हैं। अत: जरुस्लम के द्वारों पर कमल-चिह्न घोषणा करते हैं कि यह एक हिन्दू नगर था। ऐसे ही प्रस्तर कमल-चिह्न आज भी भारत में हिन्दुओं के लगभग सभी दुर्गों, किलों व मन्दिरों के तोरणयुक्त प्रवेश द्वारों पर अंकित, निर्मित देखे जा सकते हैं।

जुडैका विश्व ज्ञानकोश घोषित करता है कि, "पैगम्बरों और बाद में हिब्रू-कवियों ने प्रशंसा और श्रद्धा के अनेक नाम जरुस्लम को प्रदान किए हैं, यथा—'नगर', 'ईश्वर की नगरी', 'पावन नगरी', 'न्याय-नगर', 'स्वामी-निष्ठ, भक्त नगर', 'शान्ति नगर', 'सुन्दर नगर' आदि। जरुस्लम के साथ भगवान् कृष्ण के साहचर्य के कारण ही ये सभी नाम उद्भूत हैं। इसे 'ईश्वर-नगरी' और 'पावन नगरी' की ख्याति प्राप्त थी क्योंकि इसकी स्थापना

भगवान् कृष्ण के नाम पर की गई थी। इसका नाम 'न्याय नगर' होने का कारण यह था कि भगवान् प्रायः लोगों को स्मरण दिलाते ही रहे थे कि उनको पुरस्कार या दण्ड, सुख या दुःख, उनके अपने कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होंगे। जरुस्लम एक 'शान्ति नगर' के रूप में ज्ञात इस कारण था कि प्रसिद्ध ही है कि भगवान् कृष्ण ने 'महाभारत-युद्ध' रोकने/टालने के लिए और कौरव-पाण्डव भाइयों को शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए अपने पूरे-पूरे प्रयास किए थे।

जरुस्लम की स्थापना अति विशाल विश्वविख्यात कृष्ण-देवालय के चारों ओर करने का एक अति युक्तियुक्त कारण और भी है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों, ग्रन्थों के अध्ययनकर्ताओं को भलीभाँति ज्ञात ही है कि भगवान् कृष्ण के प्रमुख शत्रुगण बाणासुर, बकासुर, नरकासुर आदि जैसे असुर ही थे। इतिहास के छात्र यह भी जानते हैं कि फिलस्तीन के निकटवर्ती क्षेत्र असीरिया का नाम असुरों से ही व्युत्पन्न है, उन्हीं के कारण पड़ा है। उस क्षेत्र के सम्राटों के नामों में 'असुर' शब्द भी प्रायः सम्मिलित ही होता था जैसे असुर बेनीपाल। उस समय जब असुर लोग विश्व के लिए आतंक बन गए थे, तब असुरों के अत्याचारों से शान्तिप्रिय मानवता को मुक्त कराने के लिए हिन्दुओं के भगवान् विष्णु को अनेक बार अवतार लेना पड़ा था। असुरों के ऊपर भगवान् विष्णु की महान् और बारम्बार होनेवाली जीतों को ध्यान में रखते हुए वहाँ के निवासियों ने असुरों के भय, आतंक से छुटकारा पाने पर आनन्ददायक मुक्ति रूप में भगवान् कृष्ण का एक विशाल मन्दिर निर्माणोत्सव समारोहपूर्वक मनाया और भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी प्रशंसा, प्रगाढ़ श्रद्धा व ठकुर-सुहाती के रूप में इस देवालय के चारों ओर एक नगर की प्रतिष्ठा भी कर दी। वह नगर है जरुस्लम। इसके आसपास के भौगोलिक क्षेत्रों के नाम; यथा—गैलिली, नज़रथ और बेथलेहम आदि, सभी कृष्ण-कथा से ही व्युत्पन्न हैं।

यहूदी, कृस्ती और मुस्लिम लोग जिन्हें इस खोज को स्वीकार करना असुविधाजनक लगे कि उनके पूर्वज भगवान् कृष्ण की पूजा करनेवाले थे, अपने-आपको इस तथ्य से भी दिग्भ्रमित कर सकते हैं कि हमने केवल भाषाशास्त्रीय साक्ष्य ही प्रस्तुत किए हैं। हम ऐसे लोगों को सर्वप्रथम यही

बता देना चाहते हैं कि इतना विपुल भाषाशास्त्रीय साक्ष्य अत्यन्त महत्त्व वाला है क्योंकि अन्य साक्ष्य जब अत्यन्त सुगमता से नष्ट किया जा सकता है, तब भाषा जो लाखों-लाखों लोगों द्वारा हर रोज बोली जाती है और प्रेमपूर्वक व सहज स्वाभाविक तौर पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंप दी जाती है, ऐतिहासिक शोध का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपकरण है जो पुरातत्त्वीय अवशेषों से भी अधिक बहुमूल्य और विश्वसनीय है। यह बता देने के बाद हम यह संकेत जरूर देना चाहते हैं कि हम कमल-चिह्नों के रूप में पुरातत्त्वीय साक्ष्य भी प्रस्तुत कर चुके हैं। हम भगवान् कृष्ण द्वारा असुरों के विरुद्ध लड़े गए अपूर्ण पश्चात्ताप के युद्धों, संघर्षों के बारे में ऐतिहासिक साक्ष्य भी सामने ला चुके हैं।

यहूदी लोग अपने-आपको भगवान् के चुने हुए लाड़ले व्यक्ति कहते हैं। इसका कारण यह है कि वे भगवान् कृष्ण के यदु-वंश से सम्बन्ध रखते हैं जो यदु-ईश अर्थात् यादवों के शिरोमणि, प्रभु, स्वामी कहलाते हैं।

डिविनिटी : कृस्ती देव-विद्या में सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त व्यक्ति को 'डॉक्टर ऑफ़ डिविनिटी' की उपाधि से सम्मानित, प्रतिष्ठित किया जाता है। वहाँ 'डिविनिटी' संस्कृत का यौगिक शब्द 'देव-नीति' है—अर्थात् देव (ईश्वर) के जीवन की पद्धति। हिन्दू, संस्कृत भाषा-शैली में 'ईश्वर' के लिए शब्द है 'देव' जबकि (तथा) ईश्वर की जीवन-शैली 'देव-नीति' कहलाती है। 'डॉक्टर ऑफ़ डिविनिटी' में 'डिविनिटी' शब्द इसी बात का द्योतन करता है।

कृष्ण, ईश्वर के रूप में, संस्कृत भाषा में 'कृष्ण-देव' शब्द द्वारा प्रतिरूपित होते हैं। क्राइस्ट (कृस्त) कृष्ण का अपभ्रंश रूप होने का यह एक अन्य प्रमाण है। यही कारण है कि वह और उनके बारे में ज्ञान को 'डिविनिटी' (देव-नीति) कहा जाता है।

ईस्टर : जीसस के पुनर्जीवित होने के उपलक्ष में कल्पित यह एक झूठी मान्यता, कथा है। ईस्टर 'ओसतारा' नामक एक हिन्दू देवी का आधुनिक परिवर्तित रूप ही है। मार्च में हिन्दू नववर्ष के पूर्ण चन्द्र-दिवस (पूर्णिमा) के बाद आनेवाले प्रथम रविवार को उक्त देवी का यह उत्सव समारोहपूर्वक मनाया जाता था। हिन्दू पद्धति के अनुसार उक्त देवी के

सम्मुख खाद्यान्न 'भोग' के रूप में प्रस्तुत किया जाता था जिसे वे 'ग्रहण' करती थीं और अपना आशीर्वाद, कृपा प्रदान कर देती थीं—फिर वही भोग देवी के 'प्रसाद' स्वरूप मित्रों व सम्बन्धियों में वितरित कर दिया जाता था। यही वह प्रथा है जो ईस्टर के अवसर पर चित्रित, रंग-बिरंगे अण्डों के वितरण के रूप में अभी भी चली आ रही है।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में ईस्टर का स्पष्टीकरण इस प्रकार अंकित है : "यह क्राइस्ट के पुनर्जीवित हो जाने पर मनाया जानेवाला उत्सव है—पास्का (पास ओवर) के सदृश और २१ मार्च या उसके बाद पहली पूर्णिमा (पूर्ण चन्द्र-दर्शन) के बाद पहले रविवार को आयोजित किया जाता है।"

सूर्य और चन्द्र तथा २१ मार्च व रविवार के साथ इस प्रकार जुड़े रहना और ओसतारा की पद्धति पर ईस्टर नाम इस बात के अन्य संकेतक हैं कि कृस्ती-पंथ ने किस प्रकार सभी प्राचीन हिन्दू त्योहारों को ग्रहण किया है और उन पर कृस्ती लबादा उढ़ा दिया है।

चूँकि जीसस पैदा हुआ ही नहीं था, इसलिए उसे सूली पर नहीं चढ़ाया जा सकता था और चूँकि वह सूली पर चढ़ाया ही नहीं गया था, इसलिए उसके पुनरुज्जीवित हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। इसलिए इस विषय में सारी गरमागरम बहस अनुचित, अ-प्रासंगिक है कि क्या जीसस क्रूस पर ही मरा था, या उसे गलती से मृत समझकर छोड़ दिया गया था और बाद में उसे उसके मित्रों ने जीवित कर लिया था? तथ्यतः तो ऑक्सफोर्ड शब्दकोश स्वयं भी स्वीकार कर रहा है कि ईस्टर का सम्बन्ध कृस्ती-पूर्व यहूदी उत्सव से है—यह उसी के सदृश है। इसी पुस्तक में अन्यत्र स्पष्ट किया ही गया है कि यहूदियों का स्वयं का सम्बन्ध भी भगवान् कृष्ण के वंश, कुल से है। इसलिए उनका अपना पास्का (पास ओवर) उत्सव भी एक हिन्दू उत्सव, त्योहार ही है।

अध्याय ८

जीसस का जन्म और जीवनचरित

जीसस के परिवार की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए श्री विल डूरण्ट ने कहा है कि जीसस के भाई जेम्स, जोसेफ, साइमन और जुदास थे। उसकी कई बहनें भी थीं।

एक कुमारी, अविवाहिता मेरी से जीसस का जन्म बड़े-बड़े अनुमानों, विचित्र कल्पनाओं और अनेक प्रकार की चर्चाओं का विषय रहा है।

विल डूरण्ट ने "मेरी और एक रोमन सैनिक के बारे में सेलसस और अन्य लोगों द्वारा बाद में प्रचलित कथाओं को बेढंगी, भद्दी, मनगढ़न्त"[१] कहकर नकार दिया है।

पॉल और जोह्न ने अक्षत-जन्म का उल्लेख नहीं किया है। मैथ्यू और लूके, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है, "परस्पर विरोधी वंशक्रम द्वारा जोसेफ के माध्यम से जीसस का सम्बन्ध डेविड से लगा पाया है, स्पष्टतः अक्षत योनि-जन्म में विश्वास डेविड-वंशावली में विश्वास के बाद पैदा हुआ।"

सुसमाचार लेखक-गण जीसस के शिशुकाल के बारे में बहुत ही कम कहते हैं। जीसस जब आठ दिन का था, तभी यहूदी-परम्परा के अनुसार उसका परिशुद्धिकरण कर दिया गया था। उसके पिता जोसेफ के बारे में कहा जाता है कि वह एक बढ़ई रहा था।

चूँकि क्रस्ती-पूर्व दिनों में यूरोपीय लोग हिन्दू थे, इसलिए ज्योतिष का लोगों के मानस पर बहुत प्रभाव था। किसी मागी द्वारा एक मुक्तिदाता, उद्धारक के जन्म लेने की पूर्व-घोषणा के तीन महत्त्व हिन्दू-दृष्टि से लक्षित

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५६।

हैं। 'मागी' शब्द संस्कृत शब्द 'महा-यागी' है जिसका अर्थ महान् यज्ञकर्ता, याजक है। अग्निपूजा के रूप में यज्ञ करना प्राचीन विश्व के सभी भागों में हिन्दू कर्मकाण्ड का एक भाग था। इसलिए, यज्ञों के समय पुरोहितों को 'महा-यागी' अर्थात् 'महान् याजक' कहा, पुकारा जाता था। संस्कृत भाषा में 'महा' का अर्थ महान्, बड़ा और 'याज्ञी' अर्थात् यज्ञकर्ता, याजक, बलिदान करनेवाला होता है।

मागी लोग पुरोहित होने के कारण ज्योतिष-विद्या में भी निपुण, दक्ष होते थे। वे कर्मकाण्डों के लिए शुभ दिन बताते थे, जन्म-कुण्डलियाँ बनाते थे और भविष्यफल बताते थे।

किसी मागी द्वारा जीसस के जन्म की पूर्व-घोषणा कर देने की कथा प्रारम्भिक कृस्ती नेताओं द्वारा भगवान् कृष्ण के जन्म के बारे में कृस्ती-पूर्व संसार में उस समय प्रचलित हिन्दुओं की कथा पर ही निर्मित कर ली गई है। हिन्दू-जनश्रुति में, राजा कंस के विहित संहारक के रूप में भगवान् कृष्ण के जन्म की भविष्यवाणी आकाश से एक ध्वनि के रूप में पहले ही कर दी गई थी। उसी कथा का जीसस की कहानी में दुबारा अनुलिपिकरण हो जाना एक बार फिर यही सिद्ध करता है कि जीसस के जन्म की कहानी एक खिचड़ी-कथा है, और यह भी स्पष्ट कर देता है कि कृस्ती-पूर्व युगों में प्राचीन विश्व में हिन्दू-धर्म ही प्रचलित धर्म था।

प्रोफेसर यामौशी निश्चितता के रूप में दावा करते हैं कि जीसस ईसा-पूर्व ४ सन् में पैदा हुआ था क्योंकि मैथ्यू की कथा है कि मागी ने हीरोड से जीसस के बारे में पूछा था कि ईसा-पूर्व ४ सन् में मर गया था।[1] किन्तु प्रश्न अभी भी शेष रहता है कि क्राइस्ट से कितने वर्ष पूर्व? साथ ही यह प्रश्न भी है कि चूँकि ईसा-पूर्व (सन्) क्राइस्ट के जन्म से पूर्व की कालावधि का द्योतक है, इसलिए यह कैसे सम्भव है कि क्राइस्ट से पूर्व चार वर्षों से पहले ही क्राइस्ट का जन्म हो जाए?

जीसस के सम्बन्ध में जिन लोगों को अक्षत योनि-जन्म होना स्वीकारने

१. प्रोफेसर ई० एम० यामागुची : 'दि स्टॉन्स एण्ड दि स्क्रिप्चर्स', पृष्ठ ६७, (लंदन, १९७३)।

में कठिनाई होती है किन्तु जो फिर भी जीसस को एक ऐतिहासिक व्यक्ति होने का विश्वास करते हैं, वे कहते हैं कि ईसाई; कृस्ती-धर्मग्रन्थों में कुमारी के बच्चा पैदा होने का कभी कोई दावा नहीं किया गया है। वे मानते हैं कि जीसस का जन्म तो सामान्य मानव के जन्म-सदृश ही था और 'पवित्र आत्मा', 'पुण्यात्मा' ने तो उसके माता-पिता को सहवास का आशीर्वाद ही दिया था।

धर्ममण्डकों, समर्थकों का उपर्युक्त निष्कर्ष (मैथ्यू १ : १८) बाइबल में दिए गए अवतरण को दृष्टि में रखते हुए अयुक्तियुक्त, अतर्कसंगत, अस्वीकार्य है जिसमें कहा गया है : "जब उस (जीसस) की माँ मेरी की सगाई जोसेफ से हो चुकी थी, उनके साथ-साथ आने से पहले ही, वह 'पवित्र आत्मा' के शिशु के साथ ही पाई गई थी। जोसेफ अपनी पत्नी को ले गया और तब तक उसको न जान पाया जब तक कि उसके एक पुत्र पैदा नहीं हो गया (१ : २४-५)···और मेरी ने देवदूत से कहा : "यह कैसे हो सकेगा क्योंकि मेरा तो कोई पति नहीं है?" और देवदूत ने उसको समझा दिया : "तुम्हारे ऊपर 'पुण्यात्मा' का वास (आशीर्वाद) रहेगा।" (लूके १ : ३४-५)

यह स्वीकारते हुए कि मैथ्यू ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि जोसेफ जीसस का पिता नहीं था और उसने जीसस का जन्म हो जाने के बाद से पूर्व मेरी से कोई, किसी भी प्रकार का रति-कर्म, सम्भोग नहीं किया था, प्रोफेसर रॉबिन्सन ने यह भी कहा है कि "फिर भी मेरी और किसी अज्ञात पुरुष के मध्य सम्भोग से, जिसे जोसेफ ने बाद में क्षमा कर दिया (माफ कर), भुला दिया था, इन्कार नहीं किया जा सकता।"[1]

प्रोफेसर वैल्स के अनुसार (केवल मैथ्यू और लूके में दिए गए) जीसस के जन्म और उसके शैशव के वर्णन जीसस के लोकचरित के मार्क के लिखित तथ्यों की पुष्टि करने के लिए भूमिका/प्राक्कथन के रूप में लिखे जाने स्पष्ट हैं क्योंकि मैथ्यू जीसस के शैशवकाल और उसके बपतिस्मा के मध्य जीवन-काल का कोई वर्णन नहीं कर सकता और लूके उक्त अभाव की पूर्ति करने के लिए मात्र एक ही घटना (मन्दिर में १२ वर्षीय जीसस की कहानी) ही

---

१. 'दि ह्यूमन फ़ेस ऑफ़ गॉड', पृष्ठ ८०, लंदन, १९७३।

जानता है। विधर्मियों, अपधर्मियों से अति शीघ्रतापूर्वक निपटने के लिए ऐसे प्राक्कथनों की अत्यन्त आवश्यकता होती थी। एक पूर्ण वयस्क के रूप में उसके बपतिस्मा किए जाने से पूर्व के जीसस के जीवन के बारे में मार्क की चुप्पी ने उनमें से कई लोगों को यह कल्पना करने का अवसर जरूर प्रदान कर दिया कि वह स्वर्ग से सीधा मानव-रूप में अवतरित हो गया था किन्तु उसने सामान्य मानव-शरीर धारण नहीं किया था। जन्म के दोनों वर्णन-उपाख्यानों का भी जीसस को ईश्वर के पुत्र के रूप में प्रदर्शित करने का बिल्कुल भिन्न उद्देश्य था और यही कारण है कि उन्होंने जीसस को बिना मानव-पिता के ही प्रदर्शित किया है (जबकि) उसकी मानव-माता का निरूपण मात्र इस प्रयोजन से किया गया है कि मान लिया जाए कि उस (जीसस) के एक साधारण मानव-शरीर भी था।

जोह्न एक ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होता है। जीसस के जीवनचरित को विश्वसनीय बनाने के लिए उसे (जीसस को) जिस-तिस प्रकार जोह्न से जोड़ दिया गया है। जोह्न द्वारा जीसस का तथाकथित बपतिस्मा सुसमाचार लेखकों द्वारा प्रयुक्त अनेक उन प्रकारों में से एक है जिनसे वे विश्व को जीसस के बारे में घोषित करना चाहते थे कि जीसस की पैगम्बरी भूमिका को देखकर उसे मसीहा अभिषिक्त करनेवाला व्यक्ति जोह्न जीसस से पूर्व काल का व्यक्ति था। प्रसंगवश कह दिया जाए तो, यह मसीहा शब्द भी संस्कृत का 'महेश' शब्द है जिसका अर्थ 'महान् ईश्वर' होता है।

अपना कोई ऐसा पंथ बना लिया जाए जिसमें वे स्वयं ही नेता बन जाएँ और स्वयं ही निर्णायक, पंच भी हों—ऐसी ही आतुरता में इन सुसमाचार लेखकों ने एक अस्तित्वहीन जीसस को मुक्तिदाता के रूप में प्रस्तुत कर दिया। ऐसा करने के लिए उनको एक कहानी भी गढ़नी पड़ी। यह कार्य उन्होंने एक कुमारी द्वारा जन्म देने के यश और सूली पर निन्दित मृत्यु के प्रसंग जोड़कर पूरा कर दिया। वे दोनों कल्पित घटनाएँ भी ऐतिहासिक जाँच-परख करने पर निराधार कल्पनाओं, शून्य में लुप्त हो जाती हैं। किन्तु इन दोनों के बीच भी तथ्यत: जोह्न द्वारा जीसस का बपतिस्मा किए जाने के अतिरिक्त जीसस के जीवनचरित का कोई भी विवरण वहाँ उपलब्ध नहीं है। व्यक्ति सारी बाइबल पढ़ ले, फिर भी उसे कोई ऐसा स्वीकार्य

कारण नहीं दिखता कि जीसस को सूली-दण्ड दिया जाना चाहिए। यह प्रदर्शित करने के लिए एक भी ऐसा विवरण नहीं है जो सिद्ध करे कि जीसस उस समय की स्थापित सत्ता के विरुद्ध किसी प्रकार की बगावत संगठित कर रहा था। उसकी कल्पित देव-विद्या में भी कोई क्रान्तिकारी तत्त्व नहीं थे जिसके कारण किसी का रोष न्यायोचित ठहराया जा सके। जीसस को इतना दुर्बल, निरीह, निरभिमानी और विनम्र प्रदर्शित, निरूपित किया गया है कि उसको सूली-दण्ड द्वारा क्रूरतापूर्वक मारना तो दूर, कोई व्यक्ति उसको किसी भी प्रकार हानि पहुँचाने की भी नहीं सोच सकता था।

क्राइस्ट के बारे में सोचा, माना जाता है कि उसने अपनी भयावह मृत्यु के समय, कातर वाणी में, असह्य पीड़ा भोगते हुए उच्च स्वर से विनती की थी : "हे प्रभु, क्या तुमने मुझे क्षमा कर दिया है?" अन्तिम वाक्य उसकी मसीही भूमिका को रद्द, निरस्त कर देता है। क्योंकि यदि वह जानता था कि मानवता की मुक्ति के लिए उसे अपनी भूमिका की अन्तिम कटु, शोक-दायी भूमिका निभानी पड़ेगी तब वह अन्तिम, संकटकालीन निर्णायक घड़ी में यह कौतूहल क्यों प्रकट करे कि भगवान् ने उसे क्षमा कर दिया था या नहीं?

इसी प्रकार उस विश्वास-अभिव्यक्ति में भी अनेक अविश्वसनीय तोड़-मोड़ हैं कि सूली पर दण्डित होकर जो अपना रक्त जीसस ने (अपनी अनिच्छावश ही) बहाया वह विचित्र जादू और तर्क द्वारा दिवंगत काल में मृत्यु को प्राप्त हुए कोटि-कोटि मानवों और विश्व के अन्त तक भविष्य में भी उसके पश्चात् मरने वाले करोड़ों मनुष्यों के प्रायश्चित्त के लिए पर्याप्त होगा यदि वे सभी लोग जीसस को अपना नेता, नायक स्वीकार कर लें।

उस 'व्यापक विश्वास' की चर्चा करते हुए कि "धर्मग्रन्थ में दिए गए जीसस के धर्मोपदेशों और चरित्र को आविष्कृत नहीं किया जा सकता था", प्रोफेसर वैल्स का पर्यवेक्षण है कि "तथ्य रूप में धर्मोपदेशों (शिक्षाओं) को आविष्कृत, ईजाद करने की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि यह व्यापक रूप से माना, स्वीकारा जाता है कि ये शिक्षाएँ पूरी तरह अ-मौलिक हैं। जहाँ तक उसके चरित्र का सम्बन्ध है, यह तो हिंसा, असहिष्णुता, दया, घमण्ड, धैर्य का मिश्रण है···तथ्य रूप में तो यह सम्बन्धों के अनुसार बदलता

जाता है। इसके लिए भी उतनी ही ईजाद कल्पना की जरूरत थी जितनी (काल्पनिक पुस्तक) 'अरेबियन नाइट्स' के लेखकों को इसकी आवश्यकता रही होगी।"[1]

क्रुस्ती-पूर्व काल में हिन्दू और बौद्ध (धर्म) शिक्षाएँ विश्व-भर के विभिन्न पंथों, मत-मतान्तरों में इतनी पुरानी जड़ें जमा चुकी थीं; यथा—गूढ़ ज्ञानवादियों, उदासीनों, श्रमणों, स्मार्तों, तत्त्वदर्शियों, शैवों, सूर्योपासकों, फरासियों—पाखंडियों, गैर-यहूदियों, गैर-ईसाइयों, माँ देवी के पूजकों और अज्ञेयवादियों में—कि कोई भी व्यक्ति अल्पावधि में ही कोई नई शिक्षा निरूपित कर सकता था और उस पर अपनी धर्म-ध्वजा फहरा सकता था। यही कार्य सुसमाचार लेखकों ने किया था।

चार धर्मग्रन्थ लेखकों द्वारा रचित विवरणों में से, यदि उनको विवरण कहा जा सके तो उन अंशों में थोड़ी-बहुत और अनिश्चित जानकारी, जो भी कुछ मिल सकती है वह यह कि "जीसस का जन्म हीरोड महान् के शासनकाल की समाप्ति के आसपास नज़रथ या बेथलेहम में हुआ था। उसने सम्भवत: अपना बाल्यकाल नजरथ के नाम से पुकारे जानेवाले गलीली के एक उपनगर में बिताया था। उसके बाल्यकाल के बारे में केवल बारह (१२) शब्द कहे गए हैं और इनमें बताया गया है कि वह बड़ा हुआ, आत्मिक रूप से दृढ़-पुष्ट हो गया, बुद्धिमत्ता से भर गया। १२ वर्ष की आयु के आसपास वह जरुस्लम गया और मन्दिर में भी चिकित्सकों को मिलने चला गया। उसके बाद एक शून्य, अभाव है। जीसस के लगभग ३२ वर्ष की उम्र का हो जाने तक अन्य कोई जानकारी नहीं मिलती। फिर हमें ज्ञात होता है कि जोहन नाम बपतिस्मी द्वारा जीसस का बपतिस्मा किया गया था··· और फिर जीसस ध्यान करने के लिए ४० दिन के वास्ते एकान्तवासी हो गया।"[2]

"जिस क्षण आप प्रमाण माँगते हो, जीसस की वास्तविक चतुर्दिक परिस्थितियों के विरुद्ध (जीसस) उसके जीवन का पक्का इतिहास चाहते

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ १५१-१५२।

२. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ १०।

हो, आप तुरन्त कठिनाई में पड़ जाते हो। जीसस के बारे में ज्ञात तथ्यों से तो मुश्किल से एक पृष्ठ से कम ही लिखा जा सकेगा। बहुत सारे विद्वानों का विश्वास है कि तथ्यों से मुश्किल से एक वाक्य ही बन पाएगा। अन्य विद्वानों—रीमारस और बाउर जो जर्मनी के थे और नीदरलैंड के पीयरसन व नाबर का मत था कि जीसस के बारे में किसी तथ्य के लिए तो एक शब्द भी नहीं लिखा जा सकता क्योंकि उनका आग्रहपूर्वक कहना था कि "जीसस तो मिथक, मिथ्या, कल्पनामात्र है—कोई वास्तविकता तनिक भी नहीं। फिर भी, पिछले एक सौ वर्षों में कम-से-कम सत्तर हजार तथाकथित जीवन-चरित जीसस के बारे में लिखे और प्रकाशित किए गए हैं।"[1]

ये सब जीवनियाँ आमतौर पर मैथ्यू, मार्क, लूके और जोह्न द्वारा लिखित काल्पनिक वर्णनों पर ही निर्मित, रचित थीं।

"मृत सागर नामावली के विशेषज्ञ मिल्लर बोरोस ने कहा है कि यदि जीसस बहुत व्यापक अनुयायियोंवाला क्रान्तिकारी रहा था, रोमन सत्ताधिकारियों-सैनिकों से लड़ा था और उसने अपना ही साम्राज्य स्थापित करना चाहा था, तो उसकी क्रान्ति और उसकी विफलता पर प्रकाशन डालनेवाले सिक्के और पत्थर के शिलालेख तो निश्चित ही रहे होते।"[2] किन्तु जीसस के बारे में ऐसा कोई भी पुरातत्त्वीय या ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है।

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ८६।

२. वही, पृष्ठ ६३।

अध्याय ६

जीसस की कब्र (?)

'जीसस को कहाँ दफनाया, गाड़ा गया था ?'—यह वह प्रश्न है जिस पर मौखिक रूप से और पुस्तकों व लेखों के माध्यम से प्रायः चर्चा की जाती है। प्रसंगवश, यही प्रश्न आधुनिक शोध की प्रणालियों में विद्यमान एक बड़े दोष का जीता-जागता उदाहरण, दृष्टान्त भी प्रदर्शित करता है। यह तो ऐसा ही है जैसे किसी व्यक्ति से प्रश्न किया जाए, "क्या तुमने शराब पीना बन्द कर दिया है ?" हो सकता है, उस व्यक्ति ने कभी शराब को छुआ तक न हो। यदि ऐसा व्यक्ति उत्तर 'हाँ' में दे दे, तो निहित भाव यह माना जाएगा कि अमुक व्यक्ति अपने जीवन में किसी समय शराब का व्यसनी था। यदि वह 'ना' में उत्तर दे दे, तो यह प्रथम उत्तर से भी बुरा होगा, क्योंकि इसका निहितार्थ यह होगा कि वह व्यक्ति इतना पियक्कड़ है कि उसे सुधारा ही नहीं जा सकता।

इसलिए, ऐसे प्रश्न तार्किक दृष्टि से भ्रामक, दोषपूर्ण हैं। 'जीसस कहाँ दफनाया गया था' प्रश्न भी इसी प्रकार का है क्योंकि हमारी उपलब्धि यह है कि जीसस का जन्म कभी हुआ ही नहीं था। चूँकि वह जन्मा ही नहीं था, इसलिए वह जीवनयापन कर ही न पाया। चूँकि वह कभी जीवित था ही नहीं, इसलिए वह मरा भी कभी नहीं। और चूँकि वह कभी मरा ही नहीं, इसलिए उसे कहीं धरती में गाड़ने, दफनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः 'जीसस को कहाँ दफनाया गया था' प्रश्न का सही उत्तर यही है कि उसे कहीं भी दफनाया नहीं गया था क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि जीसस नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं जिसे दफनाने की जरूरत होती।

जीसस के जन्म के बारे में भी, यद्यपि विश्वास किया जाता है कि पूर्व

से आनेवाले बुद्धिमान लोगों को जीसस के जन्मस्थान तक का मार्ग बताने में एक नक्षत्र, तारक ने मार्गदर्शन किया था, तथापि विद्वान् लोग इस बारे में एकमत नहीं हैं कि जीसस का जन्म बेथलेहम में हुआ था या नज़रथ में ?

इस समस्या का एक अति सरल, शान्त करनेवाला किन्तु असंदिग्ध हल, समाधान, उत्तर है। यदि व्यक्ति स्मरण रखे कि कृष्ण का उच्चारण 'क्रूस्त' किया जाता था, तो वह आसानी से समझ सकता है कि कृष्ण का जन्म प्रत्येक मन्दिर और प्रत्येक घर में समारोहपूर्वक मनाया जाता था जब हिन्दू-धर्म का सर्वत्र प्राचीन विश्व पर प्रभुत्व छाया हुआ था। हम पहले ही कह चुके हैं कि स्थानों के नाम जैसे जरुस्लम अर्थात् यदुस्लयम, बेथलेहम अर्थात् वत्सलधाम, नज़रथ अर्थात् नन्दरथ, गलिली अर्थात् गावालय और गोलगोथा आदि स्थल-वाचक नाम हैं जो कृष्ण-कथा से जुड़े हुए हैं। अन्य स्थानों के समान ही वहाँ भी भगवान् कृष्ण का जन्म नियत दिन पर ठीक अर्धरात्रि होते ही घंटियों की मधुर ध्वनियों के मध्य उद्‌घोषित किया, मनाया जाता था। इसलिए नज़रथ और बेथलेहम (तथा अन्य कई स्थान) उस प्रभु के जन्म से सम्बन्धित हो गए।

पूर्व से आनेवाले बुद्धिमान लोग भारत के हिन्दू पुरोहित थे। बेथलेहम या नज़रथ के दर्शनार्थी ऐसे व्यक्ति सहज ही कृष्ण-जन्म-समारोहों में उपस्थित, सम्मिलित होना चाहते थे। चूँकि कृष्ण का जन्मदिन कृष्ण-पक्ष (अँधियारे पक्ष) की ८वीं तारीख को पड़ता है, इसलिए रात्रि बारह बजे (अर्ध-रात्रि के समय) तो बाहर घना, घोर अन्धकार होता है। १६०० वर्षों पूर्व दिनों में जब बिजली-व्यवस्था नहीं थी और सँकरी, घुमावदार गलियों-वाले उपनगर प्राचीरों से सुरक्षित रखे जाते थे, तब मकान लगातार, अटूट पंक्तिबद्ध रूप में हुआ करते थे।

ऐसी स्थिति में जब बेथलेहम या नज़रथ के निवासियों को छतों पर खड़ा देखकर, भारत से आए 'बुद्धिमानों' द्वारा कृष्ण मन्दिर का मार्ग पूछा जाता था तो वहाँ के वे निवासी, हाथ में दीप या मशालें या प्रकाश-पुंज लेकर उस पुण्य-स्थल तक उन लोगों का मार्गदर्शन करते थे। सहज रूप में ही नीचे चलनेवालो को मकानों के ऊपरवाला प्रकाश एक मार्गदर्शक-दीपक, तारक जैसा लगता था जो वहाँ जाकर रुक गया लगता था जहाँ ईशस कृष्ण

(जीसस क्रस्त उच्चरित रूप) का जन्मोत्सव मनाया जाना होता था। यदि इस भावना से समझा जाए तो वह बाइबल-उद्धरण काफी काव्यात्मक और फिर भी यथार्थ, सही मालूम पड़ता है जिसमें कहा गया है कि पूर्व के 'बुद्धिमान' (सन्त) पुरुषों का मार्गदर्शन एक तारक करता था जो 'जन्म-स्थान' पर आकर एकदम से रुक गया प्रतीत होता था।

पूर्व से आए व्यक्तियों को 'बुद्धिमान' अर्थात् ज्ञानी कहा जाता था क्योंकि प्राचीन युग में जब विश्व की प्रशासनिक और शैक्षिक प्रणालियों का नियमन मात्र हिन्दुओं द्वारा ही किया जाता था, तब उनको 'पण्डित' अर्थात् 'बुद्धिमान' या ज्ञानी कहकर सम्बोधित किया जाता था।

बाइबल में और कृस्ती व यहूदी-परम्परा में पूर्व दिशा को सदैव विशेष आदर, श्रद्धा से देखा जाता है। उदाहरण के लिए जरुस्लम में मुख्य यहूदी कृष्ण देवालय पूर्वी पर्वत पर बनाया गया था। पूर्व के लिए ऐसी वरीयता, श्रद्धा का कारण यह था कि प्राचीन विश्व में हिन्दू-धर्म ही सर्वत्र प्रभुत्वधारी था। पूर्व का प्रमुख दिशा में सन्दर्भ भी इस तथ्य का द्योतक है कि भारत बहुत प्रभावशाली, प्रधान देश था क्योंकि उन प्राचीन युगों में मात्र भारत ही एक विश्व-प्रसिद्ध देश था।

पूर्व से आए कुछ बुद्धिमान लोगों को कृष्ण (अर्थात् कृस्त) के जन्म-स्थान तक पहुँचाने में एक तारक द्वारा मार्गदर्शन किए जाने के महत्त्व को पिछले १९०० वर्षों में भी कोटि-कोटि कृस्ती और उनके विद्वान् तर्कपूर्ण ढंग से स्पष्ट नहीं कर सके। इसी तथ्य से बाइबल और कृस्ती विद्वत्-वर्ग की दुर्बलता पूर्णरूपेण सम्मुख आ जाती है। बाइबल का शिक्षण बाइबल के विद्वानों की दृष्टि को इतिहास के मात्र पाँच हजार वर्षों तक ही सीमित कर देता है क्योंकि वे विश्वास करते हैं कि ईश्वर ने विश्व के प्रथम युगल 'आदम और हव्वा' की रचना ईसा से लगभग ४००० वर्ष पूर्व ही की थी। इसी प्रकार उनको यह विश्वास भी दिला दिया गया है कि लैटिन भाषा यूनानी भाषा से व्युत्पन्न होने के कारण विश्व की सबसे पहली, प्राचीनतम सुसंगत भाषा थी। इस प्रकार बाइबल-शिक्षण उनका ऐतिहासिक क्षितिज ५,००० वर्षों तक ही सीमित कर देता है और उनकी युक्तियुक्तता, सूझ-बूझ का पैनापन समाप्त कर देता है। काल, समय की असमाप्य धारा में

जहाँ युग, कल्प और महाकल्प एक अनन्त चक्र में चलते हैं, वहाँ पश्चिमी विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक रूप से स्वयं को सिकन्दर अथवा जीसस जैसी अत्यन्त लघु खूंटी से यहाँ या वहाँ बांध लिया है और अनन्त काल की परिधि में से मात्र ५,००० वर्षीय भँवर में इधर-उधर हिचकोले खाते रहते हैं।

चूंकि कृस्त (क्राइस्ट) कभी जन्मा ही नहीं था, इसलिए उसके जन्म-स्थल पर विवाद है। तदनुसार ही, जीसस के दफनाने का स्थान भी विवाद का विषय है। तथ्य रूप में तो यह भी माना जाता है कि वह स्वर्ग में सदेह, सशरीर प्रविष्ट हो गया था और इसीलिए पृथ्वी पर उसकी कोई कब्र हो ही नहीं सकती थी। फिर भी, भोले-भाले प्रवंच्य लोग जो विद्वानों के शोध-निष्कर्षों की उपेक्षा करते ही रहते हैं, प्रायः घोषित करते रहते हैं कि उन्हें कभी इस स्थान पर, कभी दूसरे स्थान और कभी तीसरे ही स्थान पर जीसस की असली कब्र मिल गई है। इस प्रकार, इन्हीं विद्वानों में से कुछ लोग वाद-विवाद प्रतियोगिताओं, समाचार-माध्यम, साक्षात्कारों, लेखों और पुस्तकों के माध्यम से जोर-शोर से प्रचार करते रहते हैं कि पश्चिम एशिया में गोलगोथा से लेकर भारत में कश्मीर तक कहीं भी कृस्त (क्राइस्ट) दफन किया हुआ पड़ा है। कोई भी व्यक्ति इस तथ्य को समझने का यत्न ही नहीं करता प्रतीत होता है कि यदि जीसस सचमुच ही कोई विशिष्ट व्यक्ति होता तथा एक वास्तविक ऐतिहासिक यथार्थता होता तो उसका शव-स्थान, लाश दफनाए जाने की जगह, कब्र अज्ञात और अ-चिह्नित न रह पाती। यह तो पीढ़ियों से आनेवाली सन्तानों, पीढ़ियों के लिए तीर्थस्थल बन गया होता।

शोधकर्ताओं के लिए इसमें एक व्यावहारिक पाठ, शिक्षा निहित है। किसी विषय की अन्तर्मध्यस्थ अथवा अन्तिम स्थिति में पहुँचकर अपना श्रम व्यर्थ करने और पश्चात्ताप करने से पूर्व ही विद्वानों को सर्वप्रथम यह सुनिश्चित करना चाहिए कि क्या उनके शोध के विषय की जड़ें इतनी मजबूत हैं कि उनके आधार पर कार्य प्रारम्भ किया जा सके? जब विद्वान् लोग ऐसी सावधानी नहीं बरतते और किसी विषय के अग्रिम, प्रगत अवस्था पर विचार करते हैं, तब वे दुःखी होते हैं और अपना सारा श्रम, प्रयास विफल रहा अनुभव करते हैं जब कोई उनकी सभी धारणाओं, पूर्व-कल्पनाओं

को गलत सिद्ध कर देता है। इनके दृष्टान्त उन दो भयंकर भूलों से प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें यह स्पष्ट दर्शाया जा सकता है कि विश्व-भर के विद्वान् छोटे-मोटे विद्यालयी बच्चों से भी ज्यादा धोखा खा जानेवाले—प्रवंच्य—और भ्रमशील, अविश्वसनीय सिद्ध हुए हैं। पहला श्रेष्ठ उदाहरण भारत में अतिभव्य, शानदार भवन ताजमहल का है जो आज विश्व-पर्यटन का विशाल, महान् आकर्षण है। किंवदन्ती के अनुसार ही इसका निर्माण शाहजहाँ द्वारा कराया जाना सत्य मानकर इतिहास-लेखकों, पुरातत्त्वज्ञों, आचार्यत्व-इच्छुक विद्यार्थियों और शिल्प-शास्त्रियों ने समय-समय पर, बारम्बार, शाहजहाँ को महान् सौन्दर्य-प्रतिभा के अद्वितीय धनी के रूप में चित्रित किया है। तदनुरूप ही कवियों, रचनाकारों-निबन्ध लेखकों, उपन्यासकारों, नाटककारों, प्रचारक व्यक्तियों और लाइसेंसधारी मार्गदर्शकों ने मुमताज के प्रति शाहजहाँ के कल्पित सम्मोहन, अगाध प्रेम का हर्षोन्मत्त रूप से वर्णन प्रस्तुत किया है। मेरी इस खोज ने कि ताजमहल तो शाहजहाँ के ५०० वर्ष पूर्व भी विद्यमान था,[1] इतना कड़ा प्रहार किया है कि ताजमहल के सम्बन्ध में अभी तक लिखी गई पुस्तकों को तो कूड़ा-कर्कट मानकर विश्व-पुस्तकालयों और अकादमियों से बाहर फेंक दिया जाना चाहिए।

दूसरा उदाहरण स्वयं इसी पुस्तक में प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ में हमने स्पष्ट किया है कि जीसस तो एक काल्पनिक व्यक्तित्व है जिसकी सृष्टि सॉल उपनाम पॉल और उससे सहानुभूति रखनेवालों के पृथक् हुए गुट के संघर्ष के प्रतीक के रूप में की गई है। चूंकि जीसस का अस्तित्व कभी था ही नहीं और वह कभी जन्मा ही नहीं था, इसलिए उसकी कब्र और उसके कफन को ढूंढ़ना निष्प्रयोजन है। किन्तु विश्व की अकादमियों और गिरजाघरों में यह खेल मजे से निरन्तर चल रहा है। बिना किसी प्रकार की प्रतीक्षा और सोच-विचार कि उसकी शोध-प्रणाली सही या गलत है, एक के बाद एक विद्वान् पुरजोर बहस करता चला आ रहा है जीसस के अन्तिम दिनों के बारे में, चाहे जीसस के 'प्रथम दिन' थे ही नहीं। इस प्रसंग से उस

१. पूर्ण विवरण मेरी पुस्तक 'ताजमहल मन्दिर भवन है' में पढ़ें।

पागल सांड की कहानी याद आ जाती है जो किसी लाल चिथड़े को अपना ठीक निशाना मानकर उस पर धावा, प्रहार कर देता है और पराजित हो जाता है।

आन्द्रेअस फेबर कैसर नामक जर्मन लेखक, जिसने अभी कुछ समय पूर्व ही 'जीसस कश्मीर में मरा' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की है, जाल में फँसनेवाला आधुनिकतम व्यक्ति है। अपनी पुस्तक में उसने स्वयं ही आश्चर्य व्यक्त किया है कि जीसस के जन्म के बाद उसकी आयु बारह वर्ष की हो जाने पर ही उसकी जानकारी क्यों होती है। जीसस फिर दुबारा 'ओझल' हो जाता है, लोगों की दृष्टि में आता ही नहीं और उनतीस वर्ष की उम्र होने पर उसका बपतिस्मा हो जाता है। बारह वर्ष की आयु से लेकर उनतीस वर्ष की युवा वय होने तक जीसस क्या करता रहा, किसी भी प्रकार की जानकारी किसी को उपलब्ध नहीं है।

यदि जोह्न ने जीसस का बपतिस्मा किया था और उसको एक भावी मसीहा के रूप में घोषित किया था, तो इसका कारण क्या है कि जोह्न उसके बपतिस्मा कर देने का या एक भावी मसीहा के रूप में उसके बपतिस्मा करनेवाले के रूप में अपने महान् सम्माननीय होने के तथ्य का कोई अभिलेख कहीं भी नहीं छोड़ गया है।

सम्भव है कि इस अभाव/त्रुटि को दृष्टि में रखकर कोई जालसाज पटेरा-अभिलेख कर दे जिसे जोह्न द्वारा रचित घोषित कर दिया जाए—पुराने आकार में ही बनाए—और किसी धर्मतत्त्वज्ञ को उसे किसी स्थान से खोदकर निकालने को दे दिया जाए ताकि इसकी खोज को अति महान् कहकर ढिंढोरा पीटा जा सके।

जीसस के लघु जीवन में मुँह बाए विशाल अभावों को देखकर ज्यादा प्रज्ञावान, समझदार होने के स्थान पर फेबर कैसर ने सहज ही यह मान लिया कि एक अनजानी कब्र, जो कश्मीर में रौज़ा बल में एक गुप्त तहखाने में है, वह जीसस के दफन किए जाने की कब्र ही है।

निष्कर्ष अत्यन्त बेतुका, अनोखा है। सर्वप्रथम तो यह ज्ञात होना चाहिए कि मेरी शोध के अनुसार भारत में तथा बाहर के कई अन्य देशों में तथाकथित प्रत्येक मकबरा (कब्र) और मस्जिद विजित, हथियाए गए

मन्दिर हैं। रौज़ा बल कोई अपवाद नहीं है। दूसरी बात यह है कि इसलामी भाषा में भी रौज़ा बल का अर्थ एक बाल (केश) की कब्र होता है, जैसे कश्मीर में हज़रत बल नामक एक अन्य स्थान है जहाँ हज़रत मुहम्मद (पैगम्बर) का बाल सुरक्षित रखा हुआ माना जाता है। यहाँ फिर वही समस्या सम्मुख आ जाती है कि पैगम्बर मुहम्मद का एक बाल (या अधिक) भारत कैसे आ पहुँचा? उसको/उनको लाया कौन? इस बात का निश्चय कौन (कैसे?) और कैसे किया जाए कि मसखरे, पाखण्डी, धूर्त व्यक्ति ने अपना ही एक बाल सभी मुस्लिमों द्वारा श्रद्धापूर्वक सम्मानित किए जाने के लिए वहाँ न रख दिया हो? किन परिस्थितियों में मुहम्मद के शरीर से उन बालों को तोड़ लिया गया था—मृत्यु से पूर्व या बाद में, और क्या उनको तत्कालीन हज्जाम, नाई से दाढ़ी बनवाने के बाद ले लिया गया था? कौन-सा परीक्षण यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि ये बाल १३०० वर्ष पुराने ही हैं और खुद मुहम्मद के शरीर के ही हैं? और यदि रौज़ा बल का मतलब किसी बाल की कब्र ही है, तो क्या यह माना जा सकता है कि मुहम्मद के कल्पित बाल रौज़ा बल में दफनाए, गड़े हुए हैं—न कि हज़रत बल में सम्मान से रखे हैं। या फिर यह स्वीकार कर लिया जाए कि कोई संदेशवाहक पैगम्बर मुहम्मद के बालों का काफी बड़ा गुच्छा कई स्थानों पर प्रदर्शित, संरक्षित करने के लिए भारत में ले आया था? फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या इसलामी फौजें या संदेशहर मुहम्मद के बालों को उन सभी देशों के हर शहर, नगर, प्रान्त आदि में ले गए जिनको उन्होंने अपने पैरों तले रौंदा था? अथवा क्या यह सोचा जाता है कि भारत और सिर्फ कश्मीर को ही (सम्भवतः इसकी भौगोलिक सुन्दरता और ठंडी, शीतल जलवायु के कारण) मुहम्मद के बाल सँजोकर रखने के योग्य समझा गया था?

शोधकर्ता अपने मनचाहे निष्कर्ष निकालकर तब तक अनुत्तरदायी नहीं बन सकते जब तक कि वे उपर्युक्त जैसे प्रश्नों के समाधानकारी उत्तर न दे दें।

शब्द 'बल' (जिसे पश्चिम एशिया में 'बाल' भी कहा जाता है, वर्तनी की जाती है) के बारे में हमें विशेष रूप से स्पष्ट करना है कि बाल-आदित्य

और बाल-कृष्ण हिन्दू देवगण थे जो सम्पूर्ण प्राचीन विश्व में आराध्य, पूजित थे। बाल-आदित्य का अर्थ उदयमान, तेजस्वी, युवा सूर्य है और बाल-कृष्ण है बालक कृष्ण इसलिए विश्व-भर में जहाँ भी कहीं बल (या बाल) नाम से देवालय, उपासनालय पाए जाते हैं वे सभी हिन्दू देवता के द्योतक हैं, न कि किसी व्यक्ति के शरीर के बाल (बालों) के। एक बाल (केश) तो नश्वर वस्तु है। इतना ही नहीं, त्याग दिए गए—त्यक्त बाल तो नफरत की चीज बन जाते हैं, न कि श्रद्धा, आराधना के पात्र—इससे फर्क नहीं पड़ता कि वे किसके हैं।

परिणामतः, कश्मीर में हज़रत बाल और रौज़ा बाल जैसे स्थान हिन्दू मन्दिरों के स्थल ही हैं। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि उक्त तथाकथित मकबरे पर पत्थर-फलक में अरबी-अक्षरों में समाधि-लेख में 'बोधिसतिवा' लिखा हुआ है।

कश्मीरी मुस्लिम लोग इसे हज़रत यूज़ असफ़ का मकबरा कहते रहे हैं—यह व्यक्ति चाहे जो भी रहा हो, किन्तु स्पष्टतः यह एक पाखण्ड, झूठ है क्योंकि किसी मुस्लिम मकबरे में किसी मृत व्यक्ति के पैर मक्का की ओर नहीं किए जाते जैसे कि इस तथाकथित मकबरे में वे स्पष्टतः, प्रत्यक्षरूपेण उस ओर ही हैं। मात्र हिन्दू लोगों में ही यह प्रथा है कि दिव्य चरण-चिह्नों का पूजन, आराधन होता है। इसलाम तो ऐसी मूर्तिपूजा का वर्जन करता है। ऐसे प्रमाणों के होते हुए भी मुस्लिमों और कृस्तियों ने सारे विश्व को अपना सुखद क्रीड़ास्थल बना रखा है जहाँ वे सभी हिन्दू स्थानों को मुस्लिम या कृस्ती नाम दे सकते हैं।

विचारणीय एक अन्य तत्त्व यह है कि संदर्भित कब्र की देखभाल करनेवाला आधुनिक परिवार इसलाम-धर्मी है। यदि यह कब्र क्राइस्ट (कृस्त) की रही होती, तो इसकी देखभाल करनेवाले कृस्ती ही रहे होते। जीसस की कब्र की देखभाल करनेवाला कहलाने पर भी परिवार का तो मन-बहलाव ही होता है। इस कल्पना से भी उसका तो कोई नुकसान होना नहीं है। वे तो कृस्ती और मुस्लिम दोनों धर्मों/पंथों के सीधे-सादे भक्तों से पैसे, धन कमाते हैं। दूसरी मजे की बात यह है कि वे मुस्लिम लोगों को यह कहकर खुश कर सकते हैं कि यह एक इसलामी कब्र है और

कृस्तियों को यह बताकर मनचाहा धन ऐंठते हैं कि यह तो जीसस की कब्र ही है। जैसा भारतीय कहावत है : देखभाल करनेवाले के बाप का तो कुछ जाता नहीं चाहे इसे मुस्लिम मकबरा, दरगाह, कब्र कहा जाए या फिर जीसस की कब्र !

तथापि, तथ्य यह है कि रौज़ा बल एक पूर्वकालिक हिन्दू मन्दिर है और इसके विद्यमान संरक्षक उस हिन्दू मन्दिर के पुजारी के वंशज हैं जिसको आक्रमण करनेवाली मुस्लिम फौजों ने बलात् धर्म-परिवर्तित कर दिया था—जैसा उन लोगों ने विश्व-भर में सर्वत्र किया।

फेबर कैसर का यह निष्कर्ष कुछ अंश तक मान्य हो सकता है कि ईसा, ईरुसा, यौसा, युस, यूसा, यूसु, युज़ और युज़ा एक ही नाम के कृस्ती और मुस्लिम अन्त्य पद हैं किन्तु वह इस ज्ञान से पूर्णत: अनभिज्ञ मालूम पड़ता है कि मूल, आधारभूत संस्कृत शब्द ईश उपनाम ईशस ईश्वर, परमेश्वर का द्योतक है।

'राजतरंगिणी' के नाम से संस्कृत भाषा में उपलब्ध कल्हण के सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ में द्वितीय खण्ड में समधीमति नामक मंत्री के भाग्य का वर्णन है जो ईसा से ६१ वर्ष पूर्व से ईसवी सन् २४ के मध्य हुआ था। उसे राजा की आज्ञा से एक रात्रि को दाँव पर रखने के रूप में सूली-दण्ड दिया गया था। ईसान, जो मृतक मंत्री का गुरु था, अपने भक्त-शिष्य के मृत पिंड का क्रियाकर्म करने के लिए अगले दिन प्रात: इस स्थल पर आ पहुँचा किन्तु शव का काफी भाग जंगली जानवर खा चुके थे।

गुरु उक्त पिंड का दाह-संस्कार करने ही वाला था कि उसने एक चमत्कार देखा। एक शीतल, मंद बयार ने सभी दिशाओं में एक स्वर्गिक सुगंध, महक सर्वत्र फैला दी थी। हिन्दू योगिनियों का एक समूह न जाने कहाँ से वहाँ आ उपस्थित हुआ। उन योगिनियों ने उक्त नर-कंकाल को या जो भी कुछ उक्त मृतक पिंड का बचा था, जोड़ दिया—उस समय दिव्य-संगीत भी बजता रहा। और शीघ्र ही वह मृत व्यक्ति जी उठा और अपने गुरु के समक्ष नतमस्तक हो खड़ा हो गया। उसे बाद में राजा बना दिया गया था। उस कृतज्ञ शिष्य ने अपने गुरु ईसान की स्मृति में एक देवालय बनवाया। उक्त मन्दिर ही, जो उस समय ईसानेश्वर मन्दिर के

नाम से ज्ञात था, निशात बाग के पास आज का ईसावर देवालय है।

बाद में समधीमति ने हरमुख पर्वत-शृंखलाओं के बीच श्रीनगर से ५४ किलोमीटर उत्तर में भूतेश्वर के नाम से ज्ञात १७ मन्दिरों के संकुल में एक योगी संन्यासी का जीवन व्यतीत करने के लिए अपना राजोचित रहन-सहन त्याग दिया।

श्रीनगर के निकट एक लोकप्रिय सुप्रसिद्ध ५०० फीट ऊँची शंकराचार्य चोटी, पर्वत-शिखर है जो पूर्वकाल में समधीमान पर्वत कहलाता था। मुस्लिम विजेताओं ने, अपने पूर्व-आचरण, अभ्यास के अनुसार ही, इसे इसलामी मरोड़ देते हुए एक सूक्ष्म ध्वन्यात्मक परिवर्तन कर दिया और सुलेमान-पहाड़ी कहने लगे। कश्मीरी हिन्दू नामों और देवालयों का इस प्रकार इसलामीकरण १४वीं और १५वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था।

प्राचीन कश्मीर की यह समधीमान कथा ही है जिसने टामस, मैथ्यू, मार्क, लूके और जोह्न—सभी को पुनर्जीवित होने, राज करने और अन्य —की रचनाओं का कथापटल प्रदान किया है, किन्तु प्राचीन यूरोप में यह कथा बताई-सुनाई जाती थी। एक पूर्वकालिक रूसी लेखक निकोलाई नोटोविच और नये जर्मन लेखक फेबर कैसर उन अनेक लोगों में से हैं जो व्यर्थ ही जीसस की कब्र के बारे में भारी वाद-विवाद या गहन चर्चा में सम्मिलित हो गए हैं। उनके तर्क शून्य, अतीत की कब्र में ही समा जाएँगे क्योंकि उस जीसस की कब्र हो ही कैसे सकती है जो कभी जन्मा ही नहीं था। विभिन्न राष्ट्रीयतावाले लेखकों द्वारा अत्यधिक गम्भीरता से चर्चित 'कब्र' का यह मामला सहज ही गैर-प्रतियोगी और प्रारम्भ से ही अ-प्रतियोगी मानकर रद्द कर दिया जाना चाहिए।

अध्याय १०

जीसस की आकृति कैसी थी?

जीसस की शक्ल-सूरत कैसी थी? सचमुच किसी को मालूम नहीं। पुस्तकों में, चर्चों (गिरजाघरों) में, कैलेण्डरों पर और चलचित्रों में दिखाई देनेवाले जीसस के विभिन्न (रूपों के) चित्र सभी काल्पनिक हैं।

'पोर्ट्रेट्स ऑफ़ क्राइस्ट' (कृस्त के चित्र) नामक संयुक्त पुस्तिका में अर्न्स्ट किट्ज़िगर और एलिज़ाबेथ सेमौर साग्रह कहते हैं: "जब हम इस तथ्य की जानकारी पता करते हैं कि क्या कोई ऐसी प्रतिकृति या वर्णन है जो स्वयं क्राइस्ट के जमाने से ही उपलब्ध हो और इसीलिए उसे आधिकारिक कहा जा सकता हो, तो हमें ज्ञात होता है कि ऐसा कुछ भी उपलब्ध नहीं है तथा यह भी मालूम पड़ जाता है कि उसके सर्वाधिक श्रद्धायुक्त चित्र भी परवर्ती पीढ़ियों द्वारा ही बनाए, प्रस्तुत किए गए थे। अतः क्राइस्ट की मुखाकृति, जैसी हम आज जानते हैं, पूर्णरूपेण मानव-कल्पना की उपलब्धि ही है। ईसाई-धर्म, सिद्धान्तों अथवा ग्रन्थों में उसकी शारीरिक रूपरेखा/आकृति/बनावट का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है। क्राइस्ट के बाद तीन या चार पीढ़ियाँ बीत जाने से पूर्व तो किसी ने सोचा ही नहीं कि वह कैसा दीखता होगा। उसके बाद लोगों का उस ओर ध्यान गया। सिकन्दर महान् के आदर्श स्वरूप के चित्र, गैर-ईसाई, गैर-यहूदी युगों से सर्वोच्च शक्ति के रूप में पूजित सूर्यदेव के छवि-चित्र आदि के प्रतिदर्शों के अनुरूप ही क्राइस्ट के चित्र प्रारम्भिक रूप में बनाए गए थे।"[1]

उपर्युक्त दोनों लेखकों की साक्षी महत्त्वपूर्ण है। पूरी शोध के पश्चात् ही उन्होंने यह मत स्थापित किया है कि क्राइस्ट का कोई समकालीन चित्र

१. 'पोर्ट्रेट्स ऑफ़ क्राइस्ट', किट्ज़िगर एण्ड सेमौर, पृष्ठ १ से ३।

उपलब्ध न होने के कारण ही उसके सभी आजकल विद्यमान/प्रचलित चित्र पूरी तरह काल्पनिक ही हैं।

इससे हम उस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीसस क्राइस्ट कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है।

कृस्तियों में प्रचलित कहानियों के अनुसार एक प्रसिद्ध भविष्यवाणी के अनुरूप ही जीसस क्राइस्ट का जन्म एक दिव्य शिशु के रूप में हुआ था। इसलिए मागी नाम से विख्यात कुछ प्रबुद्ध, श्रेष्ठ, सन्त जन पूर्व दिशा से बालक का अभिनन्दन करने आए। उसके बाद से क्राइस्ट एक धार्मिक नेता के रूप में बड़ा होता गया जिसके पीछे आजीवन भारी भीड़ चलती रही। यदि यह सब कथा, मान्य धारणा सत्य रही होती तो जीसस के शैशवकाल से ही उसके हजारों वास्तविक सच्चे चित्र उपलब्ध रहे होते।

किन्तु उसके काल्पनिक चित्रों से भी अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सूली पर मृत्युदण्ड पाने से पूर्व जीसस ने जो मुकुट शीश पर धारण किया माना जाता है, वह सिर्फ काँटों का ताज ही था। निर्धनों, दुर्बल और पददलितों के नेता के रूप में उसने कभी स्वर्ण-मुकुट धारण नहीं किया। और फिर भी, जीसस को न केवल सोने का मुकुट पहने हुए चित्र में दिखाया जाता है, बल्कि उसे यहूदी-सम्राट् और राजाधिराज—राजाओं का राजा—भी सम्बोधित किया जाता है।

ये सभी भ्रमपूर्ण प्रतिवाद हैं, विसंगतियाँ हैं। सीधा-सादा, साधारण, सफेद उड़ता हुआ अंगरखा (गाउन) या कुर्ता पहना व्यक्ति कभी भी अनवरत रूप में ताज, मुकुट धारण किए नहीं रह सकता।

वह कभी भी यहूदियों का अथवा अन्य किसी भी समुदाय, समाज का सम्राट् नहीं रहा था। यही कारण है कि उसे कभी भी शस्त्रास्त्र धारण किए नहीं दिखाया गया। एक असली सम्राट् को हमेशा सशस्त्र, हथियार-बन्द रहना होता है क्योंकि वह सेना के सर्वोच्च सेनापति की भूमिका भी निभाता है।

जीसस यहूदियों का सम्राट् होना तो दूर रहा, आधुनिक प्रचलित मान्यताओं के अनुसार तो उसे यहूदियों ने अपने सामान्य साथी के रूप में

भी अस्वीकार कर दिया, ठुकरा दिया था।

जीसस के अपने सम्पूर्ण जीवन में एक बार भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि कभी किसी ने उसे ताज/मुकुट भेंट किया हो या जूलियस सीजर की भाँति उसने कभी उसे अस्वीकार किया हो। यहूदियों में ऐसे कभी उतार-चढ़ाव नहीं हुए कि उन्होंने जीसस को अपना मान्य नेता और सम्राट् घोषित कर दिया हो। अतः जीसस का मात्र चित्र ही काल्पनिक नहीं है, उसका सम्पूर्ण जीवन और व्यक्तित्व भी मनगढ़न्त कथा-मात्र ही है।

विल डूरण्ट ने भी स्वीकार किया है : "हमें उसका कोई चित्र प्राप्त नहीं है और न ही सुसमाचार लेखकों ने उसका कोई विवरण दिया है।"[१]

अपने सिर के चारों ओर एक प्रभा-मण्डल सहित एक दिव्य शिशु के रूप में जीसस का चित्रण भगवान् कृष्ण से उद्भूत है, जो एक हिन्दू अवतारी पुरुष थे।

जीसस के शीश पर स्वर्ण-मुकुट भी भगवान् कृष्ण से ही सम्बन्धित है क्योंकि वे द्वारका के सम्राट्, द्वारकाधीश थे।

ये तो भगवान् कृष्ण ही थे, जो दिव्यावतार के रूप में, महाराजाधिराज, सम्राटों के भी सम्राट् थे।

क्राइस्ट (कृस्त) सम्बोधन कृष्ण नाम का भ्रष्ट, अशुद्ध-अपभ्रंश उच्चारण है। भारत में भी (उदाहरणार्थ, बंगाल में) 'कृष्ण' नाम के बच्चों को प्रायः कृस्ट (कृस्त—कृस्टो) ही सम्बोधित किया जाता है।

एक आकाशवाणी (भविष्य-कथन) के अनुसार एक दिव्य बालक के रूप में भगवान् कृष्ण का जन्म ही था जिसको ध्यान में रखकर हिन्दू लोग उनको एक प्रभामण्डलयुक्त शिशु के रूप में चित्रित करते हैं।

इस प्रकार, शिशु अवस्था से लेकर वयस्क अवस्था तक अनेक उदाहरणों में जीसस के चित्र भगवान् कृष्ण के विवरणों से ही नकल किए गए हैं।

जबकि क्राइस्ट का कोई भी चित्र उपलब्ध नहीं है, फिर भी यह प्रदर्शित, सिद्ध किया जा सकता है कि भगवान् कृष्ण के वास्तविक, मूल

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५६०।

चित्र कृस्ती-पूर्व यूरोप में प्रचलित थे और कृस्ती-पंथ पश्चात् यूरोप में भी कई शताब्दियों तक प्रचलित, विद्यमान थे। ऐसा ही एक चित्र, जो एक पच्चीकारी का भाग है, (एथेन्स से ६० मील दूर) कोरिंथ के संग्रहालय में टँगा हुआ है। हमने इसको इसी ग्रन्थ में अन्यत्र पुनः प्रस्तुत कर दिया है।

यदि कोई व्यक्ति रोम के बाहर एप्पियन-वे (मार्ग) पर सैंट सिबेशियन के अन्तर्भौम समाधि-क्षेत्र (कब्रों के तहखाने) में जाए तो उसे दीवार पर उत्कीर्ण अनेक चित्र मिल जाएँगे जो सम्भवतः दूसरी शताब्दी के हैं। उनमें से दर्शक को प्राचीन उत्कीर्ण रूपरेखांकनों में जीसस एक चरवाहे के रूप में लक्षित मिल जाएगा।[1]

सिबेशियन शिव-स्थान अर्थात् एक हिन्दू शिव मन्दिर को छद्मवरण से हड़प लेने की एक जुगत, युक्ति, विधि है। इसी प्रकार, कृस्ती विच्छिन्न-समूह ने कृष्ण, गोपाल (ग्वाले) के विकल्प के रूप में जीसस को पशु चराने-वाले, चरवाहे के रूप में चित्रित करना शुरू कर दिया।

कृस्ती-मिथक की जड़ें जम जाने के बाद लोगों के लिए यह सहज ही था कि वे जीसस के काल्पनिक चित्र तैयार करते।

इतिहास में विद्यमान या गैर-विद्यमान व्यक्तियों के काल्पनिक चित्र पाना कोई असामान्य बात नहीं है। ऐतिहासिक अर्थशास्त्र के अनुसार माँग आपूर्ति पैदा करती है। मुस्लिम बेगमों के सभी चित्र काल्पनिक हैं क्योंकि वे सदैव पूरी तरह पर्दों-बुर्कों में ढँकी रहती थीं।

जबकि क्राइस्ट (कृस्त) के चित्रों में उसे सामान्यतः अति सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति के रूप में दिखाया जाता है, "ऐसे प्राचीन संकेत हैं कि उसकी अनाकर्षक मुखाकृति थी। अच्छे रूप-रंगवाले लोगों को दण्डित करते समय सिकन्दरिया के दयाशील (क्लीमैंट) ने उन्हें स्मरण दिलाया था कि जीसस का मुख-चौखटा बहुत भद्दा था। क्रेट के एण्ड्रू ने लिखा था कि जीसस की आँखों के ऊपर की भौंहें ऐसी थीं जो परस्पर मिलती थीं। सिकन्दरिया के साइरिल ने अंकित किया था कि जीसस बहुत भद्दे मुखड़े का व्यक्ति था किन्तु दिव्यता के यश की तुलना में, शारीरिक (मांस आदि)

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ २२४।

गुण-अवगुण का कोई महत्त्व नहीं।"[१]

यदि जीसस अपनी शैशवावस्था से ही सूली-दण्डित होने तक कोटि-कोटि जनों द्वारा लक्षित और उसका अनुसरण किया गया विश्व-आकर्षण सचमुच ही रहा होता, तो क्या उसके अनुयायी व्यक्तियों के स्मृति-पटल पर वह भद्दे से सुन्दर आकृति तक का विविध-रूपी कैसे हो सकता था? यह इस बात का एक अन्य संकेतक है कि जीसस कभी जन्मा ही नहीं था और इसीलिए कोई नहीं जानता कि वह देखने में कैसा था, वह दिखता कैसा था?

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ४६३।

अध्याय ११

सुसमाचार धर्मग्रन्थ

प्राचीन अंग्रेजी भाषा के प्रयोग, व्यवहार में 'गाड-स्पैल' का अर्थ 'अच्छी खबर'—'सुसमाचार' था। आधुनिक अंग्रेजी शब्द 'गास्पैल' यूनानी शब्द 'इवैन्जीलियन', जो मार्क का शुरू, प्रारम्भिक शब्द है, 'सुसमाचार' का अर्थ-द्योतक है जिसका भाव है कि मसीहा—देवदूत अवतरित हो गया था और ईश्वर, प्रभु का साम्राज्य स्थापित होने जा रहा था।

यूनानी शब्द 'इवैन्जीलिस्ट' संस्कृत भाषा के 'दिव्यांजलि' शब्द से व्युत्पन्न है जो 'दिव्य हाथों से' का अर्थ-द्योतक है। 'गन्जेल' और 'एन्जीलिक' जैसे शब्द भी ऐसी ही व्युत्पत्ति, मूल के हैं।

यह सामान्य धारणा निराधार, निर्मूल है कि जीसस के जन्म से पूर्व ही अथवा उसके तुरन्त बाद लिखे गए सुसमाचार धर्मग्रन्थों में यह अंकित होगा ही कि एक मसीहा की भूमिका निभाने के लिए जीसस के भावी आगमन की अग्रिम सूचना दे दी गई थी।

विल डूरण्ट के उल्लेखानुसार : "सुसमाचार (धर्म) ग्रन्थों की विद्यमान प्राचीनतम प्रतियाँ (ईसा-पश्चात्) तीसरी शताब्दी तक की ही हैं। मूल संस्करण स्पष्टत: ईसा-पश्चात् ६० से १२० के मध्य लिखे गए थे और उनकी प्रतिलिपियों में त्रुटियाँ आदि अगली दो शताब्दियों तक चलती रहीं तथा प्रतिलिपियाँ तैयार करनेवालों के पंथ या समयानुसार धर्मशास्त्र या उद्देश्यों के अनुरूप फेर-बदल करने में इतनी अवधि तो निकल ही गई होगी। कृस्ती लेखक भी प्राचीन को ही उद्धृत करते हैं और नए विधान का कभी भी उल्लेख नहीं करते। ईसा-पश्चात् १५० सन् से पूर्व का एकमेव कृस्ती सन्दर्भ पपीआस में है जो ईसा-पश्चात् १३५ के लगभग एक अ-परिचित 'जोह्न ज्येष्ठ' का उल्लेख यह कहते हुए करता है कि मार्क ने ये सुसमाचार

ग्रन्थ संकलित किए थे उन स्मृतियों से जो उसे पीटर ने बताई थीं। पपीआस ने यह भी कहा है कि 'मैथ्यू' ने लोगिया (सूक्ति संग्रह) का लिपि-अन्तरण हिब्रू भाषा में किया था—जो स्पष्टत: क्राइस्ट के कथनों, वचनों का एक प्रारम्भिक अरामाइक संग्रह था। सम्भवत: पॉल के पास ऐसा कोई ग्रन्थ था क्योंकि, चाहे वह किसी सुसमाचार ग्रन्थ का उल्लेख नहीं करता, फिर भी समय-समय पर वह जीसस के प्रत्यक्ष शब्दों को ही उद्धृत करता रहता है।"

विल डूरण्ट कहते हैं : "समालोचक सामान्यत: सहमत हैं कि मार्क का सुसमाचार-ग्रन्थ सर्वप्रथम है और वे इसकी रचना-तारीख ईसा-पश्चात् ६५ और ७० के बीच ही निर्धारित करते हैं। चूँकि इसमें एक ही बात को कई बार भिन्न-भिन्न रूपों में दोहराया जाता है, इसलिए व्यापक रूप में विश्वास किया जाता है कि यह सूक्ति-संग्रह और अन्य पूर्ववर्ती कथनों पर आधारित है जो स्वयं मार्क का ही मूल-रचना संकलन रहा हो। मार्क का सुसमाचार-ग्रन्थ प्रत्यक्षत: उस समय परिचालित किया गया था जब कुछ पट्ट-शिष्य या उनके प्रथम अनुयायी जीवित ही थे। अत: यह असम्भव-सा प्रतीत होता है कि क्राइस्ट (कृस्त) के सम्बन्ध में उनकी याददाश्त और व्याख्या में कोई मुख्य अन्तर, मतभेद था।"[१]

विल डूरण्ट का एक विचारक और लेखक के रूप में दोष यह है कि वह ऐसे अनेक प्रबल साक्ष्यों को प्रस्तुत करता है जो परम्परागत धारणा के विरुद्ध जाते हैं, और फिर भी वह अन्त में अपना मत भी प्राचीन, परम्परागत धारणा के पक्ष में ही दे देता है।

उसने यही कार्य क्राइस्ट (कृस्त) की ऐतिहासिकता और सुसमाचारों (ग्रन्थों) की वैधता के बारे में भी किया है। सम्भवत: ईसाइयत के प्रति उसकी निष्ठा और उसी के साथ उसका साहचर्य इस ईसाइयत को पूर्ण निश्चयात्मक रूप में अस्वीकार करने से उसे प्रेरित करता है, रोकता है। कृस्ती और इसलामी लेखकों के साथ समस्या यह है कि अपना आधार-स्थल और अवलम्बन गँवा बैठने की आशंका से ही वे अपने-अपने आस्था-बिन्दुओं

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५५।

से सैद्धान्तिक रूप से चिपके रहना चाहते हैं यद्यपि वे उन आस्था-बिन्दुओं को बिल्कुल भी उचित, प्रतिरक्षा-योग्य नहीं पाते।

अतः तब आश्चर्य होता है जब विल डूरण्ट को 'पट्ट-शिष्यों या उनके सर्वप्रथम अनुयायियों' के बारे में कहते हुए पाते हैं। जब स्वयं जीसस का ही कोई अस्तित्व न था, तब उसके पट्ट-शिष्यों का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब कोई राजा ही नहीं है, तब उसका (राज) दरबार कहाँ से आएगा?

सुसमाचार (ग्रन्थों) के बारे में डूरण्ट ने आगे कहा है : "रूढ़िवादी, प्राचीन परम्परा ने मैथ्यू के सुसमाचार (ग्रन्थ) को प्रथम, सबसे पहले समय का माना है। ईरेनियस ने इसे मूल रूप में हिब्रू अर्थात् अरेमाइक में रचित माना है किन्तु यह हमें मात्र यूनानी में ही प्राप्त हुआ है। चूंकि इस रूप में इसने प्रत्यक्षतः मार्क की नकल ही की है और सम्भवतः सूक्ति-संग्रह की भी, इसलिए समीक्षक इसे स्वयं नाकेदार की अपेक्षा मैथ्यू के किसी अनुयायी, शिष्य का यशस्वी-कार्य मानते हैं अर्थात् ईसा-पश्चात् ८५ से ९० वर्ष बाद का।"

ये सुसमाचार (ग्रंथ) जिन प्रयोजनों से लिखे गए होंगे, उनको बताते हुए विल डूरण्ट ने टिप्पणी की है कि, "यहूदियों को धर्म-परिवर्तित करने के उद्देश्य से मैथ्यू ने अन्य सुसमाचार लेखकों की अपेक्षा अधिक ही जीसस को यश दिए जानेवाले चमत्कारों पर विश्वास किया है, और वह संदेहास्पद रूप से यह सिद्ध करने के लिए उत्सुक है कि पुराने विधान की बहुत सारी भविष्यवाणियाँ क्राइस्ट (क्रस्त) में ही पूरी हुई हैं।"[1]

सेंट लूके के सुसमाचार (ग्रंथ) के बारे में विल डूरण्ट ने लिखा है : "इसे साधारणतः प्रथम शताब्दी के अन्तिम दशक की रचना माना जाता है (और यह) घोषित करता है कि इसकी इच्छा जीसस के पूर्ववर्ती वर्णनों को समन्वित करने और उनका समाधान प्रस्तुत करने की है तथा इसका उद्देश्य यहूदियों को धर्म-परिवर्तित करने का न होकर गैर-ईसाइयों का धर्मान्तरण करना है। बहुत सम्भावना है कि लूके स्वयं गैर-ईसाई था, पॉल का मित्र

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५५-५५६।

था और पट्ट-शिष्यों के चरितों का लेखक था। मैथ्यू के समान ही उसने बहुत कुछ मार्क से ही लिया है। मार्क के प्राप्त पाठ में ६६१ पद्यों में से ६०० से अधिक मैथ्यू में उद्धृत हैं और लूके (के पाठ) में ३५० हैं जिनमें से अधिकतर शब्दशः ज्यों-के-त्यों हैं। लूके (के पाठ) के बहुत सारे अवतरण, जो मार्क (के पाठ) में नहीं हैं, मैथ्यू (के पाठ) में उपलब्ध हैं, और वे भी शब्दशः ज्यों-के-त्यों हैं।

"चौथा सुसमाचार (ग्रंथ)," विल डूरण्ट कहते हैं, "जीसस का आत्म-चरित होने के विषय में कहता ही नहीं है। दिव्य-प्रतीक या शब्द, विश्व के सृजनहार और मानवता के उद्धारक के रूप में ब्रह्म, देव-विज्ञान की दृष्टि से क्राइस्ट (कृस्त) के प्रस्तुतीकरण का ही यह सुसमाचार (ग्रंथ) है। यह सैकड़ों विवरणों में सहदर्शी संक्षिप्तांशों का और क्राइस्ट (कृस्त) के निरूपण का सामान्य रूप में खण्डन करता है। इस ग्रंथ की रचना अर्ध-गूढ़ ज्ञानवाद वैशिष्ट्य और अतिसूक्ष्म विचारों पर इसका आग्रह अनेक कृस्ती विद्वानों को इस बात पर शंका करने के लिए प्रेरित कर चुका है कि इसका रचनाकार पट्ट-शिष्य जोह्न था।"[1]

विल डूरण्ट की पुस्तक की एक पद-टीप में कहा गया है कि, "सन् १८९७ और १९०३ में ग्रेनफाल और हंट को मिस्र देश के आक्सीथिनकस ध्वंसावशेषों में सूक्ति-संग्रह के १२ भाग मिले थे जो सुसमाचार (ग्रंथों) के अवतरणों से मोटे तौर पर मिलते-जुलते थे। वे पटेरा-पाठ तीसरी शताब्दी से पुराने नहीं हैं, किन्तु सम्भव है कि ये किन्हीं अति प्राचीन पाण्डुलिपियों की नकलें, प्रतिकृतियाँ हों।"

इन तथाकथित सुसमाचार-ग्रंथों के सम्बन्ध में अपने निष्कर्षों का सार प्रस्तुत करते हुए विल डूरण्ट तर्क प्रस्तुत करते हैं : "यह स्पष्ट है कि एक सुसमाचार (ग्रंथ) और दूसरे, अन्य सुसमाचार (ग्रंथों) में बहुत सारे विरोध, खण्डन मौजूद हैं, इतिहास के अनेक अनिश्चित, अस्पष्ट, द्वि-अर्थक कथन हैं, गैर-यहूदी, गैर-ईसाई देवताओं के बारे में कही जानेवाली कथाओं जैसी अनेक संदेहास्पद समरूपताएँ हैं, अनेक प्रसंग हैं जो प्रत्यक्ष रूप में प्राचीन

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५७।

विधान की भविष्यवाणियों को पूरा करने की दृष्टि से, उद्देश्य से ही घड़े गए हैं, अनेक अवतरण हैं जो सम्भवत: किसी परवर्ती सिद्धान्त या गिरजा-घर (चर्च) के कर्मकाण्ड के निमित्त ऐतिहासिक आधार स्थापित करने के उद्देश्यवाले हैं···अनुमानत: सुसमाचार (ग्रंथों) में बताए गए वार्तालाप और भाषण अशिक्षित, अनपढ़ स्मृतियों की कमजोरियों तथा नकल, प्रति-लिपियाँ तैयार करनेवालों की त्रुटियों या पाठ-संशोधन का परिणाम थे।"

इस प्रकार विल डूरण्ट सुसमाचार-ग्रंथों को संदिग्ध, संशयात्मक रचनाएँ मानने में सही, ठीक हैं। सर्वप्रथमत: यदि जीसस के अभ्युदय का भविष्य कथन हो चुका था, जैसा सामान्यत: विश्वास किया जाता है, साग्रह कहा जाता है, तब तो जीसस के जन्म से लेकर उसकी मृत्युपर्यन्त तत्सम्बन्धी एक अनवरत समकालीन लेखा-वर्णन होना चाहिए था। दूसरी बात, ऐसा विवरण अन्य विवरणों से पर्याप्त मात्रा, अंश में मिलना, मेल खाना चाहिए था। तीसरी बात, उनमें जीसस के जीवन का काफी वर्णन और उसकी शिक्षाएँ अंकित होनी चाहिए थीं जो उनमें नहीं हैं।

आइए, हम कुछ असंगतियों और प्रक्षिप्तांशों का विवेचन करें। जीसस के समय (?) प्रचलित यहूदी-परम्परा के अनुसार, "तुम्हारा साम्राज्य आने पर पृथ्वी पर तुम्हारे साथ वैसा ही व्यवहार होगा जैसा स्वर्ग में होता है।" किन्तु जैसी कल्पना है कि जीसस का जन्म हुआ, वह जीवित रहा और मृत्यु को भी प्राप्त हो गया किन्तु विश्व ने कोई नेत्रोन्मेष-कारी, उल्लेख योग्य परिवर्तन न देखा। इसीलिए जोह्न के सुसमाचार (ग्रंथ) में जीसस से कहलाया गया है: "मेरा साम्राज्य विश्व का साम्राज्य नहीं है।" कई अवसरों पर जीसस के शब्द विशुद्ध और निष्पाप प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त आत्मा के साम्राज्य की ओर इंगित करते हैं; यथा—"ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर ही है।" यदि यह सत्य है तो व्यक्ति को जीसस के प्रति निष्ठा घोषित करने की क्या आवश्यकता है और एक कृस्ती के रूप में बपतिस्मा कराने की जरूरत क्या और क्यों?

एक भिन्न सन्दर्भ में क्राइस्ट ईश्वर का साम्राज्य एक ऐसे भावी समाज के रूप में वर्णन करता है जहाँ उस (जीसस) के पट्ट-शिष्य शासक होंगे और अन्य जिन्होंने जीसस के लिए यातनाएँ भोगी थीं या अपना बलिदान किया,

था, उनको पर्याप्त रूप से पुरस्कृत किया जाएगा।

सुसमाचार (ग्रंथों) में कुछ स्थानों पर, अति शीघ्र ईश्वर का साम्राज्य स्थापित हो जाने का वचन, आश्वासन दिया गया है जैसे "मैं अंगूर की बेल का फल और अधिक तब तक नहीं पियूंगा जब तक कि ईश्वर का साम्राज्य नहीं हो जाता···जब तक मानव-पुत्र नहीं आ जाता, तुम इस्रायल नगर नहीं जाओगे।"

कुछ अन्य अवतरणों में ईश्वर के साम्राज्य का अभ्युदय स्थगित कर दिया जाता है जैसे इसमें: "यहाँ कोई ऐसी अवधि होनी चाहिए जहाँ तब तक मृत्यु नहीं होनी चाहिए जब तक कि साम्राज्य में मानव-पुत्र का पदार्पण न हो जाए···यह पीढ़ी तब तक उद्धार नहीं पा सकती जब तक ऐसी सब बातें न हो जाएँ।"

अन्य स्थानों पर स्वर्ग का साम्राज्य कुछ ऐसी अनिश्चित रूप में अनुपलब्धनीय वस्तु के प्रतीक की भाँति प्रस्तुत की जाती है जैसे जीसस अपने पट्ट-शिष्यों को चेतावनी देते हैं: "उस दिन और घड़ी का किसी मनुष्य को पता नहीं, नहीं, स्वर्ग में देवदूतों को भी नहीं, ईश्वर के अतिरिक्त उसके प्रिय पुत्र को भी नहीं।"[१]

इस प्रकार सुसमाचार (ग्रंथ) बदलती हुई आवश्यकताओं और उनके लेखकों की चित्तवृत्ति के अनुसार बदलते रहते हैं। कृस्ती-पंथ नामक नए आस्था-बिन्दु (धर्म, पंथ) को प्रारम्भ करने में प्रारम्भिक नेताओं को जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, उनका समाधान करने के लिए एक काल्पनिक जीसस के द्वारा अपने मतों, तर्कों को कहलवा दिया गया है—जीसस के शब्दों में अपनी बातें कह दी हैं।

कई बार जीसस से यह भी कहलवाया गया है कि (प्रभु के) साम्राज्य का अभ्युदय मानव के ईश्वर और न्याय के प्रति अभिमुखी हो जाने की शर्त पर ही हो सकेगा।

इसलिए सुसमाचार-ग्रंथ किसी भी सामाजिक राजनीतिक विचारधारा के समर्थन में विशद्‌रूपेण व्याख्येय बने हुए हैं। साम्यवादी लोग भी जीसस

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ५५६।

को एक साम्यवादी प्रचारक के रूप में उद्धृत कर सकते हैं जिसके स्वर्ग का साम्राज्य एक साम्यवादी आदर्श राज्य का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि जब एक युवा व्यक्ति ने जीसस से यह पूछा कि वह धर्मोपदेशों का पालन करने के साथ-साथ और (अन्य) कौन-सा कार्य करे तो जीसस ने उसे परामर्श दिया बताते हैं कि, "अपनी सम्पत्ति बेच दो, अपनी धन-दौलत गरीबों को दे दो, और मेरा अनुसरण करो।"

इसके विपरीत, डूरण्ट का कहना है : "एक रूढ़िवादी भी नव-विधान को उद्धृत कर सकता है…मैथ्यू द्वारा क्राइस्ट एक ऐसा मित्र बना लिया जाता है जो रोमन-सत्ता का एक अभिकर्ता बना रहा; उसने नागरिक सरकार की कोई आलोचना नहीं की, उसने राष्ट्रीय एकीकरण के लिए यहूदी-आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया और समर्पण करनेवाली सज्जनता का परामर्श दिया जिसमें से किसी भी प्रकार से राजनीतिक क्रांति प्रकट नहीं हो रही थी। उसने फरीसी, पाखण्डियों को परामर्श दिया कि सीज़र की सभी वस्तुएँ सीज़र को दे दी जाएँ और ईश्वर की वस्तुएँ ईश्वर को समर्पित कर दी जाएँ। उसकी, उस मनुष्य की कथा में ब्याज या गुलामी के खिलाफ कोई शिकायतें नहीं हैं जिसमें वह व्यक्ति प्रवास पर जाने से पूर्व अपने गुलामों को बुलाता है और अपनी सम्पत्ति उनके हाथों में सौंप जाता है। वह (जीसस) इन संस्थानों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेता है। क्राइस्ट प्रत्यक्षतः उस गुलाम को ठीक, सही समझता है जिसने मालिक द्वारा दिए गए १० मीनास ($ ६००) को धनार्जन हेतु व्यय कर दिया और दस और कमा लिए थे। वह उस गुलाम की भर्त्सना करता है जो एक मीनास सहित होने पर भी मालिक की कमाई के खिलाफ उस धन को अनुत्पादक तिजोरी में सुरक्षित रख देता है। वह मालिक के मुख से कठोर वचन कहलवाता है कि : "जिसके पास कुछ है, उसे और भी अधिक दिया जाएगा, तथा उससे जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह भी उससे छीन लिया जाएगा जो उसके पास थोड़ा-सा भी है। एक अन्य दृष्टान्त, नीति-कथा में श्रमिक, कर्मचारी 'उस नियोक्ता पर झुंझला रहे थे' जिसने एक घंटा-भर काम करनेवाले कर्मचारी को भी उतना ही भुगतान कर दिया था जितना दिन-भर कठोर श्रम करनेवाले को। क्राइस्ट नियोक्ता से उत्तर दिलवाता है : "क्या ऐसा

करना मेरे लिए विधिसम्मत नहीं है जो मैं स्वयं अपने साथ करूँगा?" जीसस गरीबी, निर्धनता दूर करने पर कभी विचार करता प्रतीत नहीं होता। "तुम्हारे साथ तो गरीब सदा ही रहेंगे।" सभी प्राचीनों, रूढ़िवादियों के समान ही वह मानकर चलता है कि एक गुलाम का कर्तव्य अपने मालिक की भली-भाँति सेवा करना ही है। "वह गुलाम भाग्यशाली है जिसका मालिक वापस आने पर उस गुलाम को अपना कर्तव्यपालन करता हुआ पाता है।" वह वर्तमान, विद्यमान आर्थिक या राजनीतिक संस्थाओं पर आक्रमण करने से सम्बन्धित नहीं है, उसे कोई चिन्ता नहीं है। इसके विपरीत, वह उन उत्साही प्रचण्ड व्यक्तियों की निन्दा करता है जो "आक्रमण, धावा करके स्वर्ग का साम्राज्य हथियाना चाहते हैं।"

जिसे जीसस क्राइस्ट द्वारा प्रारम्भ किया गया कृस्ती-पंथ विश्वास किया जाता है, वह वास्तव में कई विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर अपनाए गए तदर्थ तात्कालिक उपायों का सम्मिश्रित समूह, ढेर है।

इसकी चरमावस्था तब हुई जब कृस्ती-पंथ ने रोम पर विजय प्राप्त कर ली। तब "गैर-यहूदी, गैर-ईसाई गिरजाघरों का पुरोहिती ढाँचा, उच्चाधिकारी श्रेष्ठजनों के शीर्षक व वस्त्र, परिधान, महादेवी माता और सुखदायी दिव्य-विभूतियों की असंख्य रूप में पूजा, सर्वत्र अतीन्द्रियों की विद्यमानता की भावना, पुरातन पर्वों-त्योहारों की उमंग या उनकी गम्भीरता, और अविस्मरणीय समारोह की धूमधाम—सभी नए धर्म (पंथ) में वैवाहिक रक्त की भाँति प्रवाहित हो गए, समा गए, घुल-मिल गए और वंदी रोम ने अपने विजेता को जीत लिया।"[1]

विल डूरण्ट ने जो सारांश ऊपर प्रस्तुत किया है उससे हर किसी के समक्ष यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि रूपों और तात्त्विक दृष्टि से तो प्राचीन हिन्दू रीति-रिवाज ही कृस्ती-रूप में सम्पन्न हो रहे हैं।

"मैथ्यू, मार्क, लूके और जोहन—चारों शिष्य, जिन्होंने सुसमाचार लिखे (ग्रंथ रचनाएँ कीं)—न तो जीसस के साथ रहे थे, न उसका प्रेक्षण किया था, न उसे देखा था, शारीरिक रूप में—सदेह बिल्कुल भी नहीं।

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड ३, पृष्ठ ६७१।

उन्होंने केवल मौखिक परम्पराएँ संग्रह कर ली थीं, प्रारम्भिक कृस्ती-समुदाय से कुछ लिखित सामग्री प्राप्त कर ली थी और उसको पटेरा पर लिपि-अन्तरण कर लिया जीसस की कल्पित मृत्यु के दशकों बाद।"[1]

"मार्क ने अपना सुसमाचार-ग्रंथ ईसा-पश्चात् ७६ के आसपास लिखा, मार्क ने ईसा-पश्चात् ८० के आसपास, लूके ने ईसा पश्चात् ८०-६० के आसपास और जोह्न ने ईसा-बाद ८५-६५ के लगभग काल में लिखा। इन चारों के पास ईसा-पश्चात् ३० में जीसस के मर जाने, उसके पुनः जीवित हो जाने और जरुस्लम के बाहर स्वर्गारोहण करने के मौखिक समाचारों के अतिरिक्त अन्य कोई जानकारी न थी। उनको जीसस की दूसरी मन्त्रि-परिषद् की, रोम का प्रवास करने की कोई जानकारी और जीसस क्राइस्ट के जीवन में बढ़ गए वर्षों के बारे में कोई ज्ञान नहीं था।"[2]

विल डूरण्ट प्रेक्षण करते हैं : "सारांश रूप में यह स्पष्ट है कि एक सु-समाचार-ग्रंथ व अन्य सुसमाचार-ग्रंथ में बहुत सारे विरोध, खण्डन मौजूद हैं; इतिहास के अनेक अनिश्चित, अस्पष्ट, द्वि-अर्थक कथन हैं; गैर-यहूदी, गैर-ईसाई देवताओं के बारे में कही जानेवाली कथाओं जैसी अनेक संदेहास्पद समरूपताएँ हैं; अनेक प्रसंग हैं जो प्रत्यक्ष रूप में प्राचीन विधान की भविष्य-वाणियों को पूरी, सत्य करने की दृष्टि से, उद्देश्य से ही घड़े गए हैं; अनेक अवतरण हैं जो सम्भवतः किसी परवर्ती सिद्धान्त या गिरजाघर (चर्च) के कर्मकाण्ड के निमित्त ऐतिहासिक आधार स्थापित करने के उद्देश्यवाले हैं... अनुमानतः सुसमाचार-ग्रंथों में बताए गए वार्तालाप और भाषण अशिक्षित, अनपढ़ स्मृतियों की कमजोरियों तथा नकल, प्रतिलिपियाँ तैयार करनेवालों की त्रुटियों या पाठ-संशोधन का परिणाम हों।"[3]

सामान्यतः लोगों को जानकारी नहीं है कि एक पाँचवाँ सुसमाचार-ग्रंथ भी है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि टामस द्वारा लिखित सुसमाचार-ग्रंथ प्रारम्भिक ग्रंथों में से एक है। टामस के सुसमाचार-ग्रंथ में जीसस के

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ८६।

२. वही।

३. वही, पृष्ठ २०२।

अनेक कथन अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं, और इसलिए उक्त सुसमाचार-ग्रंथ को प्रथम शताब्दी के उत्तरकालीन भाग की रचना माना जाता है। तथापि, तीसरी और चौथी शताब्दियों के क्रुस्ती रूढ़िवादी तत्त्वों द्वारा उक्त सुसमाचार-ग्रंथ को नवविधान से पूरी तरह बाहर रखा गया था। टामस के सुसमाचार-ग्रंथ में जीसस की मृत्यु या उसके पुनर्जीवित होने की कोई चर्चा, कोई संकेत नहीं है, उल्लेख नहीं है। यह जीसस के कथनों का यूं ही, निरुद्देश्य, बेतरतीब संकलन है। किन्तु इसमें संग्रहीत लगभग ११४ कहावतों, नीति-कथाओं और अन्य कथनों में से आधे लूके, मैथ्यू और मार्क के सुसमाचार-ग्रंथों में सम्मिलित किए गए हैं। किन्तु इन सभी का श्रेय जीसस को दिया गया है क्योंकि वे तो पॉल और प्रारम्भिक क्रुस्ती नेताओं द्वारा उस समय कहे गए थे जब वे अपना पृथक्तावादी समूह संगठित कर रहे थे। यह संक्षिप्त विवरण हमारी इस खोज को पुष्ट करता है कि जीसस की कथा, तथ्य रूप में, पॉल की कथा ही है। अतः बाइबल का नायक जीसस न होकर पॉल ही होना चाहिए।

टामस, मैथ्यू, मार्क, लूके और जोह्न के पाँच सुसमाचार ग्रंथों के साथ-साथ पीटर द्वारा रचित एक अन्य सुसमाचार-ग्रंथ भी है। "यह मिस्र देश में फ्रांसीसी पुरातत्त्वविदों द्वारा सन् १८८६ में नील (नदी) के ऊपरी भाग में अखमीम उपनगर के निकट एक प्राचीन कब्र में पाया गया था। पीटर का यह सुसमाचार-ग्रंथ चर्मपत्र की एक प्राचीन पाण्डुलिपि है जो ईसा-पश्चात् १३० के आसपास लिखी गई थी। यह धर्म-विधानी सुसमाचार-ग्रंथों से २१ बातों में भिन्न है। यह ग्रंथ कहता है कि हीरोड—यहूदी नहीं, पीलेट नहीं बल्कि हीरोड ही जीसस को फाँसी देने के लिए जिम्मेवार था। इसमें यह भी कहा गया है कि जीसस पर अधिकार किए हुए १०० सैनिकों का कप्तान (नेता) पेट्रोनियस नामवाला था···न केवल यह सत्य, वास्तविकता है, बल्कि जस्टिन मार्टियर, जो ईसा-बाद १३० में क्रुस्ती धर्मान्तरित हो गया था, हमें बताता है कि उन दिनों में जब इसे पढ़ा जा रहा था, तब पीटर-सुसमाचार-ग्रंथ आज के चारों सुसमाचार-ग्रंथों से अधिक सम्मानित, आदरित, श्रद्धापात्र था। तथापि, जब चौथी शताब्दी में नव-विधान का संकलन किया गया, तब पीटर-सुसमाचार-ग्रंथ को स्वीकार, सम्मिलित

नहीं किया गया, इसे अलग—दूर कर दिया गया, प्रक्षिप्त अंश कहकर अवनत, निन्दित किया गया—अर्थात् इसे अ-प्रामाणिक, अनधिकृत करार दिया गया।"[1]

यह तथ्य हमारी इस खोज, मान्यता को पूरी तरह पुष्ट करता है कि नव-विधान तथा वास्तविक रूप में सम्पूर्ण बाइबल ही कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा का मनचाहा पिटारा, संकलन है जो नई-नई स्थापित धार्मिक तंत्र, प्रणाली के तत्कालीन सत्ताधारियों की पसंदगी पर निर्भर करता था।

पिछली कुछ शताब्दियों में नव-विधान के विद्वानों और धर्मशास्त्रियों ने जीसस के काल्पनिक जीवन की रूपरेखा में रिक्त स्थानों को प्रथम शताब्दी में जीवन पर दृष्टिपात करके और उसको सैद्धान्तिक रूप प्रदान करके भरने का अति कठोर श्रम किया है।

१. 'सभ्यता की कहानी', पृष्ठ ५५७।

अध्याय १२

बाइबल--बड़ा भारी व्यापार

बाइबल का प्रकाशन करना और उसकी बिक्री करना तथा इसको पढ़ना व प्रचारित करना सदियों से अरबों-खरबों डॉलरवाला एक व्यापार बन चुका है जिसका लाभ मुद्रकों, प्रकाशकों, विज्ञापनदाताओं, प्रचार-माध्यम व्यक्तियों, पुस्तक-विक्रेताओं, कागज-व्यापारियों, सम्पर्क व्यक्तियों, प्रचारकों, भाषणकर्ताओं, सजावट करनेवालों, जनोत्तेजकों, वाई एम सी ए, वाई डब्ल्यू सी ए, लिपिकों, पादरियों-पुरोहितों, धर्मशास्त्रियों, धर्म-प्रचारकों, पुरातत्त्वज्ञों, शिल्पशास्त्रियों, इतिहास लेखकों, उद्योगपतियों, गुप्त सेवा-कर्मियों, राजनीतिज्ञों तथा व्यावहारिक रूप में उस हर एक व्यक्ति को हुआ है जो कृस्ती-विश्व में या कृस्ती-प्रधान संगठनों में कुछ भी—महत्त्वपूर्ण है।

इसका विरोध करने का या इसके ऐतिहासिक आधार का अभाव होने का भण्डाफोड़ करने का दुस्साहस करनेवाला हर व्यक्ति न केवल निन्दित, कलंकित किया जाता है अपितु उसे नगण्य, निरर्थक बना दिया जाता है और उससे खतरनाक प्रमाण भी छीन लिया जाता है तथा कानून के अधीन उसे कारावास भी भेज देने का उपाय कर लिया जाता है---इर्विंग वालेस द्वारा रचित 'दि वर्ड' शीर्षक उपन्यास का सारांश यही है।

उक्त उपन्यास में डॉक्टर स्टोनहिल को, जो अमरीकी बाइबल सोसायटी के प्रतिनिधि हैं, यह कहते हुए उद्धृत किया गया है: "संयुक्त राज्य में व्यावहारिक रूप में हर एक चर्च (गिरजाघर) हमारे कार्य का समर्थन करता है और हमारे आय-व्ययक (बजट) में अपना योगदान करता है। हमारा मुख्य व्यवसाय बाइबलों का वितरण करना है। हर वर्ष, हम सदस्य-गिरजाघरों को धर्मग्रन्थों की प्रतियों की आपूर्ति करते हैं, जो बिना टिप्पणियों या बिना समीक्षाओं के ही छापी जाती हैं। हम बाइबल या

उसके सारांशों को विश्व की विभिन्न बारह सौ भाषाओं में छापते हैं। अभी हाल ही में एक ही वर्ष में यूनाइटेड बाइबल सोसायटी के साथ मिलकर हमने सारे विश्व में एक ही साल में १५,००,००,००० (पन्द्रह करोड़) प्रतियाँ (इन धर्मग्रन्थों की) बाँटी थीं।"[1]

संयुक्त राज्य में प्रोटेस्टैण्ट, पूर्वी आर्थोडोक्स, कैथोलिक्स के तेतीस गिरजाघर आयोगों के लिए 'राष्ट्रीय गिरजाघर परिषद्' सरकारी अभिकरण है। अमरीका में कोई भी नया बाइबल जोखिम बिना इसकी सहायता सफल नहीं हो सकता।

बाइबल प्रकाशकों और उनके बिक्री संगठनों द्वारा प्राप्त किए जाने-वाले अति प्रचुर लाभों के अतिरिक्त सभी कृस्ती-देश कृस्ती धार्मिक संगठनो को जीवन्त, स्पन्दनशील और सुख-सम्पन्न बनाए रखने के लिए विशाल धन-भण्डार प्रदान करते हैं ताकि उन संगठनों के माध्यम से कृस्ती जासूस, कृस्ती पादरियों-पुरोहितों के वेश में सम्पूर्ण विश्व में घुसपैठ कर सकें।

'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' के १३ दिसम्बर, १९७५ के अंक में वाशिंगटन, से भेजी गई एक प्रकाशित रिपोर्ट में कहा गया था : "सिनेटर मार्क हैटफ़ील्ड द्वारा कल जारी किए गए पत्राचार के अनुसार फ़ोर्ड प्रशासन की योजना है कि समुद्र-पार के देशों से जानकारियाँ प्राप्त करने हेतु केन्द्रीय गुप्तचर एजेन्सी (सी० आई० ए०) के कार्यों में सहायता हेतु पादरियों का उपयोग जारी रखा जाए।

"श्री हैटफ़ील्ड ने कहा कि वे आगे कार्रवाई पर रोक लगाने के लिए सोमवार को कानूनी कार्रवाई करेंगे। 'जब हम विदेशों में या अपने ही देश में धार्मिक क्षेत्र में काम करनेवाले धर्म-प्रचारकों को राजनीतिक और गुप्तचरी के कार्यों में लगाने हेतु सी० आई० ए० या अन्य सरकारी अभिकरण के उपयोग की अनुमति देते हैं,' श्री हैटफ़ील्ड ने वक्तव्य में कहा, 'तब हम गिरजाघर का उद्देश्य रोक देते हैं और संयुक्त राज्य की विदेश नीति तथा विश्वसनीयता पर कलंक, प्रश्नचिह्न लगा देते हैं।'

"श्री हैटफ़ील्ड ने अगस्त मास में सी० आई० ए० के निदेशक विलियम

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दी वर्ड', पृष्ठ ८२-८३।

कोलबी को और सितम्बर में राष्ट्रपति फ़ोर्ड को इन गतिविधियों को रोक देने के लिए पत्र लिखे थे।

"श्री कोलबी ने उत्तर दिया कि विदेशी और स्थानीय दोनों ही प्रकार के पादरी, पुरोहित एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और सी० आई० ए० के माध्यम से संयुक्त राज्य के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं तथा ऐसा करने में उनकी निष्ठा व उनके धर्मोद्देश्य पर भी कोई आँच नहीं आएगी।" उसने कहा, "एक निरंकुश प्रतिबन्ध तो गलती होगी और अभिकरण के लिए बाधक होगा जिससे उसकी प्रभावकारिता उस हद तक घट जाएगी जो परिस्थितियों की वास्तविकताओं के अनुसार उचित नहीं होगी।"

गोवा की स्वतन्त्रता सेनानी समिति, बम्बई के सचिव श्री मुसोलिनी मेनज़ीस ने 'धर्म-भास्कर' पत्रिका के मार्च, १९७८ के अंक में लिखा था कि, "गिरजाघरों के पादरियों का राष्ट्रीय संस्थाओं के अस्थिर करने की गतिविधियों में सी० आई० ए० के साथ दुरभि-सन्धि करना, उनके षड्यन्त्र में शामिल हो जाना राष्ट्रीय गौरव का अपमान और स्वतन्त्रता-सेनानियों के रक्त, पसीने और बलिदानों को पैरों तले कुचल देना है। सरकार को विदेशी धर्म-प्रचारकों और उनके साथ सम्बन्धित स्थानीय पादरियों की इन कार्रवाइयों पर रोक लगानी चाहिए।"

बम्बई की साप्ताहिक पत्रिका 'ब्लिट्ज़' ने अपने ११ सितम्बर, १९७६ के अंक में कलकत्ते की खबर देते हुए लिखा था कि, "तराई के हिमालयी पहाड़ी क्षेत्र में, नक्सलबारी के चारों ओर जहाँ माओ-उग्रवाद ने नौ वर्ष पहले जन्म लिया था, खतरनाक परिणामों सहित विदेशी ईसाई धर्म-प्रचारकों की गतिविधियों में अचानक बढ़ावा आ गया है। कूटनीतिक माध्यमों से सीधे ही धन, रुपया-पैसा अन्धाधुंध पानी की तरह बहाया जा रहा है। दिखावटी प्रत्यक्ष राहत-कार्य और गरीबों व जरूरतमंदों की सहायता के पीछे रात्रिकालीन दावतें आयोजित की जाती हैं जहाँ आमोद-प्रमोद के लिए सेना के अधिकारियों को आमन्त्रित किया जाता है।"

यदि संयुक्त राज्य अमरीका भी, जो तुलनात्मक रूप से एक नया राष्ट्र ही है, अन्तर्राष्ट्रीय जासूसी-गुप्तचरी के लिए क्रुस्ती-गिरजाघर (चर्च) का खुलकर उपयोग कर रहा है तो यह प्रत्यक्षतः स्पष्ट, स्वयंसिद्ध है कि इसने

किसी/किन्हीं पुराने बुजुर्ग कृस्ती राष्ट्रों से ही संकेत/मनोभाव ग्रहण किया है।

अमरीकी सी० आई० ए० प्रधान द्वारा राजनीतिक गुप्तचरी के उद्देश्य से कृस्ती गिरजाघर और उसके कर्मचारियों का उनको सौंपे गए विदेशों में उपयोग किया जाना पूर्णत: सहज, स्वाभाविक कहा जाना, आश्चर्यचकित करनेवाला नहीं है। श्री कोलबी ऐसा कहते हुए प्रतीत होते हैं कि कृस्ती-गिरजाघरों को अन्य प्रकार की कोई उपयोगी भूमिका निभाने के लिए है ही नहीं। चूँकि कोई जीसस हुआ ही नहीं, इसलिए कोई ऐसा वास्तविक धार्मिक सन्देश है ही नहीं, जिसे विश्व को देना हो या उसका प्रचार करना हो। यदि इसे कोई प्रत्यक्ष या उपयोगी कार्य ब्रह्म-विज्ञानी, धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में करना ही नहीं है, तो किस बात की नुक्ताचीनी करना यदि अपने भयंकर, भयोत्पादक ताने-बानेवाला, चुपचाप और निष्ठापूर्वक कार्य करने के लिए प्रशिक्षित विपुल जन-शक्तिवाला और अपने विशालकाय वित्तीय स्रोतों-साधनोंवाला यह महाकाय गिरजाघर (चर्च)-संस्थापना देशभक्तिपूर्ण गुप्तचरी में, विशेष रूप में गैर-कृस्ती देशों में काम में लाई जा रही है?

श्री कोलबी द्वारा बलपूर्वक अभिव्यक्त विचार की प्रत्यक्षत: पुष्टि पश्चिमी विश्व के कृस्तियों की विशाल बहुसंख्या करती है। यह इस तथ्य से साफ है कि वे सरकारी गुप्तचरी हेतु चर्च-संस्थापना के उपयोग को न केवल अपनी मौन स्वीकृति ही देते हैं बल्कि बहुत बड़ी धनराशि जमा करते रहते हैं जिससे अन्य अनेक कृस्ती संगठनों को चलाए रखा जाए, उन्हें जन्म देते रखा जाए व पुष्ट, समृद्ध करते रहा जाए।

कृस्ती जनता द्वारा इस प्रकार की पुष्टि, समर्थन से दो उद्देश्यों की पूर्ति होती है—अर्थात् धर्म-परिवर्तन व गुप्तचरी। कृस्ती देशों की जनता व वहाँ के प्रशासक इससे अधिक और क्या चाह सकते थे?

तथापि किन्हीं बिरले अवसरों पर इन ईसाई-धर्म-प्रचारकों को मुँह की भी खानी पड़ी थी और उनका पासा पूरी तरह पलट गया था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बपतिस्मी धर्म-प्रचारकों के एक समूह ने कलकत्ते में धर्म-परिवर्तनकारी अपनी गतिविधियाँ प्रारम्भ कीं। उन्होंने एक अति धनाढ्य संस्कृत विद्वान् राजा राममोहन राय को प्रलोभित करने का प्रयत्न

किया। विलियम केरी इस कार्य के प्रमुख थे। दो धर्म-प्रचारकों—रेवरेंड विलियम ऐडम और येट्स को काम सौंपा गया कि वे राजा राममोहन राय को घेरने-घारने का प्रयास करें और उसको कृस्त-पंथ अंगीकार कर लेने पर तैयार कर लें। वे दोनों ही राजा राममोहन राय को सताना और इस बात पर विवश करना जारी रखे रहे कि वे उनसे ब्रह्म, देव-विज्ञान सम्बन्धी चर्चा, विचार-विमर्श जरूर करें। किन्तु राजा राममोहन राय को प्रलोभित कर सकने के स्थान पर स्वयं ऐडम ही उनकी श्रेष्ठता का कायल हो गया। सन् १८८२ में अपने मित्र एन० ब्राइट को लिखे एक पत्र में ऐडम ने अपराध स्वीकृति की थी कि वह स्वयं ही कृस्ती-पंथ और कृस्त (क्राइस्ट) को त्याग चुका था। इसके स्थान पर वह अब वेदान्तवाद के प्रचार में जुट गया था। ऐडम ने लिखा : "मैं राजा राममोहन राय को अपने धार्मिक मत, सिद्धान्त के प्रति विश्वास दिलाने के लिए उनके साथ बार-बार चर्चाएँ करता था जिनमें श्री येट्स भी मेरे साथ होते थे। श्री राय द्वारा सुझाए गए जीसस क्राइस्ट के बारे में कुछ सन्देहों को कई मासों से मैं भी अनुभव करने लगा हूँ और श्री येट्स को भी इस विषय में कठिनाइयाँ अनुभव होने लगी हैं। मुझे यह मानने, स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि मैं अपने सिद्धान्त, मत के बारे में प्रस्तुत किए गए उन वजनदार एतराजों को दूर करने में असफल रहा हूँ, जो इसके पक्ष में दिए गए तर्कों की तुलना में, मुझे राई के समक्ष पर्वत मालूम पड़ते हैं।"[1]

तथापि ऐसे मौके, अवसर बिरले ही थे जब कोई प्रभावशाली भारतीय, महान् ब्रिटेन जैसी शाही कृस्ती-सत्ताशक्ति के उन प्रयत्नों को चुनौती दे सके, उन्हें विफल कर सके जिनमें पहले उक्त व्यक्ति को एक कृस्ती के रूप में प्रविष्ट, भर्ती किया जाए और फिर उसका उपयोग एक अभिकरण, एजेण्ट के रूप में किया जाए। बहुत ही नगण्य, बिरले लोगों में अति सूक्ष्म किन्तु निरन्तर होनेवाले शाही धार्मिक प्रहारों को विफल कर सकने की इच्छा-शक्ति, दृढ़ता और विद्वत्ता होती है।

---

१. मिस सोफ़िया कालेट लिखित 'राजा राममोहन राय का जीवन और पत्र', पृष्ठ ६८।

जीसस कभी सचमुच हुआ था या नहीं—इस तथ्य से पक्की व्यापारिक बुद्धिवाले व्यक्ति को कोई लेना-देना नहीं। वे बाइबल को चिरस्थायी बिक्री-वाली पुस्तक और इसीलिए गारंटीशुदा धनोत्पादक वस्तु समझते हैं। युद्धोपरान्त ध्वस्त जर्मनी के कई व्यापारी-वर्ग बाइबल-मुद्रण और विक्रय द्वारा धनार्जन में लग जाने हेतु सहभागी हो गए। एक जर्मन व्यापारी हेनिंग ने कहा बताते हैं : "उत्तरजीविता, जीवित बने रहने की भाषा धन, कठोर (श्रम से अर्जित धन) और बहुत सारा धन है। मैं बाइबल-मुद्रण के कार्य में सिर्फ इसीलिए गया, लगा क्योंकि बाइबलों के लिए बहुत बड़ा बाजार उपलब्ध है। इस क्षेत्र में बहुत धन, बहुत अधिक धन और खर्चीली/महँगी बाइबलों में बहुत अधिक लाभ थे।"[1]

चूँकि बाइबल मुद्रण और विक्रय एक गारंटीयुक्त धन-अर्जक है जब तक कृस्ती-पंथ चलेगा, इसलिए इस घालमेल में जिसकी भी कुछ सत्ता है, वह नई रुचि उत्पन्न कर बाइबल की बिक्री बढ़ाने के लिए कोई-न-कोई नई खोज कर चुकने की मनगढ़न्त बातों की सृष्टि करते रहते हैं।

ऐसा प्रत्येक संस्करण लाखों/करोड़ों की संख्या में गिरजाघरो, मठ-वासिनियों, मठों, अध्ययन-दलों, समितियों, संघों, संगठनों, निजी घरों, अनाथालयों, सरकारी अभिकरणों और पुस्तकालयों को या उनके माध्यम से बेचा जाता है। उदाहरण के लिए, हालैंड में 'डच रिफौर्म्ड चर्च' नाम से एक ऐसा ही संगठन है। दूसरी ओर, दि रैडिकल रिफौर्म क्रिश्चियन मूवमैंट' (आर० आर० सी० एम०) ने अपनी शाखाओं का जाल सारे विश्व में फैला रखा है।

बाइबल प्रकाशन की पृष्ठभूमि में उद्देश्य "घृणित और पापपूर्ण, दोनों, ही हैं"। प्रकाशकों का प्रयोजन तो मात्र, शुद्ध लाभार्जन ही है। रूढ़िवादी धर्मशास्त्रियों के लिए प्रयोजन है लाखों/करोड़ों लोगों का ध्यान सांसारिक सुधार से हटाना, उनको सम्मोहित या भयाक्रान्त करके कर्मकांडी रहस्य-वादी स्वप्निल गिरजाघर (चर्च) की पुरानी निराशाजनक स्थिति में वापस

१. मिस सोफ़िया कालेट लिखित 'राजा राममोहन राय का जीवन और पत्र', पृष्ठ ६५५।

पहुँचा देना।"[1]

'डच रिफौर्म्ड चर्च' के सदस्य लगभग पचास लाख प्रोटेस्टैण्ट १४६ यजमानी के माध्यम से ग्यारह प्रान्तों में बिखरे हुए हैं। वे धर्मसभा के लिए ५४ प्रतिनिधि चुनते हैं।

"जिनेवा स्थित विश्व गिरजाघर परिषद् ६० राष्ट्रों से २३० प्रोटेस्टैण्ट, और्थोडौक्स (रूढ़िवादी), एंग्लीकन गिरजाघरों से निर्मित, संगठित है। इन गिरजाघरों के विश्व-भर में ४०,००,००,००० (चालीस करोड़) सदस्य हैं। रोम से बाहर यह विश्व परिषद् ही एकमेव धार्मिक संगठन है जो वेटिकन के समतुल्य कुछ सत्ता और नियन्त्रण रखता है। फिर भी, सन् १९४८ में लन्दन में इसकी स्थापना, रचना होने के बाद से आज तक यह किसी भी प्रकार वेटिकन से नहीं मेल खाती…भिन्न-भिन्न सामाजिक और जातीय पृष्ठभूमियोंवाले, अन्तर-गिरजाघर संवाद चाहनेवाले, कृस्ती-एकता की आकांक्षा रखनेवाले आस्था-विश्वास और सामान्य सामाजिक कार्य के लिए सहमति का यत्न करनेवाले अलग-अलग गिरजाघरों की यह परिषद् एक ढीली-ढाली असंगठित संस्था, संगठन है। इसकी तीसरी धर्म-सभा भारत में हुई थी। इसकी सभाएँ हर पाँचवें या छठे वर्ष होती हैं। इस बीच इसकी नीतियों का अनुपालन एक केन्द्रीय समिति और एक कार्यकारिणी समिति द्वारा किया जाता है। इस संगठन में दो सर्वाधिक सक्रिय पद, स्थान महामंत्री (जनरल सेक्रेटरी) और अध्यक्ष के हैं। महामंत्री पूर्णकालिक, सवेतन पद है जबकि अध्यक्ष अवैतनिक पद है। इस जोड़े में से महामंत्री, जो जिनेवा-स्थित २०० कर्मचारियों का प्रमुख, शीर्षस्थ है, जो सदस्य-गिरजाघरों के बीच सम्पर्क अधिकारी होता है, जो परिषद् की ओर से बाह्य संसार, विश्व से कुछ कहता, करता है—इसी महामंत्री का प्रभाव अधिक है।"[2]

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ८००।

२. वही, पृष्ठ ३०१-३०२।

अध्याय १३

बाइबल : छवि और प्रोत्साहन

जैसा हमने अभी तक स्पष्ट किया है, चूंकि जीसस-कथा का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, इसलिए क्रुस्ती-विश्व ने अपने अनुयायियों की संख्या में कमी के कारण इस मरणासन्न पंथ को आवधिक नव-प्रचार द्वारा जीवित, सचेष्ट रखने की जरूरत को समझा, अनुभव किया है। फिर भी एक समय के बाद, ऐसे प्रोत्साहनों-प्रचार-विज्ञापनों के होते हुए भी जन-आस्था कम होने लगती है और एक बार फिर प्रचार-युद्ध की आवश्यकता प्रतीत होती है जो क्रुस्ती-पंथ के प्रचार-प्रचार के लिए अत्यन्त सहायक, उपयोगी सिद्ध होती है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इस प्रवीणता, पटुता की कोई कमी नहीं है। आधुनिक विश्व पर प्रभुत्व करनेवाले क्रुस्ती-प्रशासन समय-समय पर कोई कफन या कब्र या पटेरा या संकेत यहाँ या वहाँ मिल जाने की नई-नई कहानियों को प्रेरित, प्रचारित करने के लिए पर्याप्त धन-स्रोतों की व्यवस्था कर लेते हैं। ऐसा महसूस किया जाता है कि इस प्रकार के प्रचार-कौतुक नए धर्म-परिवर्तितों की आस्था को पुनः प्रतिष्ठित करते हैं और अन्य सहायक नए प्रत्युत्पन्न साक्ष्यों से पुराने अनुयायियों को जीसस की ऐतिहासिकता में विश्वास जमा देने का कार्य करते हैं। यह भी विचार है कि ऐसी प्रचार-प्रतियोगिताएँ गैर-क्रुस्ती विश्व की उत्सुकता भी जाग्रत् करती हैं और उनके ऊपर क्रुस्ती-पंथ की जीवन-शक्ति, ओजस्विता का प्रभाव डालती हैं।

ऐसा ही एक आधुनिक प्रयास, जो सम्पूर्ण शोर-शराबे, आडम्बर और प्रारम्भ किए जाने के अवसर पर विशाल धनराशि व्यय किए जाने के बाद भी टाँय-टाँय फिस सिद्ध हुआ, ईर्विग वालेस द्वारा लिखित 'दि वर्ड' शीर्षक

उपन्यास का सार-तत्त्व है।

रॉबर्ट लेब्टुन नामक एक खास व्यक्ति ने, यह जानते हुए कि जीसस की कथा को लेशमात्र आधिकारिकता भी प्रदान करनेवाला साक्ष्य कृस्ती-पंथ में निहित स्वार्थ रखनेवाले लोगों/संगठनों से भारी रकम दिलवा सकता है, ऐसे एक नकली, जाली, झूठे साक्ष्य को प्रस्तुत करने का निश्चय, निर्णय कर लिया। धन बटोरने के अतिरिक्त लेब्टुन की मंशा धर्म के सभी छल-कपटों का बदला लेना भी था'''एक दयालु संरक्षक, त्राता के बारे में झूठी बकबक सहित'''। मैंने अपनी योजना बना ली'''सभी कृस्ती विक्रेताओं के विरुद्ध सांघातिक प्रहार'''।[1]

लेब्टुन बताता है : "मेरी जालसाजी में हर धारणा, विचार किसी-न-किसी प्राचीन सूत्र पर आधारित था। ये वही सूत्र हैं जिन्होंने आजकल के ब्रह्म-ज्ञानियों और नव-विधान के विद्वानों को आकर्षित, प्रलोभित किया है कि वे क्राइस्ट के जीवन-प्रसंगों का पुनर्निर्माण कर सकें, निगमन और तर्क-मीमांसा द्वारा रिक्तियों को भर सकें, काल की पृष्ठभूमि की व्याख्या के माध्यम से और सिद्धान्त निश्चित करके सभी अभावों, शून्यों की पूर्ति कर सकें। आधुनिक बाइबल-विशेषज्ञ जानते हैं कि वर्तमान चार सुसमाचार-ग्रंथ तथ्यात्मक इतिहास नहीं हैं। ये चारों सुसमाचार-ग्रंथ इकट्ठे कर दिए गए मिथक, काल्पनिक पाखण्ड हैं। किसी गुम हुए सुसमाचार-ग्रंथ की खोज द्वारा ये चारों सुसमाचार-ग्रंथ स्वयं को सत्य सिद्ध हो जाने की अपेक्षा कोई अन्य चाहना करेंगे ही नहीं।"[2]

कई बार वे ही व्यक्ति "जो झूठ, अफवाह का साक्ष्य चाहते थे और जिन्होंने गिरजाघरों की भीतरी सड़ांध व धर्म के घृणित, स्वार्थपूर्ण पक्ष का भंडाफोड़ करने की दिल से कसमें खाई थीं'''पादरियों के अभिकरण, एजेण्ट निकले जो सत्य को अपने नियंत्रण में लाने के लिए प्रयत्नशील थे व इस सत्य को सदैव के लिए दफना देना चाहते थे जिससे वे अपना मिथक, मिथ्यावाद सदा के लिए जीवित रख सकें।"[3]

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ४५८-४५६।

२. वही, पृष्ठ ४६५।

३. वही, पृष्ठ ४४६।

स्वयं इस बीसवीं शताब्दी में भी, आधुनिक प्रचार-माध्यमों ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर, बड़ी धूम-धाम, शोर-शराबे के साथ किसी-न-किसी नई बाइबल-सम्बन्धी उपलब्धि की घोषणा की है। किन्तु सूक्ष्म समीक्षा, जांच-पड़ताल के बाद हर नई उपलब्धि को रद्द और विस्मृत कर दिया गया क्योंकि यह या तो नकली, अप्रामाणिक सिद्ध हुई अथवा इसने जीसस की ऐतिहासिकता या उसके जीवन से सम्बन्धित किसी घटना, प्रसंग के बारे में कोई पक्का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।

इर्विंग वालेस का 'दि वर्ड' शीर्षक उपन्यास एक ऐसी ही आधुनिक उपलब्धि के प्रति समर्पित है जिसने विद्वानों, धर्म-पुरोहित-पादरियों और प्रकाशकों में काफी उत्तेजना उत्पन्न कर दी थी। वे इकट्ठे होकर पूर्ण गुप्त रूप से कार्य में जुट गए जिससे वे एक दिन अकस्मात् कृस्ती-विश्व को चकित, भौचक्का कर दें उस माध्यम से, जिसे वे सोचते थे कि वह, जीसस के अपने भाई की लिखित साक्षी थी। उपन्यास का नायक स्टीव रैनडल उक्त परियोजना में एक विज्ञापन, प्रचार विशेषज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु धीरे-धीरे वह संदेह करने लगता है कि जीसस के अपने भाई द्वारा लिखित उक्त तथाकथित सामग्री भी आधुनिक जालसाजी हो सकती है। अन्य लोगों से भिन्न रैनडल, एक झूठी मनगढ़न्त खोज से बहुत धन कमा लेने के प्रलोभन पर नियंत्रण कर लेता है। वह जालसाज से स्वयं अपराध स्वीकार करा लेने के बाद निश्चय करता है कि इस जालसाजी का भंडाफोड़ कर दिया जाए। किन्तु विद्वानों और पादरियों सहित भारी धन-भंडार उत्पादक-संघ के अन्य सदस्य उक्त नायक को जेल में ठूँस देने के लिए अन्य मार्ग अपनाते हैं, अपनी चालाकी से बाजी जीत जाते हैं और उसे ठग लेते हैं।

उक्त उपन्यास में इस तथाकथित उपलब्धि, खोज का वर्णन निम्न-लिखित शब्दों में किया गया है : "छः वर्ष पूर्व, रोम के विश्वविद्यालय के एक सर्वाधिक सम्मानित पुरातत्त्व-शास्त्री प्रोफेसर आगस्टो मोण्टी प्रथम शताब्दी में प्राचीन रोम के महान् व्यापारिक सागर-बन्दरगाह (समुद्रपत्तन) ओस्शिया के प्राचीन नगर के ध्वंसावशेष-ओस्शिया अंटिका के निकट खोद रहे थे···एक गहरी खुदाई में उनको प्राचीन रोमन विल्ला के ध्वंसावशेष

मिल गए। प्रोफेसर मोण्टी ने अपनी अविश्वसनीय खोज कर ली···उनको एक रोमन-पत्थर का प्राचीन खण्ड मिला, जो वास्तव में एक मूर्ति का ग्रेनाइट आधार था जिसे खण्डित कर दिया गया था, अन्दर से खाली-खोखला किया गया और फिर डामर लगा-पोतकर पुनः सील बन्द कर दिया गया था। इसके अन्दर दो अभिलेख, दस्तावेज थे···छोटावाला दस्तावेज—खस्ता हालत में—चर्मपत्र के पाँच टुकड़ों में था—(यह) ग्रीक (यूनानी) भाषा में जरुस्लम में पोण्टियस पीलेट के रक्षकों के कप्तान—पेट्रोनियस द्वारा रोम में प्रीटोरियन रक्षकों के प्रमुख लूसियस एलियस सेजानस को लिखी गई संक्षिप्त रिपोर्ट है। यही व्यक्ति जिबेरियस सीजर के नाम पर साम्राज्य पर शासन करता था। बड़ावाला दस्तावेज···पटोरा के २४ काफी बड़े टुकड़ों में था···जो अरेमाइक लेखन में था।"[1] इसमें समाविष्ट सामग्री प्रत्यक्षतः जीसस के अपने ही भाई जेम्स द्वारा ईसा-पश्चात् ६२ में फाँसी चढ़ने से पूर्व ही लिखायी गई थी। इस तथाकथित खोज की मंशा यह सुझाने की प्रतीत होती थी कि जीसस के भाई जेम्स को दैवी-प्रेरणा से यह आभास होने पर कि भावी पीढ़ियाँ जीसस के अस्तित्व पर ही शंका करेंगी उसने यह अच्छा समझा कि इस बारे में पहले ही विवरण लिखकर रख दिया जाए। कृस्ती-बाइबल व्यापार की बृहद व्यापकता इसी एक तथ्य से आँकी जा सकती है कि "इस समय विश्व-भर में लगभग १,२०,००,००,००० (इतनी) तो केवल कृस्ती-साध्वी ही हैं।"[2]

ओस्शिया अंटिका उपलब्धि (?) भारी लाभ उठाने के लिए बाइबल के भारी व्यापार द्वारा प्रयुक्त नवीनतम थी। इससे पूर्व सुसमाचार-ग्रंथों में से प्राचीनतम टुकड़ा यूनानी भाषा में लिखा हुआ ३½"×२½" इंच आकार में जोह्न का सुसमाचार-लेखन था जो मिस्र देश में कूड़ा-करकट के एक ढेर पर पाया गया था और ईसा-पश्चात् १५० से पहले ही लिखा गया था। यह इस समय जोह्न रीलैंड पुस्तकालय, मानचैस्टर में रखा हुआ है। इसके पश्चात्, हमें कुछ नव-विधान पटोर-पत्र प्राप्त हैं जो लन्दन में रहने वाले एक

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ७३।

२. वही, पृष्ठ १०६।

अमरीकी ए० चैस्टर बीएट्टी को उपलब्ध हुए थे और कुछ ऐसे ही दस्तावेज वे हैं जो एक स्विस बैंकर मार्टिन बोडमर को मिले थे, जिनका काल-निर्धारण ईसा-पश्चात् २०० के आसपास है।"[1]

पाँच सौ पटोर और भेड़-चर्म नामावलियाँ जो ईसवी सन् १९४७ में कुमरान में खिरबट के पास मिली थीं, सामान्यतः 'मृत सागर सूचियों' के नाम से जानी जाती हैं।

महत्त्व की दृष्टि से दूसरी उपलब्धियाँ 'कोडेक्स सिनाईटिकस' हैं जो सन् १८५९ में सिनाई शिखर पर सेंट केथेराइन के मठ में मिली थीं। यह यूनानी भाषा में नव-विधान की चौथी शताब्दी की एक प्रति थी। यह सन् १९१७ की साम्यवादी क्रांति होने तक रूस में ही थी। बाद में इसे बर्तानवी सरकार ने खरीद लिया था।

इसके बाद स्थान है उन १३ नाग हम्मादी पटोरी-खण्डों का जो लक्सर के उत्तर-पश्चिम में लगभग ७० मील की दूरी पर नील पर विकसित एक आधुनिक उपनगरी नाग हम्मादी के निकट गबेल-एल-तारीफ की ओर खड़ी चट्टान पर एक गुफा में मिले थे। ये पटोरी पाण्डुलिपियाँ, जो प्राचीन यूनानी और मिस्री भाषा की खिचड़ी भाषा में लिखी हैं, सन् १९४६ में मिली थीं। इस उपलब्धि को तुरन्त यूनेस्को-स्तर दिया गया, मिस्र देश की सरकार को भी इसमें साथ ले लिया गया और 'एंटीक्वीटी एण्ड क्रिश्चियनिटी' हेतु 'क्लेअरमोंट इंस्टीच्यूट' नामक अमरीकी प्रतिष्ठान ने अग्रतसत्रय को पूर्ण कर दिया। इन सबने मिलकर सन् १९७० में एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति बना ली जिसका काम एक अति गहरे भंडारक पात्र (ज़ार) में दबी मिलीं प्राचीन चर्म-बँधी पुस्तकों के संकलन को पुनः मिला-जुलाकर उसका एक प्रतिलिपि-संस्करण प्रकाशित करना था।

क्या ये सब भी ओस्शिया अंटिका दस्तावेजों जैसे ही किन्हीं स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा एक बड़ी खोज की प्राप्ति/उपलब्धि के रूप में घोषणा करने के लिए स्वयं ही वहाँ रख दिए गए थे—कोई भी व्यक्ति स्वयं ही कल्पना कर सकता है।

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ११५।

किन्तु ओस्शिया अंटिका के मामले से विश्व की जनता को इस सम्भावना के प्रति सतर्क, जागरूक हो जाना चाहिए कि निहित स्वार्थवाले व्यक्ति 'प्राचीन लिखित वस्तु' की सृष्टि/रचना कर सकते हैं, प्राचीन स्थलों पर उन्हें आरोपित कर सकते हैं, फिर किन्हीं धर्म-ज्ञानियों को इनका भेद स्वयं ही दे सकते हैं और फिर कुछ-कुछ वर्षों के बाद बड़ी भारी उपलब्धि कर लेने की घोषणा भी कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रस्फोटों, धमाकों के दो प्रयोजन हैं—धन कमाना और कृस्ती-पंथ को एक सजीव, प्रगतिशील धर्म के रूप में प्रस्तुत करना जिसके चारों ओर एक चमत्कारी प्रभामण्डल है ताकि अधिकाधिक जनता अपना धर्म-परिवर्तन कर ईसाई, कृस्ती बन जाए जिससे एक दिन विश्व-भर में कृस्ती-पंथ की बाढ़ आ जाए और जैसे इसने शक्तिशाली रोमन साम्राज्य को अपने में समा लिया, उसी प्रकार यह किसी दिन सम्पूर्ण विश्व को लील जाए, अपने में भस्मसात् कर ले। ऐसी सम्भावना से पूरी तरह इंकार भी नहीं किया जा सकता।

नाग हम्मादी खण्डों में ११४ कथन हैं जिनका श्रेय जीसस को दिया जाता है। स्पष्ट है कि ये कथन किसी व्यक्ति द्वारा जीसस के कल्पित काल के चार शताब्दियों बाद आरोपित कर दिए गए थे।

एक अन्य प्राचीन कृस्ती धर्मग्रंथ 'महान् बाइबल' (ग्रेट बाइबल) संस्करण समझा जाता है जो ईसा-पश्चात् ३५० के आसपास 'कोडेक्स वेटिकेनस' के नाम से लिखित व ज्ञात है। यह वेटिकन पुस्तकालय में रखा हुआ है। इसका उद्भव, मूल ज्ञात नहीं है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्राचीन बाइबल पाण्डुलिपि वह है जो लन्दन में ब्रिटिश संग्रहालय में है। यह 'कोडेक्स अलैक्ज़ेन्ड्रियस' के नाम से ज्ञात है। यह यूनानी भाषा में वीलम पर पाँचवीं शताब्दी से पूर्व की लिखित है। कोन्स्टैण्टी नोपाल के प्राधिधर्माध्यक्ष ने इसे सम्राट् चार्ल्स I को सन् १६२८ में सौंप दिया था, भेंट कर दिया था।

कोडेक्स शब्द लेटिन भाषा के काऊडेक्स शब्द से व्युत्पन्न है जो वृक्ष के तने का द्योतक है जिससे मोम-लगी लेखन-गोलियाँ प्राचीन समय में बनाई जाती थीं।

कृस्ती-पूर्व युग में, पटोरा या चर्मपत्र के गट्ठर, बंडल लिखने के लिए

काम में लाए जाते थे किन्तु वे पाठक के लिए दुष्कर, असुविधाजनक होते/समझे जाते थे।

अन्य तीन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में एक खोज सेंट पीटर की कब्र की है जो वेटिकन के नीचे ३० फीट एक प्राचीन कब्रिस्तान में मिली थी। यद्यपि इसे भी एक महान् खोज के रूप में प्रख्यात किया गया था, फिर भी कोई निश्चित तथ्य नहीं है कि यह वास्तव में सेंट पीटर की कब्र ही है। यह तो किसी की भी कब्र हो सकती है। यदि वहाँ दफनाए गए व्यक्ति का नाम पीटर ही था तो भी पीटर नाम के तो असंख्य व्यक्ति हो सकते थे।

एक अन्य खोज निर्मात्री ठप्पे की थी जो ईसा-पश्चात् ३७ से पूर्व सम्राट् टाईबेरियस को समर्पित संरचना में प्रयुक्त होता था। उक्त सम्राट् का नाम और उपाधि पोण्टियस पीलेट थे। यह खोज (?) सन् १९६२ ई० में इस्रायल में हुई थी।

सन् १९६८ में एक और 'महान् खोज' सामने आई। यह जरुस्लम में गिवाथा-मिवतार में 'प्राप्त' एक पत्थर की शवपेटिका थी। शवपेटिका के भीतर 'येहोहानन' नामक व्यक्ति, पुरुष का ढाँचा, पंजर था क्योंकि उक्त शवपेटिका पर अरेमाइक भाषा में यही नाम खुदा हुआ था। यह उपलब्धि 'महान्' समझी गई थी क्योंकि (जैसी धारणा थी) यह २००० वर्ष पुराना अस्थि-पंजर एक सूली-दण्डित व्यक्ति का प्रथम साक्ष्य था। सात इंच लम्बी कीलें इस अस्थि-पंजर के प्र-बाहुओं और एड़ियों की हड्डियों के आर-पार गड़ी हुई पाई गई थीं। किन्तु यदि प्रथम शताब्दी में सूली-दण्डित करना और दफनाना प्रचलित था, तो क्या कारण है कि मात्र एक ही ऐसा अस्थि-पंजर अभी तक मिल सका है? क्या ऐसा भी हो सकता है कि रॉबर्ट लेबटन जैसे किसी व्यक्ति ने नाटकीय ढंग से एक ऐसा अस्थि-पंजर तैयार कर लिया जो सूली-दण्डित व्यक्ति जैसा दिखाई दे, शवपेटिका को किसी पुराने स्थल पर रख दिया और फिर धूर्ततापूर्वक किसी को संकेत कर दिया कि वह वहाँ खुदाई कर ले और यह उपलब्धि, खोज विज्ञापित कर दे।

पश्चिमी विद्वानों द्वारा अजन्मे, जाली आँकड़ों की 'प्राचीन खोजों' या विशद् लेखाओं की ऐसी शैक्षिक जालसाजियों से ग्रन्थों की भारी संख्या तैयार हो सकती है। यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि जीसस के बारे

में जो भी लिखा, पढ़ाया, प्रचारित और कल्पना किया जा रहा है वह सब बिना ऐतिहासिक आधार ही है। इसी प्रकार, काफी लम्बे समय तक किसी यूरोपीय कृस्ती लेखक ने प्रेस्टर जोह्न नामक एक शक्तिशाली यूरोपीय कृस्ती सम्राट् द्वारा एशिया में एक विशाल साम्राज्य पर शासन करने का मिथ्या प्रचार भी किया हुआ था। कुछ धूर्त व्यक्तियों ने इंग्लैंड में एक बार झूठी कहानी गढ़ ली थी और उसे एक अति प्राचीन समय के एक व्यक्ति के पिल्ट डाउन अस्थि-पंजर के रूप में प्रख्यात कर दिया था। कहा गया कि यह व्यक्ति कभी इंग्लैंड में रहा था।

कृस्ती-पंथ या बाइबल को जनप्रिय बनाकर लाभ उठानेवाले व्यक्तियों द्वारा प्रचारित किए जानेवाले अनेक कौतुकों में से एक है कि अमुक-अमुक स्थानों पर जाने से लम्बी बीमारियाँ या शारीरिक विकृतियाँ चमत्कारी रूप से दूर हो जाती हैं। कुछ लोग लौरडेस में 'अवर लेडी' देवालय गए थे, या सन् १९१७ में पुर्तगाल में 'अवर लेडी ऑफ़ फ़ातिमा' के दर्शन के समय तीन चरवाहे बच्चों ने बादल पर आरूढ़ आयुष्मती कुमारी (मेरी) के दिव्य-दर्शन किए बताते हैं, वह सुर्य से भी अधिक तेजस्वी थी; या फिर फ्रांस में लिसिउक्स का उपासनालय; या इटली में टूरिन प्रार्थना-भवन जहाँ तथा-कथित 'पवित्र कफन' रखा हुआ है; या मोण्टा अलग्रे, या सनेटा सेन्कटोरम चैपल जहाँ 'अवर लार्ड' के चित्र के सम्मुख प्रार्थना की जाती है—अनुमान, कल्पना है कि इस चित्र को किन्हीं भी मानव-हाथों ने नहीं बनाया था; और जहाँ कुछ विश्वासी भक्त अपने घुटनों के बल चलकर इसकी २८ सीढ़ियों पर चढ़ते हैं, या बेल्जियम में ब्यूरांग जहाँ पाँच बच्चों ने सन् १९३२ में दिव्य-दर्शन किए थे—माना जाता है; या इंग्लैंड में वालसिंघम ऐसे ही चमत्कारी स्थान कहे जाते हैं।

"एथेन्स के लगभग १५० मील उत्तर में एजीअन समुद्र के सीधे पार, ग्रीस में सुदूर पर्वतशृंखला में अपने ही ढंग से जीवनयापन करनेवाला 'अथोस' नामक एक तपोमय, मठवासी समुदाय है। यह एक लघु स्वशासी क्षेत्र है जिसमें कार्येस स्थित पवित्र धर्मसभा द्वारा शासित २० रूढ़िवादी यूनानी मठ हैं। उक्त धर्मसभा में प्रत्येक मठ का एक-एक प्रतिनिधि होता है। इसकी स्थापना एक हजार साल से पहले हुई थी, सम्भवतः नवीं शताब्दी

में एथेन्सवासी पीटर द्वारा की गई थी और यह एकमात्र कृस्ती-केन्द्र था जो इस्लामी या ओटोमन-शासन से बच सका। हमारी शताब्दी बदलते समय 'अथोस' के पर्वत-शिखरों पर लगभग ८,००० संन्यासी थे। आज लगभग ३,००० हैं—वे प्रार्थना करते हैं, वे भाव-समाधि खोजते-लगाते हैं, ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं। वे दिव्य-दर्शन की अभिलाषा रखते हैं। वास्तव में, दो पंथ/सम्प्रदाय हैं। एक पंथ मठवासी, रूढ़िवादी, मितव्ययी, दृढ़-संयमी, निर्धनता—शुद्धता—आज्ञाकारिता की शपथों के अनुरूप आचरण करनेवाला है। दूसरा पंथ आवर्तन-प्रणालीबद्ध, अधिक लोचपूर्ण, अधिक लोकतान्त्रिक, धन की अनुमति देनेवाला, निजी आधिपत्य, सुख-सुविधाओं को मान्य करनेवाला है। अथोस प्राचीन पाण्डुलिपियों का विशाल भण्डारगृह है···उनके पुस्तकालयों में कम-से-कम ५०,००० प्रतियाँ संकलित, संग्रहीत हैं।"[1]

यदि जीसस का वास्तव में कोई अस्तित्व होता, तो अथोस जैसे प्राचीन केन्द्र में, जहाँ मुस्लिम आक्रमणों का कोई स्पर्श, भय भी नहीं हुआ, एक नहीं बल्कि सैकड़ों दस्तावेज जीसस के हस्तलिखित या उसके परिवार के सदस्यों द्वारा लिखित तो मिल ही जाते। किन्तु अथोस में ऐसा एक भी अभिलेख/प्रलेख, दस्तावेज नहीं है। तथ्य रूप में तो, यदि ठीक प्रकार से खोज की जाए और पुरातत्त्वीय खुदाइयाँ की जाएँ तो अथोस में उन युगों के हिन्दू चिह्नों को भारी संख्या में उपलब्ध करा सकने की आशा है जब ग्रीस (यूनान) देश भगवान् कृष्ण, भगवान् शिव, सूर्य और अन्य भारतीय देव-देवियों की पूजा-आराधना करनेवाला हिन्दू देश था।

मठवासी-पंथ को 'सेनोबीटिक' पम्प कहते हैं। इसी की वर्तनी 'कोनो-बाइट' भी करते हैं। भगवान् कृष्ण का उसके बालसखा, मित्र 'कान्हा' या 'कोना' भी कहते थे। इसलिए 'कोनोबाइट्स' अर्थात् 'कोनोआइट्स' भगवान् कृष्ण के अनुयायी हैं जिनके साथ वे उनके साथ तादात्म्य करना चाहते हैं जैसे अन्य सभी कृस्ती-पंथी भी कृष्ण के अनुयायी ही हैं।

"नवीं शताब्दी से, (संन्यासियों द्वारा शुद्धता की शपथ खा लेने के

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ३४९-३५०।

कारण) कामवासना के प्रलोभन को कम करने के निमित्त, अथोस शिखर से महिलाओं को दूर रखा गया है। कीटाणुओं और तितलियों तथा जंगली पक्षियों के अतिरिक्त, जिन पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, हर जीव-धारी की मादा—स्त्रीवर्ग का अस्तित्व वहाँ वर्जित है। अथोस शिखर पर मुर्गे हैं किन्तु मुर्गियाँ नहीं, सांड़ हैं पर गौएँ नहीं, मेढ़ा हैं परन्तु मेढ़ी/भेड़ें नहीं। कुत्ते और बिलाव हैं किन्तु उनकी मादाएँ नहीं। जनसंख्या पूरी तरह मर्दानी, नरों की ही है। वहाँ किसी शिशु ने कभी जन्म नहीं लिया। अथोस शिखर बिना महिलाओं का भू-खण्ड है।"[1]

चूंकि बाइबल का आदर्श वाक्य "विवाह करो और संख्या बढ़ाओ" है, इसलिए पशुओं तक पर लागू पुरुष-लिंग-नियमन क्रस्ती-पूर्व आचरण है जो अथोस शिखर पर व्यवहार किया जा रहा है। हिन्दू-धर्म में कठोर इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् ब्रह्मचर्य एक अति मूल्यवान सिद्धान्त, नियम है जो विशेष हिन्दू-पंथों का आधारभूत सिद्धान्त है।

"जलवायु, आध्यात्मिक जीवन, ओषधीय सूखी झाड़ियों, जड़ी-बूटियों और पवित्र मूर्तियों के स्पर्श से प्राप्त शक्ति ने (अथोस संस्थापना के प्रमुख) अबोट पेट्रोपोलस को (आन्त्र-व्याधि से यन्त्रणा-पश्चात्) सामर्थ्य प्रदान कर दी है"[2]—वहाँ रहनेवाले एक साधु-संन्यासी ने बताया था।

ऊपर उद्धृत अवतरण में ओषधीय सूखी जड़ी-बूटियों और पवित्र मूर्तियों का सन्दर्भ अथोस शिखर के मठ के हिन्दूमूलक होने के हमारे विचार का समर्थन करते हैं क्योंकि हिन्दू ही हैं जो मूर्ति-पूजा करते हैं। उनकी प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली—आयुर्वेद भी मुख्य रूप से ओषधीय जड़ी-बूटियों पर ही आधारित है।

प्रधान अबोट का नाम और उपाधि भी संस्कृत है। अबोट में से शुरू का 'अ' अक्षर निकाल दो तो पुरोहित का अर्थ-द्योतक 'भोत' शब्द रह जाता है। इसी प्रकार पेट्रोपोलस नाम 'पितृ-पाल' अर्थात् पितृ या ज्येष्ठों का पालक, रक्षक हो सकता है या फिर पत्र-पाल अर्थात् पत्रों, प्रलेखों, पाण्डु-

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५५।

लिपियों आदि की देखभाल करनेवाला हो सकता है।

साधु-संन्यासी ने जो अंग-वस्त्र सबसे ऊपर पहन रखा था, उस पर एक खोपड़ी और हड्डियों की जोड़ी आड़ी-टेढ़ी सिली हुई थी। हिन्दुओं में अघोरी साधु लोग भी ऐसा ही चिह्न अंकित किए रहते हैं।

किन्तु जहाँ ऐसे कट्टर धर्म-परिवर्तित हैं जो अपने पूर्ववर्ती धर्म का परित्याग करके क्रुस्ती बन जाने की घोषणा न्यायोचित ठहराते हैं बिना जाँच-पड़ताल किए कि जीसस का कभी कोई अस्तित्व रहा भी था या नहीं, वहीं (अमरीकी) रेकर इंस्टीच्यूट के अध्यक्ष जिम मेक लोघलिन जैसे इकल्ले-दुकल्ले विरोधी, धर्मयोद्धा भी हुए हैं जिन्होंने बुराई, पाखण्ड का भण्डाफोड़ किया है। फ्रांसीसी लेखक एमिला ज़्रोला, टामस, पेने, हेनरी थोरियो और अभी हाल ही में लिंकन स्टीफ़ेन्स, राल्फ़ नाडेर, और उपटन सिनक्लेयर उन कुछ लोगों में से हैं जिन्होंने ढोंग-ढकोसले और जीवन के सभी क्षेत्रों में धोखा देने के विरुद्ध अभियान छेड़ा है।

रेक इंस्टीच्यूट ने, उदाहरण के तौर पर, कुछ खास अमरीकी उद्योगों और निगमों के मध्य एक अलिखित षड्यन्त्र का पता लगा लिया है जिसके अनुसार कुछ खोजों और उत्पादों को जनता की आँखों से ओझल, सदा दूर ही रखा जा रहा है। उन्होंने ऐसा साक्ष्य प्रकट कर दिया है कि बड़े व्यापार—तेल उद्योग, आटोमोबाइल उद्योग, वस्त्र उद्योग, इस्पात उद्योग—कुछ नाम काफी हैं—ने रिश्वत दी है, हिंसा भी की है जनता से एक सस्ती गोली छुपाकर जो गेसोलीन का पर्याय, विकल्प बन सकती है, एक टाई रोककर जो कभी खराब न हो, एक कपड़ा ओझल करके जो सारा जीवन उपयोग किया जा सके, एक माचिस जो हमेशा काम में आती रह सकती है...''[१]

इर्विंग वालेस की पुस्तक 'दि वर्ड' उन धोखेबाजों के पाखण्डी आचरण का भण्डाफोड़ करने में वही भूमिका निभाती है, जो चमत्कारों के बारे में अफवाहें प्रचारित करके क्रुस्ती-पंथ और बाइबल का प्रचार-प्रसार सम्वर्धित करना चाहते हैं। वे 'खोजों' की रचना करते हैं, उनको इच्छित स्थानों पर

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ४५०।

स्थापित करते हैं और फिर कृस्ती-पंथ की 'शक्ति' से लोगों को प्रभावित करने के लिए उनका प्रचार-प्रसार-विज्ञापन करते हैं और बाइबल की बिक्री से भारी मुनाफा कमाते हैं।

प्रचार, शक्ति-सत्ता, पद, धन, सम्मान, चमक-दमक और जासूसी सामर्थ्य के प्रति लोभ, आकर्षण ने लोगों को निहित स्वार्थों के उत्पादक-संघों में परिवर्तित कर दिया है। वे उत्पादक-संघ समय-समय पर कृस्ती-पंथ को संवर्धित करते रहने की आवश्यकता तीन भिन्न-भिन्न मुख्य कारणों से अनुभव करते हैं। एक कारण है कि कृस्ती-पंथ का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है, उसका अभाव है। कृस्ती-पंथ उस पॉल का मानस-शिशु, उसकी सृष्टि है जो अति उत्तेजनशील, शीघ्र क्रुद्ध हो जानेवाला और महत्त्वाकांक्षी होने के कारण स्वयं के लिए एक पृथक् पहचान, गौरव चाहता था। उसका साथ उसी युग के कुछ क्रुद्ध युवाओं ने दे दिया। वे संगठित हो गए और अ-नियमित रूप से शब्दाडम्बर, प्रलाप करने लग गए। ज्यों-ज्यों वर्षानुवर्ष बीतते गए, अन्य युवक लोग भी उनके साथ होते गए। पॉल, स्टीफेनस व अन्य लोगों का वह अ-संयमित विरोधी-स्वर कृस्ती-पंथ नाम से पुकारे जानेवाले नए धर्म का स्थायी खजाना हो गया। एक समीचीन, संगत, अनवरत, धर्म-ज्ञान, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय-विद्या और पौराणिकी के अभाव में कृस्ती-पंथ प्रायः निष्प्रभावी और निस्तेज होकर शून्य में लुप्त होने लगता है। इसे अस्त होने और हवा में विलुप्त हो जाने से रोकने के लिए इसे कृत्रिम रूप से सजीव, स्फुरित और पुनः उच्चासन पर प्रतिष्ठित करते रहना पड़ता है तथा यह उद्देश्य नई खोजों की घोषणाएँ करके पूरा किया जाता है। समय-समय पर कृस्ती-पंथ का संवर्धन करने का दूसरा कारण है बाइबल की बिक्री को बढ़ाने के अवसर प्रदान करना जिसके माध्यम से विशाल लाभ अर्जित हो सके। 'नई खोजों' को बढ़ाने, प्रोत्साहित करने का तीसरा मुख्य कारण नए कृस्ती-केन्द्र खोलना या विद्यमान केन्द्रों के प्रभाव-क्षेत्र को अधिक सुदृढ़, सामर्थ्यवान् और व्यापक बनाना है।

कृस्ती-पंथ को संवर्धित करने में कृस्ती-राष्ट्र एक बड़ी भूमिका निभाते हैं जिससे उनकी राजनीतिक तलवार मखमली कृस्ती-धार्मिक म्यान, आवरण में अ-लक्षित, बिना दिखाई दिए ही पड़ी रहे।

चूंकि कैथोलिक राष्ट्र वेटिकन के माध्यम से कार्य-संचालन कर सकते थे, इसलिए प्रोटेस्टैंण्ट राष्ट्रों ने अपना ही एक समानान्तर परन्तु लगभग उसी अनुपात में शक्ति-सम्पन्न और प्रभावपूर्ण गिरजाघरों की विश्व-परिषद् का एक संगठन निर्माण कर लिया। उन दोनों ने सम्पूर्ण विश्व को आपस में बाँट रखा है और धर्म-परिवर्तन, राजनीतिक दाँव-पेच व जासूसी हेतु एक सुरक्षित, सीधा-सादा, शंकाहीन, गैर-कर्णकटु, अ-कर्कश, रूप-परिवर्तित केन्द्र के रूप में निश्चिन्त हो कार्य करते हैं।

कहीं यह मार्ग अवरुद्ध हो जाए या इसकी गति शिथिल पड़ जाए, इसलिए पश्चिमी कृस्ती (ईसाई) देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय जासूसी के लिए अन्य आवरण भी बना रखा है। वे शैक्षिक-शोधों, पुस्तकालय-सेवाओं, विद्वानों का आवागमन, सामुदायिक जीवनयापन, पुरातत्त्वीय खुदाइयों या पर्वतारोहण-रुचियों के रूप में—छद्म-रूप में विद्यमान हैं।

कृस्ती-पंथ को समर्थन या उसका संवर्धन सम्पूर्ण कृस्ती-संसार को अत्यन्त लाभकारी होने के कारण सभी उत्प्रेरित स्वार्थी लोग कुछ सनसनीदार खोज बना लेने में खास ध्यान रखते हैं। कभी तो यह किसी एक स्थान पर कब्र होती है—उनको असंगति की तो लेशमात्र भी परवाह नहीं होती —और कभी अन्य स्थान पर एक कफन या प्राचीन पाण्डुलिपि या पटोरी या एक नया सुसमाचार-ग्रंथ या एक नया ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी सिद्धान्त होता है।

चूंकि पश्चिमी विश्व विश्वप्रचार-माध्यमों का एकाधिकार अपने अधीन किए हुए है और 'नई खोजों' की योजना बनाकर, उनकी सृष्टि और स्थापन करके—बड़ी भारी खोज विरली उपलब्धियों को हस्तगत कर लेने का पाखण्ड करते हुए और फिर उनका प्रचार-प्रसार, विज्ञापन करना अब देव-विद्या का व्यापारिक दैनंदिन कार्य पूरी तरह बन चुका है, अत्युन्नत व्यवसाय है।

किन्तु कृस्ती-पंथ के दुर्भाग्य से हर नया प्रोत्साहन एक निरुत्साह-कर्ता, अवमन्दक निन्दालेख सिद्ध हुआ है। किन्तु एक प्रारम्भिक स्फुरक के कारण ही यह विफल रहा और जल्दी ही भुला दिया गया। यह होना ही था। क्योंकि कृस्ती-पंथ ऐसे कौतुकों से कब तक अपना कृत्रिम 'जीवन' चालू रख

सकता है जबकि इसके शरीर से 'आत्मा' लुप्त हो चुकी है, 'आत्मा' वहाँ है ही नहीं। जिसे यह क्राइस्ट (कृस्त) घोषित, उच्चारित करता है वह हिन्दुओं का 'कृष्ण' है और जिसे यह 'सेवियर' (संरक्षक, त्राता) कहता है वह (प्रभु ईश्वर का अर्थ-द्योतक) हिन्दुओं का ईश्वर है। इसलिए, क्रिश्चियनिटी (कृस्ती-पंथ) का अपना विशिष्ट, भिन्न अस्तित्व है ही कहाँ ?

यदि इतिहास अपने को फिर दोहराएगा—जैसा कहा जाता है कि यह दोहराता ही है—तो कृस्ती-पंथ जो कृष्ण-पूजा से पृथक् अस्तित्व बना बैठा, पुनः उसी में समा जाएगा।

अध्याय १४

राजद्रोह का परिणाम

अध्याय ४ में समीक्षा करते हुए हम देख चुके हैं कि पॉल और स्टीफन जैसे अन्य विरोधी महत्त्वाकांक्षी नेताओं के दैनंदिन कार्यकलाप किस प्रकार अशुभ, अनिष्टसूचक और धमकियों की सीमाओं तक पहुँच गए थे।

उनमें से प्रत्येक में सर्वप्रथम यशस्वी हो जाने, नाम कमा लेने की अतृप्य प्यास ने ईश्वर के नाम में, जिसे वे संरक्षक, त्राता 'सेवियर' कहते थे समकालीन भारी भीड़ों के सम्मुख लम्बे-चौड़े भाषण देने शुरू कर दिए। उस दौड़ में जनोत्तेजक विशिष्टतावश पॉल सभी से आगे चलता प्रतीत हो रहा था। इस कारण पॉल से पिछड़ते सभी प्रतियोगियों ने उसके विरुद्ध एक सामान्य लक्ष्य बना लिया।

पॉल ने लोगों का बपतिस्मा कर उन्हें अपना अनुयायी बनाना शुरू कर दिया। नए धर्मान्तरित लोग अधिकांश रूप में यहूदी थे। उनके धर्मान्तरण ने उनको जुदाइज़्म—यहूदी-धर्म का दुश्मन बना दिया, ठीक उसी प्रकार जैसे भारत में विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा इसलाम में धर्म-परिवर्तित लोग हिन्दू-धर्म के कट्टर जानी दुश्मन बन गए।

यहूदी लोग न्याय्य-रूप से ही शंकित थे। उनके लोगों को न केवल समाप्त, निःशेष किया जा रहा था अपितु स्वधर्मत्यागी लोग यहूदी-धर्म के शत्रुओं के प्रबल पूर्वज बनते जा रहे थे। दूरदर्शी होने के कारण यहूदी लोग कृतसंकल्प थे कि इस नए खतरे को शुरू में ही समाप्त कर दिया जाए। उनकी ओर से हठी दुर्दान्त प्रतिरोध और पॉल का अपनी पृथक्तावादी गतिविधियों का दुराग्रह एक विस्फोटक स्थिति को जन्म न दे बैठे।

विद्रोह में सम्मिलित इन व्यक्तियों के विरुद्ध कठोर दण्डात्मक उपाय करने के अतिरिक्त रोमन-प्रशासन के पास कोई विकल्प शेष ही नहीं रहा

था। अनियंत्रित भीड़ को काबू करने के लिए बेतें लगाना और पत्थर मारना उनके नियंत्रक—प्रकार, उपाय रहे होंगे। सूली-दंड देना तो विरला कदम ही था। पुराने दफनाने के स्थलों की जाँच-पड़ताल ने तो कभी भी किसी सूली-दंडित मृत-पिंड को सामने नहीं लाया है।

ये राजद्रोही, बगावती लोग एक ओर तो कृष्ण-मन्दिर का नियंत्रण करनेवाले, अनुसारक यहूदियों से भयंकर बदला लेने की शपथें खा रहे थे, वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण रोमन प्रशासन के लिए ये विद्रोही व्यक्ति एक समर्थ, प्रबल चुनौती बन रहे थे। ज्यों-ज्यों दिन, मास और वर्ष बीतते गए, वे इतने ताकतवर दिखाई देने लगे कि पहले तो मन्दिर-व्यवस्था को चुनौती दे सकें और उसे पैरों तले रौंद सकें तथा बाद में उस प्रान्त के रोमन-प्रशासन पर अपना कब्ज़ा कर सकें। अतः यह एक पूरा राजद्रोह ही था। मार्क ने इस शब्द का प्रयोग ठीक ही किया है। आश्चर्य की बात ही है कि अभी तक इसका महत्त्व सभी इतिहास-लेखकों और विद्वानों की दृष्टि से किस प्रकार, किस कारण ओझल, वंचित रह गया।

एक लुटेरे और राजद्रोहियों में से किसी एक को छुड़वाकर बन्धन-मुक्त कराने का अवसर दिए जाने पर भीड़ राजद्रोहियों की अपेक्षा लुटेरे बारब्बास को छुड़ाने का आग्रह करके ठीक ही कर रही थी। स्पष्टीकरण प्रत्यक्षतः साफ है। एक लुटेरा अपेक्षाकृत रूप से कम जोखिम है सुरक्षा-दृष्टि से। वह एक बार में एक मकान ही तो लूट सकता था। उसमें भी उचित सतर्कता से उसे विफल किया जा सकता था। साथ ही छोड़ दिए जाने के बाद किसी लुटेरे को ठीक से पहचाना भी जा सकता था, और उससे लोग अपनी सुरक्षा स्वयं कर सकते थे। इसके विपरीत, विद्रोही लोग पूरे राज्य-शासन को डराते-धमकाते हैं, उनकी संख्या भी अनिश्चित होती है और उनके सदस्य पहचाने भी नहीं जा सकते।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वर्षों में जब तक कि कृस्ती लोगों ने विजय के माध्यम से सभी विरोधियों को पराजित नहीं कर दिया और सम्मान-अर्जित नहीं कर लिया था, तब तक उन्हें विद्रोहियों के रूप में निन्दित ही किया जाता रहा। प्रायः उनके विरुद्ध शिकायतें की जाती थीं, उन्हें बंदी बना लिया जाता था, मुकदमे चलते थे और फाँसी—सूलीदंड—

दे देते थे। मौत की सजा पाए कैदियों के रूप में उन्हें अपनी क्रूस (सूली) खुद ही ढोकर ले जानी पड़ती थी और उनको उसी सूली पर अन्त में लटका दिया जाता था। स्थापित व्यवस्था, सत्ता के विरुद्ध यह संघर्ष ही था जो ईशस कृष्ण (उच्चारण में—जीसस क्राइस्ट हो गया) के व्यक्ति रूप में जाना जाने लगा और 'क्रॉस' को उस अपूर्ण पश्चात्ताप के युद्ध के प्रतीक के रूप में ग्रहण कर लिया गया। इस प्रकार, क्रिश्चियनिटी के नाम से ज्ञात धर्म-विज्ञान की पृथक् से कोई आवश्यकता, गुंजाइश ही नहीं है। यह तो मात्र कृष्ण-मन्दिर को हथियाने और उस पर अपना नियंत्रण करने हेतु संघर्ष-गाथा ही है।

सार्वजनिक शान्ति के लिए खतरा होने के कारण यद्यपि मन्दिर-विवाद के नाम पर ही राजद्रोहियों को पकड़ा, बन्दी बनाया जा रहा था, तथापि वे लोग भी अपना संघर्ष आखिरी कटु परिणाम तक पहुँचा देने के लिए कटि-बद्ध थे। प्रत्यक्ष रूप में उनको भी जन-समर्थन मिल रहा था चाहे औचित्य के कारण हो या फिर किसी भी कारण, किसी अन्य से रुष्ट होने पर भी जनता इन्हीं के साथ हो चली थी। वे प्रत्यक्षतः प्रशासन का हाथ अपने पक्ष में कर देने के लिए उसे विवश कर देने पर तुले हुए थे। रोमन प्रशासन ने स्पष्टतः निजी कृष्ण मन्दिर-विवाद में बीच में पड़ने से संकोच करते हुए आन्दोलनकारियों को बंदी बनाकर कानून और व्यवस्था बनाए रखना ही श्रेयस्कर समझा।

इस पर रुष्ट, कुपित होकर विरोधी मन्दिर-धड़े ने वैसे ही 'कर न दो' आन्दोलन संचालित कर दिया जैसा लगभग १७०० वर्ष बाद अमरीकी बस्तियों ने करना था। आन्दोलन के इस चरण का सूत्र हमें मार्क १२ : १४-१७ में प्राप्त होता है जहाँ यह कहा गया है कि फरीसियों और हीरो-डियनों में से कुछ खास लोग जीसस से पूछते हैं : "सीज़र को कर देना क्या कानूनी है या नहीं ?"—"क्या हम उनका भुगतान करें या नहीं ?" जीसस उत्तर देता है : "जो चीजें सीजर की हैं, वे उसे दे दो और जो चीजें ईश्वर की हैं, वे ईश्वर को दे दो।" विरोध प्रदर्शनकारियों द्वारा यह एक जान-बूझकर दिया गया संक्षिप्त, सारगर्भित और रहस्यमय, पेचीदा उत्तर था। ऊपर से, प्रत्यक्षतः, इसका अर्थ था कि सभी देय-कर दे देने चाहिए किन्तु वास्तव

में उनका भाव यह था कि जो प्रेष्य धन उचित न समझा जाए, वह शासक और मन्दिर-व्यवस्था दोनों से ही रोक लिया जाए। इस प्रत्यक्ष अर्थ का आशय यह था कि जब आरोप लगाया जाए तो यह कानूनी सुरक्षा का काम करे।

जीसस पर मुकदमे सम्बन्धी लूके की रचना (२३ : २) में मुख्य पुरोहित-पादरीगण तथा उनके लिपिक "सीज़र की यश-गाथा वर्णन करने से हमें रोकने" का दोष जीसस पर लगाते हैं। यह पूरी तरह संभव है। यह दर्शाता है कि विरोधी, असन्तुष्ट मन्दिर-धड़ा जनता और मन्दिर-व्यवस्था पर दबाव डाल रहा था कि वे रोमन-प्रशासन को कोई भी कर भुगतान न करें। यह द्वि-अर्थक चरण था। यदि दबाव कम हो जाता और भुगतान रुक जाता, तो सिद्ध हो जाता कि मन्दिर-व्यवस्था और जनता असन्तुष्ट धड़े से आदेश ग्रहण करने के लिए तैयार थे। यदि दूसरी ओर, मन्दिर-व्यवस्था करों का भुगतान सरकार को करना जारी रखती तो मन्दिर-व्यवस्था और सरकार, दोनों, के विरुद्ध ही बदला लेने की भावना को अधिक प्रबल बनाने के लिए विरोध-प्रदर्शनकारियों के पास यह एक अतिरिक्त शिकायत उपलब्ध हो जाएगी।

इस प्रकार यदि बाइबल को एक धर्मग्रंथ के रूप में न पढ़कर एक कृष्ण मन्दिर-प्रबन्ध के विवाद के प्रतीकात्मक इतिहास के रूप में इसका अध्ययन किया जाए, तो यह अति ज्ञानवर्धक प्रलेख, दस्तावेज बन जाती है, सिद्ध होती है।

यह दुर्भाग्य, अफसोस की बात है कि लगभग १६०० वर्ष तक पीढ़ियों ने बाइबल को एक पवित्र धार्मिक ग्रंथ समझा है। किन्तु ऐसी भूलें, गलतियाँ अ-सामान्य बात नहीं हैं। क्या मोह-वशीभूत विश्व भोले-भालेपन में यह विश्वास नहीं करता रहा कि आगरा-स्थित ताजमहल संगमरमरी मकबरा है जिसे पाँचवीं पीढ़ी के मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने अपनी बीवी मुमताज़ के नाम पर उसकी स्मृति में बनवाया था? वह मिथ्या भ्रम ३०० वर्षों से अधिक समय तब तक कायम रहा जब तक कि हमने अपनी शोध-पुस्तक 'ताजमहल मन्दिर भवन है' के माध्यम से इसका भंडाफोड़ नहीं कर दिया।

अधिकांश रोमन इतिहास लेखकों ने विश्वास किया था कि हरक्युलिस

कोई यूनानी बलवान पुरुष था। वह वास्तव में, तथ्यत: भगवान् कृष्ण है। हरक्युलिस शब्द विष्णु-कुल के स्वामी अर्थात् कृष्ण के अर्थ-द्योतक संस्कृत, शब्द 'हरि-कुल-ईश' का यूनानी अपभ्रंश रूप है।

विलियम टैल को शताब्दियों तक एक वास्तविक अनुपम धनुर्धारी स्वीकार किया गया था। इन्हीं सबके समान ही जीसस का विचार, उसके अस्तित्व की कल्पना भी अब एक झूठी कथा मात्र ही प्रतीत होती है।

टेसीटस से भी प्रत्यक्ष होता है कि जीसस तो मात्र एक काल्पनिक व्यक्तित्व था जिसका नाम कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों द्वारा निर्देशित आन्दोलन का युद्ध-घोष बन गया था। वह कहता है : "क्रिश्चियनों (कृस्त-पंथियों) ने अपना नाम और मूल क्राइस्ट (कृस्त) से ग्रहण किया, जो टाइबेरियस के शासन में राज्यपाल पोण्टियस पीलेट द्वारा सजा के फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हुआ था। कुछ समय के लिए यह भयंकर, घोर अन्धविश्वास नियंत्रित किया गया था, किन्तु यह फिर फैल गया और न केवल जुडिया के ऊपर ही फैल गया जो इस शरारती, दुष्प्रकृति पंथ का प्रथम क्षेत्र था अपितु रोम में भी प्रविष्ट, प्रारम्भ हो गया था···जो लोग पकड़ लिए गए थे उनके अपराध कबूल कर लेने से उनके बहुत अधिक साथियों का पता लग गया और वे सभी अपराधी सिद्ध हो गए···शहर को आग लगा देने के अपराध में इतने अधिक नहीं जितने मानवता के प्रति घृणा के लिए अपराधी हुए। नीरो एक रथवाहक—अर्थात् सारथि की वेशभूषा में और उसी की भाव-भंगिमा धारण किए लोगों से मिलता-जुलता रहा···क्रिश्चियनों (कृस्त-पंथियों) का अपराध इतना घोर, गम्भीर था कि उनको कठोरतम आदर्श सजा मिलनी ही चाहिए थी।"[1]

टेसीटस का प्रेक्षण सुझाता है कि प्रारम्भिक क्रिश्चियन जनोत्तेजना के विरुद्ध नीरो की कठोरता का बदला लेने की भावना से ही कृस्ती लेखकों ने उसे एक क्रूर, अत्याचारी शासक के रूप में अनुचित ढंग से प्रस्तुत कर दिया होगा। यह विचार करते हुए कि कुछ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों ने एक

१. गिब्बन, कैथेल और डेवीस की 'एन हिस्टॉरिकल व्यू ऑफ़ क्रिश्चियनिटी', लन्दन, १८०७ ईसवी, पृष्ठ ९५-९६।

काल्पनिक जीसस के नाम में आन्दोलन को जारी रखने का काम अपने हाथों में ले लिया था, कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए जिम्मेवार सर्वोच्च पदाधिकारी के रूप में उक्त राजद्रोह, बगावत को कुचलने में नीरो पूरी तरह न्याय-मार्ग पर था।

एक सारथि की वेशभूषा में सभी लोगों के मध्य नीरो का घूमना, मिलना-जुलना रोम के हिन्दू-मूलक होने का संकेतक है। भगवान् कृष्ण ने महाभारत-युद्ध में एक सारथि के रूप में, वेशभूषा में ही भाग लिया था। उस वेशभूषा में वे युद्ध-क्षेत्र में सभी लोगों के साथ मिलते-जुलते थे। यह तो भगवान् कृष्ण की स्मृति का समादर, सम्मान ही था कि नीरो जैसे रोमन सम्राट् भी सारथि भगवान् कृष्ण के वेश को धारण किए घूमते रहते थे।

कृस्तियों ने अपनी स्वैच्छिक घोषणा से कभी-कभी आरोपक की वृत्ति स्पष्ट कर दी, गैर-यहूदी गैर-ईसाइयों की जन-सेवा में विघ्न-बाधाएँ उत्पन्न कर दीं और दंडाधिकारियों की कचहरियों में भीड़ घुसेड़ दी। उनसे कहते थे कि कानून घोषित करो और उनको सजा सुनाओ···। गैर-ईसाई लोग एक नवीन और अस्पष्ट पंथ की तेजी पर उत्तेजित, चिढ़े हुए थे क्योंकि यह पंथ उनके देशवासियों को गलती के लिए अपराधी, दोषी ठहराता प्रतीत होता था।[१]

कृस्ती-पंथ की प्रधानता के हमारे अपने ही युग में, चलचित्र और प्रचार के अन्य माध्यम प्रायः कृस्तियों को विविध, विशद् रूप में एक ऐसे निरीह, दुर्बल, सदाशयी, पवित्र पंथी निरूपित करते हैं जो गैर-ईसाई रोमन लोगों द्वारा क्रूरता, कठोरता से कुचल दिए गए थे। तथापि, यह सत्य प्रतीत नहीं होता। हमें जो कुछ सामान्य रूप से पुकारकर बता दिया जाता है, वह पक्षपातपूर्ण, मनगढ़न्त कृस्ती-रूपान्तरण, वर्णन है। प्रारम्भिक अवस्था में और जब भी कभी राजद्रोही लोग बहुत हिंसक नहीं हुए, गैर-ईसाई रोमन-प्रशासन उनके साथ बहुत ही नरमी से पेश आया। यदि कुछ हुआ ही है, तो यही कि रोमन अधिकारियों ने नरमी करके गलती ही की थी।

---

१. गिब्बन, कैथेल और डेवीस की 'एन हिस्टॉरिकल व्यू ऑफ़ क्रिश्चियनिटी', लन्दन, १८०० ईसवी, पृष्ठ १०१-१०३।

सरल क्षमादान कर दिया जाता था यदि शरारती कृस्ती बंदी गैर-ईसाई उपासना-स्थल पर थोड़ी-सी सुगंधि (लोबान, धूप आदि) चढ़ा देना स्वीकार कर लेते थे। जिन लोगों को रोमन-कचहरियों में आरोपित किया जाता था उन सभी कृस्तियों की निन्दा करना तो दूर की बात ही है, बल्कि जो लोग नए पंथ, धर्म के प्रति आस्था, निष्ठा रखने के कारण अपराधी सिद्ध हो जाते, उनको मृत्युदंड देने में तो रोमन लोग और भी अधिक दूर थे। बंदी बना लेने, देश-निकाला देने या खानों में गुलामी करने के नरम दंडों की घोषणा करके ही, अधिकतर मामलों में तो स्वयं को इसी से सन्तुष्ट करके भी रोमन शासक अपने न्याय के दुःखी शिकार व्यक्तियों को आशा की एक किरण दे दिया करते थे कि किसी एक सुखद अवसर पर, राज्यारोहण पर, सम्राट् के विवाह या उसकी विजय के सुनहरी मौके पर वे लोग आम-माफ़ी के माध्यम से मुक्त होकर अपनी पूर्व-स्थिति में पहुँच सकेंगे।[१]

मुस्लिम अल्पसंख्यकों के समान ही, जो कानून और व्यवस्था की समस्या बने हुए हैं और जो सरकारें गिराने के लिए काम करते रहते हैं जैसा फिलीपीन्स में हो रहा है और जिसके कारण सन् १९४७ में भारत को खंडित होना पड़ा, प्राचीन कृस्ती-पंथी भी अपने उपद्रवों, ऊधमों और गुप्त साम्राज्यवादी अभिलाषाओं द्वारा जुदा (यहूदी)-धर्म और रोमन साम्राज्य, दोनों, को ही धीरे-धीरे, लगातार धराशायी कर देने में लगे रहे। यह पंथ यहूदियों की संख्या बहुत कम कर देने में और रोमन साम्राज्य को डुबो देने में उल्लेखनीय रूप से सफल हो गया।

उस पराजित होती हुई लड़ाई में सम्राट् जुलियन ने संकल्प किया कि : "वह, बिना देरी किए, मोशिआह की प्रतिष्ठा के अनुरूप, एक राजकीय भव्य मन्दिर बनवाएगा जो निकटवर्ती कालवेरी पहाड़ी पर (पुनर्जीवित हो जानेवाले गिरजाघर) 'चर्च ऑफ़ रिसर्रेक्शन' की भव्यता को कम कर देगा, पादरियों-पुरोहितों की एक व्यवस्था स्थापित करेगा जिनका रुचिगत

१. गिब्बन, कैथेल और डेवीस की 'एन हिस्टॉरिकल व्यू ऑफ़ क्रिश्चियनिटी', लन्दन; १८०० ईसवी, पृष्ठ ९८।

उत्साह कलाओं का ज्ञान उपलब्ध कराएगा और उनके क्रुस्ती प्रतिद्वन्द्वियों की आकांक्षाओं का प्रतिरोध करेगा और यहूदियों की अनेक बस्तियों को आमंत्रित करेगा जिनका पक्का कट्टरपन गैर-ईसाई सरकार के उग्र उपायों का समर्थन और स्वयं उनकी पूर्व-भूमिका भी तैयार करने को उद्यत रहेगा। उनके महान् त्राता, उद्धारक के आह्वान पर (रोमन) साम्राज्य के सभी प्रान्तों से यहूदी लोग अपने पूर्वजों के पुण्य पर्वत पर एकत्र हो गए; और उनकी अक्खड़ जीत ने जरुस्लम के क्रुस्ती-निवासियों को हथियारबन्द और क्षुब्ध, रुष्ट, कुपित कर दिया।"[१]

"प्रारम्भिक क्रुस्तियों को जब सताया और पकड़ा जाता था, तो वे गुप-चुप अपनी पहचान एक-दूसरे को बता देने के लिए मछली का प्रतीक चिह्न बना देते थे (क्योंकि) "जीसस क्राइस्ट, ईश्वर-पुत्र, रक्षक (सेवियर)" रोमन अधिकारी सेनाओं द्वारा प्रयुक्त यूनानी भाषा में अनूदित होकर 'ईशस क्रिसटोस, थेओयू, विओस, सोट' था। उन पाँच यूनानी अक्षरों—शब्दों के आदि-अक्षर जो पहले आई-सीएच-टीएच-यू-एस की वर्तनी में होते थे, अब हम उन्हें 'आई सी एच वाई एस' की वर्तनी में प्रकट करते हैं—यूनानी भाषा में यह मछली का द्योतक शब्द है···यह घेरे में लिए गए क्रुस्तियों के पंथ के सदस्यों की परस्पर पहचान के लिए व्यवहृत प्रतीक-चिह्न था।"[२]

II प्रारम्भिक क्रुस्ती नेताओं द्वारा मछली का गुप्त संकेत अंगीकार करना रोमन लोगों से सत्ता हथियाने और यहूदी-धर्म को समाप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित उनकी विध्वंसक, विनाशकारी गतिविधियों का द्योतक है, संकेतक है।

इतिहास-लेखक सिउटेनियस द्वारा ईसा-पश्चात् ६८ और १३८ के मध्य लिखी गई 'सीज़रों के जीवन' (लाइव्ज ऑफ़ सीज़र्स) शीर्षक पुस्तक में उसने उल्लेख किया है कि सम्राट् क्लाडियस ने रोम से उन सभी

१. गिब्बन, कैंथेल और डेवीस की 'एन हिस्टॉरिकल व्यू ऑफ़ क्रिश्चियनिटी', लन्दन, १८०० ईसवी, पृष्ठ १३२-१३३।
२. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ४११।

यहूदियों को देशनिकाला दे दिया जो क्रिसटोस के भड़काने पर रुक-रुककर, कुछ-कुछ समय बाद गड़बड़ी-दंगे करते रहते थे।"[१]

यह इस बात का स्पष्ट इंगित है कि पहली शताब्दी के यहूदियों में क्रिसटोस नाम कृस्ती-पूर्व नाम था। चूँकि गैर-परिवर्तित यहूदियों का आराध्य-देव क्रिसटोस उपनाम कृष्ण था, इसलिए स्पष्ट है कि पॉल और स्टीफेनस जैसे विद्रोही जिस देवता का आह्वान करते रहते थे वह कृष्ण था जिसका उच्चारण क्राइस्ट (क्रिस्त, कृस्त) उपनाम क्रिसटोस किया जाता था।

एक परम्परा है जिसके अनुसार (जीसस का भाई) जेम्स अपने अनुयायियों को बताया करता था कि यदि कोई साश्चर्य पूछे कि उनका ईश्वर कहाँ रहता है तो उन्हें पूर्ण विश्वास से बता दिया जाए कि "तुम्हारा ईश्वर रोम की महान् नगरी में ही है।"[२]

उपर्युक्त वाक्य इर्विंग वालेस के उपन्यास 'दि वर्ड' से उद्धृत है। लेखक यह भाव सम्प्रेषित करना चाहता है कि जिस विवरण को जीसस के स्वयं के भाई जेम्स द्वारा लिखा हुआ माना जाता है उसी में जेम्स अपने अनुयायियों को बताता है कि उनका अपना ईश्वर (अर्थात् जीसस) रोम में है।

आइए, हम उपर्युक्त वाक्य का विश्लेषण करें। चूँकि जीसस एक काल्पनिक व्यक्तित्व है; इसलिए जोसेफ़, मेरी और जेम्स जैसे उसके परिवार के अन्य लोग भी काल्पनिक हैं। इसलिए, जेम्स द्वारा लिखा हुआ कोई विवरण हो ही नहीं सकता। जेम्स के नाम में/से प्रस्तुत किया जा रहा कोई भी वर्णन जालसाजी है। कोई जेम्स किसी जीसस को ईश्वर के नाम से नहीं पुकारेगा, जिसका सीधा-सा कारण यह है कि जोसेफ़ के परिवार में न कोई जीसस था और न ही कोई जेम्स।

नाम 'जेम्स' संस्कृत शब्द 'यमस' है जो भारतीय, हिन्दू पुरा-शास्त्रों के अनुसार मृत्यु का देवता है। इसी प्रकार, क्रिसटोस अन्य हिन्दू देवता

---

१. इर्विंग वालेस रचित 'दि वर्ड', पृष्ठ ६३।
२. वही, पृष्ठ ४६४।

'कृष्णस' है। उस महान् नगरी का 'रोम' नाम भी हिन्दू देवता 'राम' के कारण है क्योंकि वही 'राम' उस नगरी का संरक्षक-देवता था। इसलिए रोम का प्राचीनतम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्दिर राम-मन्दिर ही था। इस तथ्य की पुष्टि रामायण के उन दृश्यों से भी होती है जो इटली में पुरातत्त्वीय खुदाइयों में प्राप्त मकानों के ऊपर चित्रित हैं।

यूरोप में, संस्कृत 'अ' को 'ओ' स्वर-शैली में बोलगे लगे जैसा भारत में भी बंगालियों में उच्चारण करते हैं। इसका एक दृष्टांत अंग्रेजी 'रॉयल' शब्द है जो संस्कृत का 'रायल' शब्द है। इसी प्रकार, राम की नगरी भी रोम-नगरी उच्चारण की जाने लगी। अतः यह बिल्कुल सहज, स्वाभाविक ही है कि प्राचीन युग का कोई जेम्स किसी भी व्यक्ति को यह बताता कि उनका ईश्वर (अर्थात् राम) रोम में था।

रोम से लेकर जरुस्लम तक राम और कृष्ण, दोनों हिन्दू-अवतारों के नाम व्यक्तियों और देवताओं द्वारा ग्रहण करना भी तर्क दृष्टि से पूरी तरह युक्तियुक्त व संगत है। इसलिए किसी जेम्स का रोम के ईश्वर के रूप में संदर्भ, संकेत जीसस क्राइस्ट को न होकर ईशस कृष्ण या राम के लिए है।

विचारणीय एक अन्य तथ्य, कारण भी है। यदि बाइबल-गत विश्वास को सत्य भी मान लें, तो भी ईसा-पश्चात् ६८ और १३८ के मध्य जीसस जीवित न था। उसे तो बहुत पहले ही सूली पर चढ़ा दिया गया था। दूसरी बात, बाइबल के अनुसार भी जीसस ईश्वर नहीं है। ईश्वर को तो स्वयं जीसस ने भी 'पिता' कहकर पुकारा है। इसलिए, रोम का ईश्वर जीसस नहीं हो सकता था। तीसरी बात यह है कि जीसस रोम में श्रद्धा का पात्र केवल चार शताब्दियों बाद ही हुआ था। ईसा-पश्चात् ६८ और १३८ के मध्य तो जीसस, एक दिव्य पुरुष के रूप में रोम में भी अज्ञात था। इन सभी कारणों से जेम्स के कथनानुसार कि 'ईश्वर रोम में है'—माननेवाली यशस्वी परम्परा स्पष्टरूपेण हिन्दू देवगण राम और कृष्ण या इन्हीं में से किसी एक की ओर संकेत, इंगित करती है। हिन्दू शब्दावली में राम और कृष्ण परिवर्तनशील हैं क्योंकि संघर्ष और यातनाओं के विभिन्न युगों में अवतरित ये दोनों ही दिव्य विभूतियाँ भगवान् विष्णु के रूप ही हैं।

राम का अवतार रावण से युद्ध और उसका अन्त करने के लिए हुआ था। अतः यह अवश्यम्भावी ही था कि इटली, जिसकी राजधानी का नाम राम के नाम पर है, उसमें एक शहर रावण के नाम पर भी हो। और निश्चय ही वहाँ एक शहर ऐसा ही है। रावेन्ना नाम से पुकारा जानेवाला इतालवी शहर रावण के नाम पर ही है। प्राचीन इटली के घरों में रामायण के प्रसंगों में रावण के चित्र भी उत्कीर्ण मिले हैं।

कृष्ण (क्रुस्न, क्रस्न) शब्द भी यूरोप से पूरी तरह दृष्टि-ओझल नहीं हुआ है। कहने का आशय यह है कि पश्चिमी विश्व में आज तक भी कृष्ण और क्रुस्त (क्राइस्ट) दोनों ही उच्चारण व्यवहार में हैं। उदाहरण के लिए, एम्सटरडम में एक होटल 'कृष्णपोल्सकी' नाम से पुकारा जाता है। इर्विंग वालेस की 'दि वर्ड' नामक पुस्तक में यह शब्द लगभग २८ बार आता है।

मैथ्यू के सुसमाचार-ग्रंथ (४ : १२) में लिखित यह कथन भी साधारणतः ग्राह्य, समझ में आनेवाला नहीं है कि : "अब जब जीसस ने सुन लिया था कि (बपतिस्मी) जोह्न जेल में बन्द कर दिया है, तब वह गलीली चला गया।" जीसस को अपने किसी चमत्कार द्वारा अथवा किसी पुराने उपाय से अपने महान् ज्येष्ठ प्रशंसक जोह्न को बंदीगृह से मुक्त कराने की बजाय उसका त्याग करके अन्यत्र चले जाने की जरूरत क्यों पड़ी?

किन्तु जैसा हमारा दृष्टिकोण है, बाइबल को पॉल के राजद्रोह के इतिहास के रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए। जीसस के नाम को पॉल के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि जब पॉल को सूचना मिली कि उसके वरिष्ठ/ज्येष्ठ प्रशंसकों और समर्थकों में से एक, जोह्न, बंदी बना लिया गया था और सरकारी अधिकारी स्वयं पॉल को भी बंदी बनाने के लिए उसकी खोजबीन कर रहे थे, तब वह गलीली भाग गया। मैथ्यू (के ग्रंथ) में पॉल के विद्रोह को नागरिक शान्ति, कानून और व्यवस्था के लिए एक खतरा माना जाने का यह पहला द्योतक, संकेत है।

"उस समय से जीसस ने प्रचार शुरू कर दिया।" (४ : १७) शब्दों से यह अर्थ लगाना चाहिए कि जोह्न को बंदी बना लेने के बाद से पॉल कुछ और अधिक उद्दण्ड हो गया तथा कृष्ण-मन्दिर अधिकारियों के खिलाफ अपने

सार्वजनिक विरोध में और भी अधिक वाचाल, मुँहफट हो गया। वह उनको कहता था : "मेरा अनुसरण करो, और मैं तुम्हें आदमियों का मछवारा बना दूंगा।" (४ : १६) यह एक खतरनाक अपील थी; सरकारी तंत्र को सताने के लिए जनता को उकसाना था, उत्तेजित करना था। इसके अन्दर, मर्म में किसी प्रकार का आध्यात्मिक या देव-/ब्रह्म-ज्ञान का संदेश, भाव ढूंढ़ना/खोजना गलत है। इस कथन ने रोमन-प्रशासन के विरुद्ध जन-विद्रोह का आह्वान किया था।

"और जीसस यहूदी सभागारों में प्रचार करता हुआ गलीली में सर्वत्र, चारों ओर घूमता-फिरा" (४ : २३) द्योतन करता है कि पॉल ने राज-विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित करने के लिए सघन अभियान छेड़ रखा था जिसके फलस्वरूप व्यापक जन-गिरफ्तारियाँ और मृत्युदण्ड हुए।

अध्याय १५

हिन्दू धर्मग्रन्थों का बाइबलगत पुनरभ्यास

कृस्ती ब्रह्म-विज्ञान और बाइबल में सन्निहित दर्शनशास्त्र केवल अस्त-व्यस्त और अनियमित पुनरभ्यास तथा परिणामत: प्राचीन हिन्दू विचार और परम्परा का विकृत, तोड़ा-मरोड़ा रूप ही है।

कृस्ती देव-त्रयी का प्रश्न लीजिए। वहाँ किसी भी प्रकार से देव-त्रयी होनी ही नहीं चाहिए यदि कृस्ती-पंथ स्वयं को एकेश्वरवादात्मक घोषित ही करता है? प्रत्येक कृस्ती-व्यक्ति के लिए जीसस स्वयं ही ईश्वर है। किन्तु बाइबल में, जीसस स्वयं 'ईश्वर' का आह्वान 'पिता' सम्बोधन से करता है। इसलिए, जीसस ईश्वर नहीं है, बल्कि वह ईश्वर है जिसे जीसस 'पिता' के नाम से पुकारता है और फिर भी एक अन्य ईश्वर बना रहता है जो 'पवित्र आत्मा' (होली सोल) कहलाती है।

कृस्ती-पुरोहित वर्ग दुराग्रही, हठी रूप से एक में तीन के सिद्धान्त से चिपटा रहा है जहाँ तीनों में से हरएक गौरव, गरिमा की दृष्टि से दूसरे के समान है और फिर भी वे एक ही अस्तित्व, सत्ता, रूप धारण रखते हैं। स्वयं कृस्तियों में भी एक-व्यक्तिवादी हैं जो देव-त्रयी में विश्वास नहीं करते। किन्तु यूरोप और ग्रेट ब्रिटेन में मध्ययुगीन काल में ऐसे लोगों को खूँटे से बाँधकर जला दिया गया था। सोसिनस को २७ अक्तूबर, सन् १५५३ में कालविन के आदेश पर जिन्दा जला दिया गया था क्योंकि वह यही दृढ़तापूर्वक कहता रहा कि ईश्वर एक ही था। हमारे अपने समय में भी गिरजाघर उन लोगों की निन्दा, भर्त्सना करता है जो सोसिनस की भाँति एक अकेले, अविभाज्य देवत्व की उद्घोषणा करते हैं।

प्रारम्भिक कृस्ती-पंथ को देव-त्रयी-धारणा बनाए रखनी पड़ी थी क्योंकि कृस्ती-पूर्व विश्व में सर्वत्र ब्रह्मा-बिष्णु-महेश की हिन्दू देव-त्रयी श्रद्धा-

पात्र और पूजित थी। चूँकि कृस्ती-पंथ तो परम्परागत हिन्दू रीति-नीतियों पर एक नई छाप, मोहर मात्र ही है, इसलिए व्यावहारिक रूप में हर कृस्ती वस्तु का हिन्दू मूल ही आधार, स्रोत है।

जीसस क्राइस्ट (कृस्त) भी ईशस कृष्ण के भ्रष्ट उच्चारण के अतिरिक्त स्वयं कुछ नहीं है, जैसा पहले ही स्पष्टीकरण दिया जा चुका है।

हिन्दुओं में भी कृस्तियों की ही भाँति एक लुटेरे की कथा है जहाँ लुटेरे को अपने जीवन की पद्धति पर अनुताप, पछतावा करना पड़ा था। उसने फिर वही किया, क्षमा कर दिया गया और उसके बाद वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने लगा।

हिन्दुओं में स्वर्गाधिपति विष्णु या इन्द्रदेव को गरुड़ पक्षी पर आरूढ़ हो, व्योम में विचरण करते दिखाया जाता है। अति विशिष्ट आगन्तुक के पधारने पर जैसे उसकी चमचमाती 'कार' आजकल 'पार्क' (ठहरा दी) कर दी जाती है, उसी प्रकार उक्त गरुड़ भी बाहर ही ठहरा दिया जाता था जब भगवान् विष्णु किसी के पास मिलने जाते थे। ऐसा ही स्वर्णिम गरुड़ लंदन में सेंट पॉल के महामन्दिर, उक्त धर्मपीठ के अन्दर केन्द्रीय गिरजाघर के प्रवेश-द्वार पर एक चमकदार राजसी स्थान पर आधारित आज भी देखा जा सकता है। वह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि तथाकथित कृस्ती-उपासनालय पूर्वकालिक हिन्दू कृष्ण मन्दिर ही हैं। भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ लंदन में सेंट पॉल के उपासनालय के बाहर प्रतीक्षारत क्यों खड़ा रहे?

कृस्ती-मिथकशास्त्र, पुरातनता में आकाशीय (स्वर्ग की) वस्तुओं को ऐसे निरूपित किया जाता है कि मानो उन वस्तुओं की पीठ पर गरुड़ के पंख लगे हों। यह उस पूर्वकालिक हिन्दू-परम्परा का विकृत, बदला हुआ रूप है जिसमें गरुड़ को आकाशीय वस्तुओं का वाहक, परिवहन-यान माना जाता था। सॉल उपनाम पॉल के जन्म और पूर्व के हिन्दू शासन व शिक्षा की समाप्ति के मध्य व्यतीत हुई लम्बी अवधि में आकाशीय वस्तुओं के अन्तरातारकीय सैर-सपाटे, भ्रमण गरुड़ की पीठ पर आरूढ़ दिखाए जाने के स्थान पर दिव्याकृतियों की पीठ पर उक्त गरुड़-पंख ही जोड़ दिए गए।

कुछ भी हो, जब गरुड़ दिव्य व्यक्ति को पीठ पर बैठाकर आकाश के आर-पार उड़ता चलता है, तब उसकी चोंच बहुत छोटी होने के कारण

दिखाई नहीं पड़ती। पिछला आर-पार भाग, जहाँ दिव्य विभूतियाँ विराजमान होती हैं, वह भी नहीं दिखाई पड़ता। एक उड़ान में दिखाई देने वाले प्रमुख लक्षण—अवयव दोनों ओर फैले हुए गरुड़ के पंख ही होते हैं। समय व्यतीत होते-होते, हिन्दू-परम्परा और पौराणिकता के सम्पर्क के कारण विशेष रूप से, पंखों के अतिरिक्त सम्पूर्ण गरुड़ पक्षी ही ओझल हो गया और उसके पंख आकाशीय जीवों की पीठ पर जोड़ दिए गए। अत: कृस्ती-देवदूतों के गरुड़-पंख हिन्दू-मूल के द्योतक, संकेतक ही हैं।

स्वयं 'एंजल' शब्द हिन्दू-मूल का है। संस्कृत शब्द 'अंजलि' दोनों का ही द्योतक है—हथेलियाँ जोड़कर कुछ भेंट करना या फिर स्वयं भेंट भी जैसे किसी सन्देश हेतु फाख्ता या कबूतर छोड़ना। चूँकि एंजल को ईश्वर के सन्देशवाहक के रूप में (फाख्ता या गरुड़ के रूप में) छोड़ दिया जाता है आकाशीय-निवास से आर-पार ईश्वर का सन्देश फैलाने के लिए, अत: वह एंजल कहलाता है।

कृस्ती शब्दावली, चाहे यूनानी या हिब्रू स्रोतों से प्राप्त हो, उसका मूल, उद्भव हिन्दू-धर्म में खोजा जा सकता है। "हिन्दू नामों को यूरोपीय अक्षरों में अनुवाद करनेवाले प्रथम व्यक्ति यूनानी थे और उन्होंने कर्ता कारक का उपयोग किया; उदाहरण के लिए हिरण्यबहस। कारक-समाप्ति चिह्न हटा लो, और पहचान अधूरी रह जाएगी।"[1] प्राचीन यूरोप और भारत की संस्कृतियों के मध्य निकट-सम्बन्धों के बारे में जिन पश्चिमी विद्वानों ने लिखा है, उनमें राबर्टसन, क्लाडियस, बुखनन, लासन, रीनाड, प्रियाल्क्स, जोह्न डेविस, बर्ड वुड, होपिन्स और डी' अल्वीला सम्मिलित हैं।

स्पेनिश और इतालवी भाषाओं में 'ओ' अन्त्य, जैसे 'बुद्धो' पाली भाषा से है—श्री एडमंड्स का कहना है।

एक तारे का उदय होना और उस अत्याचारी के कोप से एक शिशु को छुपाकर रखना जिसने अपना घोर शत्रु समझकर दास-शिशु की हत्या कर दी थी जबकि वह शिशु दस वर्ष की आयु होने तक लुका-छुपाकर एक गुफा

---

१. एडमंड्स कृत 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पैल्स' का आमुख, टोक्यो, १९०५ ईसवी।

में पाल-पोसकर बड़ा किया गया था—यह सम्पूर्ण कथा अवतारी पुरुष कृष्ण के जन्म की ही सुनिश्चित कथा है। अजन्मे कृष्ण के माता-पिता वसुदेव और देवकी को राजा कंस ने कारागार में ठूँस दिया था क्योंकि एक आकाशवाणी ने कंस को सचेत, सावधान कर दिया था कि देवकी की आठवीं सन्तान, एक पुत्र ही कंस की मृत्यु का कारण बनना निश्चित था। उसी के हाथों कंस का वध होना था। सावधानी के रूप में कंस ने देवकी की प्रत्येक सन्तान का जन्म लेते ही वध कर देने की ठान ली। किन्तु जिस रात्रि कृष्ण का जन्म हुआ, कारागार के रक्षकों को निद्रा आ गई और पिता वसुदेव नवजात शिशु कृष्ण को बाढ़ आई यमुना नदी को पार कर घोर रात्रि में ही नन्द के पशु-फार्म पर ले गए। वहाँ कृष्ण को नन्द की पत्नी यशोदा के पास लिटा दिया गया और उसकी नवजात कन्या को बन्दीगृह में पहुँचा दिया गया। भोर होने पर कंस को देवकी की सन्तान के जन्म की खबर दी गई, कंस क्रोधाविष्ट हो कारागृह जा पहुँचा, देवकी के पास लेटी हुई सन्तान को हाथों में उठाकर उसे पत्थर के फर्श पर दे मारा। हत्या कर दी गई कन्या की आत्मा एक विद्युत्-रेखा-सी कौंध गई और उस कोठरी की दीवार की कगार पर एक देवी के रूप में विराजमान हो भयंकर गर्जना करती हुई भविष्यकथन कर गई : "हे नृशंस, अत्याचारी, सुन ! तेरा वध करनेवाला तो अन्यत्र सुरक्षित पल रहा है। ठीक समय पर तेरा वध उसी के हाथों अवश्य होगा।" बाद में उक्त कथन अक्षरश: सत्य, पूर्ण सिद्ध हुआ। कृष्ण आगे चलकर मल्ल-विद्या के अनुपम, सिद्ध विजेता बन गए और कंस पर नियन्त्रण कर उसे मार डालने में सफल हुए। जीसस के जन्म की कहानी को भगवान् कृष्ण की कथा के अनुरूप ही घड़ लिया गया है। इसी प्रकार प्राचीन यहूदी जनश्रुति में भी, मोज़ेज़ के जन्म की कहानी भी कृष्ण के जन्म की कथा ही है क्योंकि मोज़ेज़ तो महेश अर्थात् महान् भगवान् सूचक संस्कृत शब्द का बाद के दिनों का यहूदी-उच्चारण है। चूँकि कृष्ण महान्, परम ईश्वर का मानव अवतार थे, इसलिए स्पष्ट है कि यहूदी लोग अपने जनश्रुत नायक को मोज़ेज क्यों कहते हैं और उसके जन्म की कथा भी कृष्ण के जन्म की कथा से क्यों मिलती-जुलती है।

हिप्पोलीटस के अनुसार, बेसिलीडेस ने (हेर. VII. १४ एडिनबर्ग

अनुवाद) यह सिखाया : "सुसमाचार (ग्रन्थ) सर्वप्रथम पुत्रत्व से पुत्र के माध्यम से आया (बेसिलीडेस कहता है), जो अर्कोन के पास बैठा था, अर्कोन तक; और अर्कोन ने यह ज्ञान अर्जन किया कि वह ब्रह्माण्ड का ईश्वर नहीं अपितु उसका प्रजात, उत्पन्न था। किन्तु वह स्वयं से ऊपर उस अनिर्वचनीय और अनाम, अनस्तित्व का संग्रहीत कोष था, और उस पुत्रत्व से वह परिवर्तित तथा भयातंकित भी था, जब उसे यह ज्ञान दे दिया गया कि वह किस अज्ञान में लिप्त था। यही है, वह कहता है, जो घोषित किया गया है : प्रभु, भगवान् का डर बुद्धिमत्ता का प्रारम्भ है। क्योंकि क्राइस्ट (अर्थात् कृष्ण) द्वारा मौखिक उपदेश दिए जाने पर ही, जो उसी के पास बैठा था, उसे बुद्धि प्राप्त होने लगी (यहाँ तक कि) वह समझने लगा कि अनस्तित्ववादी, अविद्यमान कौन है, पुत्रत्व क्या है और पवित्र आत्मा क्या है, ब्रह्माण्ड-तन्त्र क्या है और सभी वस्तुओं का समापन, परिणाम क्या होनेवाला है। यही है वह बुद्धिमत्ता जिसे रहस्य के रूप में बताया गया है जिसके बारे में (बेसिलीडेस कहता है) धर्मग्रन्थ निम्नलिखित प्रकार से अभिव्यक्त करता है : "मानव बुद्धि से सीखे गए शब्दों में नहीं, बल्कि आत्मा के द्वारा सीखे गए शब्दों में। तब अर्कोन मौखिक रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद, शिक्षित हो जाने पर, और फिर भय से ग्रस्त, पूरित हो जाने पर, स्वयं को अति अहम्‌वादी मान लेने के कारण जिस पाप का उत्तरदायी हो गया था उसका निराकरण, प्रायश्चित्त करने के लिए आगे बढ़ा। यह, वह कहता है, है जो उसने घोषणा की थी : "मैंने अपनी गलती, अपना पाप समझ लिया है, और मैं अपना अपराध जानता हूँ, (और) इसके लिए मैं आजन्म, सदैव (के लिए) पाप स्वीकार करूँगा।"'[1]

हमने ऊपर जिस अवतरण को उद्धृत किया है, वह यूनानी लेखकों से है। बेसिलीडेस ने द्वितीय शताब्दी के प्रथमार्ध में लिखा था।

हिन्दू धर्मग्रन्थ 'भगवद्‌गीता' से भलीभाँति परिचित लोगों को स्पष्ट हो हो गया होगा कि उपर्युक्त उपदेश और जिन परिस्थितियों में यह उपदेश

---

१. एडमंड्स कृत 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पैल्स' का आमुख, टोक्यो, १९०५ ईसवी, पृष्ठ ४०-४७।

दिया गया था, असंदिग्ध रूप से भगवद्गीता के अंश ही हैं।

अतः, उक्त अवतरण इस तथ्य का अत्यन्त निर्णायक और शान्त कर देनेवाला प्रमाण है कि कृस्ती-पंथ पूर्व काल में हिन्दू-धर्मग्रन्थ, हिन्दू-जनश्रुति, हिन्दू-विद्या, हिन्दू-पौराणिकता तथा हिन्दू-परम्परा ही सर्वत्र व्याप्त थे, विश्वव्याप्त थे। हिन्दू शासन और हिन्दू शिक्षण की समाप्ति के बाद शताब्दियाँ बीत जाने पर भी ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव की तकलीफ और दबाव में हिन्दू संस्कृति को जितना भी विकृत होना पड़ा हो, फिर भी यह स्वाभाविक धारा के रूप में सतत बनी ही रही। यह हृदयंगम करने, समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए जबकि स्वयं भारत में ही हिन्दू-धर्म मुस्लिम आक्रमणों, आघातों और बाद में ब्रिटिश शासन के कारण क्रान्तिकारी रूप में भारी परिवर्तन का शिकार हो गया।

बेसिलीडेस से लिए गए उद्धरण में पुत्रत्व है भगवान् कृष्ण क्योंकि वे एक दिव्यावतार थे। चूँकि क्राइस्ट (कृस्त) कृष्ण शब्द का अरब-यहूदी-यूरोपीय उच्चारण है, इसलिए क्राइस्ट (कृस्त) नाम का उच्चारण कृष्ण किया जाना चाहिए। उनका शिष्य अर्जुन था। यह वही नाम है जिसकी वर्तनी व उच्चारण अर्कोन हो गए। अर्कोन अर्थात् अर्जुन और पुत्रत्व अर्थात् दिव्य अवतार कृष्ण (वर्तनी कृस्त की जाती है) एक रथ में परस्पर आस-पास ही बैठे हैं जहाँ कृष्ण सारथि हैं जो युद्धक्षेत्र में योद्धा अर्जुन का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। इसके बाद कोई संशय नहीं रह जाता कि क्राइस्ट और अर्कोन कृष्ण और अर्जुन से भिन्न, दूसरे कोई हैं ही नहीं।

अर्जुन युद्धक्षेत्र का निरीक्षण-सर्वेक्षण करते हुए पाता है कि उसके सगे-सम्बन्धी, निकटस्थ और प्रियजन, जो उसके कुटुम्बी थे, जिनके साथ वह शनैः-शनैः बड़ा हुआ था, जिनकी वह आदर-भाव से पूजा, मान करता था—वही सब लोग उससे प्राणघाती, भयंकर युद्ध करने के लिए सामने तैयार खड़े थे। मन खेद, विषाद से भर जाने के कारण अर्जुन ने कृष्ण के सामने, मोहग्रस्त हो स्पष्ट कह दिया कि "अब मेरा मन, हृदय युद्ध करने के लिए किंचित् भी तैयार नहीं है। मैं वापस लौट जाऊँगा और दूसरे पक्ष को विजयी मान लेने को भी तैयार हूँ।"

कृष्ण ने फिर अर्जुन की भर्त्सना, प्रतारणा की। उक्त अवसर पर दिया

गया कृष्ण का परामर्श 'भगवद्गीता' कहलाता है। यह शुद्ध, सरल संस्कृत भाषा में वार्तालाप है जिसमें अर्जुन तुरन्त उत्पन्न प्रश्न, संशय कृष्ण के समक्ष रखता है और कृष्ण जिसका उत्तर, शंका-समाधान सविस्तार कर देते हैं। इसमें सम्पूर्ण भाव, उद्देश्य अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करना था क्योंकि उसे युद्ध के लिए ही, एक योद्धा के रूप में पाला-पोसा और प्रशिक्षित किया गया था। कृष्ण अर्जुन के मन में यह भाव प्रस्थापित कर देना चाहते थे कि तुम अपनी विशिष्ट भूमिका को अन्तिम क्रान्तिक-क्षण में नहीं छोड़ सकते।

अतः कृष्ण अर्जुन को जीवन और कर्तव्य का पूर्ण विवेचन अनन्त, असीम ब्रह्माण्ड के चक्रों में स्पष्ट रूप से कर देते हैं। अर्जुन को बताया जाता है कि कर्तव्य चाहे कितना ही अप्रिय या क्रूर प्रतीत होता हो, उससे बच सकने का कोई मार्ग, उपाय नहीं है। ईश्वर निर्धारित उद्देश्यों, प्रयोजनों हेतु ही सृष्टि करता है और सृष्टि व संसार—विनाश के अनन्त चक्रों में भी हर प्राणी को ईश्वर द्वारा सौंपे गए कर्तव्यों का पालन करना ही पड़ता है। अपना सन्देश पुष्ट करने के उद्देश्य से कृष्ण स्वयं को विराट् रूप (पवित्र आत्मा) का आकार दे देते हैं जिसके चरण पृथ्वी से नीचे रसातल को स्पर्श कर रहे थे और जिसका शीश तारों, नक्षत्रों के मध्य पहुँच गया था। इसके विराट्-खुले जबाड़ों से आग की लपटें व धुआँ बाहर निकल रहा था मानो अन्दर कोई सुलगती हुई भयंकर भट्ठी, अग्नि-राशि हो। सभी प्रकार के असंख्य प्राणी उस ब्रह्माण्डीय जबड़ों से या तो बाहर आते दिखाई दे रहे हैं या उसी में प्रवेश करते और नष्ट होते दिखाई पड़ रहे हैं—अनादि काल से और अनन्त काल तक।

उक्त विशाल, विराट् आकृति के समक्ष वह अति लघुकाय अर्जुन इतना विचलित, भयभीत हो गया कि उसने भगवान् कृष्ण से प्रार्थना, याचना की कि आप एक बार फिर अपनी उसी दयामय और मनोहारी मानवाकृति में आ जाएँ।

जब कृष्ण ने अपना साधारण रूप पुनः धारण कर लिया, तब अर्जुन ने स्वीकार किया कि इस विक्षुब्धकारी जटिलतापूर्ण विश्व में भी वह अपनी अत्यल्प भूमिका निभाने की अनिवार्यता को पूर्णरूपेण अंगीकार, मान्य कर चुका है। अर्जुन ने कृष्ण का आभार व्यक्त किया कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण

ज्ञानोपदेश से अर्जुन को कर्तव्य-च्युत होने के पाप से बचा लिया और परिणामस्वरूप सर्वनाश से भी रक्षा कर ली। कृस्तियों में अपराध स्वीकारने का विचार भी अर्जुन द्वारा भगवान् कृष्ण के समक्ष पाप-स्वीकृति के बोध से ही उद्भूत, जन्मा है।

अतः बेसिलीडेस से हमने जो अवतरण उद्धृत किया है, वह भगवान् कृष्ण के सन्देश अर्थात् 'भगवद्गीता' का ही भावानुवाद, व्याख्या है। चूंकि बेसिलीडेस द्वितीय शताब्दी में था जबकि बाइबल ने कोई रूप, आकार भी ग्रहण नहीं किया था, इसलिए स्पष्ट है कि उस समय अरब, यूनानी और यहूदी समुदायों में (तथा अन्य सभी समुदायों में भी) प्रचलित एकमात्र धर्म-विज्ञान और पौराणिकता हिन्दू धर्म-विज्ञान और पौराणिकता ही थे। तथापि उस समय कृष्ण का उच्चारण क्राइस्ट (कृस्त) होता था (भारत में भी, उदाहरणार्थ बंगालियों में), वह ईश्वर-पुत्र कहलाता था क्योंकि कृष्ण एक अवतार था। मृस्तियों में अपराध-स्वीकार पर आग्रह भगवान् कृष्ण के सम्मुख अर्जुन के पाप-स्वीकार से व्युत्पन्न है कि अर्जुन गलती पर था। ईश्वर का साम्राज्य हाथ के पास, निकट ही होने के बारे में कृस्ती-आग्रह वही है जो कृष्ण ने अर्जुन को बताया था कि यदि वह युद्ध करते हुए मर गया तो शास्त्र उठाने के लिए उसको आह्वान, यशस्वी होकर, स्वर्ग के खुले द्वार में प्रविष्ट होने के लिए होगा। यह भविष्यवाणी कि मसीहा (अर्थात् महेश), रक्षक (सेवियर—अर्थात् ईश्वर) पुनः प्रकट होगा, भगवान् कृष्ण द्वारा की गई वही भविष्यवाणी है कि जब कभी अ-व्यवस्था जीवन जीना दूभर कर देती है, तव धर्म की स्थापना के लिए और अधर्म का नाश करने के लिए भगवान् स्वयं अवतार ले लेते हैं। स्वयं प्रयोग किए गए शब्द 'मसीह और 'सेवियर' प्रभु, ईश्वर के अर्थ-द्योतक संस्कृत शब्द 'महेश' और 'ईश्वर' हैं। ऊपर उल्लेख किया गया मौखिक परामर्श पूरी तरह वही है जो 'भगवद्गीता' में दिया गया है।

कृस्ती-पूर्व युगों में विश्व की संस्कृति पूरी तरह मात्र हिन्दू संस्कृति ही थी। एडमण्ड्स ने एक पद-टीप में अंकित किया है : "जोसेफ़स, एपियन, १२२८, सोली केक्लिअरकस के विरुद्ध प्राधिकरण यहाँ (कहता) है कि यहूदी

तो स्वयं हिन्दू मूल के हैं।"[1]

यहूदियों का हिन्दू-मूलोद्भव एक अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण से भी स्पष्ट है और वह है मोज़ेज़-सम्बन्धी विवरण।

यहूदी लोग जिसका उच्चारण मोज़ेज़ करते हैं वह महान् भगवान् का अर्थ-द्योतक 'महेश' हिन्दू शब्द ही है। मोज़ेज़ शब्द से जिस महान् ईश्वर का संकेत मिलता है वह भगवान् कृष्ण से भिन्न अन्य कोई नहीं है जैसा मोज़ेज़ की जीवन-कथा से प्रतीत होता है। यह भगवान् कृष्ण की कथा का प्रतिरूप ही है। दोनों ही दृष्टान्तों में शासकों को एक आकाशवाणी, भविष्य-कथन द्वारा पहले ही सावधान कर दिया गया था कि आगे जन्म लेने वाला एक विशेष बालक उनका वध करेगा। इसलिए उन दोनों ही राजाओं ने उन दोनों बच्चों को शैशवावस्था में ही मार डालने का संकल्प कर लिया था। किन्तु किसी प्रकार का अनिष्ट किए जाने से पूर्व ही वे दोनों शिशु सुरक्षित स्थानों पर पहुँचा दिए गए और वहीं चुपचाप, गुप्त रूप में उनका लालन-पालन होता रहा। बड़े हो जाने पर, कृष्ण ने पाण्डवों के अपने वनवास में उनका मार्गदर्शन किया था जबकि मोज़ेज़ ने यहूदियों का मार्ग-दर्शन किया। दोनों अपने अनुयायियों को अग्नि व धुएँ में ही दृश्यमान होते हैं, दिखाई देते हैं।

इस प्रकार अन्त तक, मोज़ेज़ का चरित कृष्ण के चरित के बिल्कुल समरूप है। मोज़ेज़ के अन्त के बारे में कहा जाता है : "यहूदी लोग मीदिया-नाइटों से लड़े और उन पर विजय प्राप्त की। जब (मिस्र छोड़ने के) ४० वर्ष पूरे हो गए, तब ३० दिन की अवधि में मोज़ेज़ ने यहूदी-समागम को सम्बोधित किया और कहा कि चूँकि मैं अब १२० वर्ष की आयु का हो चला हूँ, इसलिए ईश्वर की इच्छानुसार अब मुझे इस संसार से विदा होना है। उसने उन लोगों से कहा कि वे ईश्वर का एक मन्दिर बनाएँ और आदेश दिया कि उसके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन किया जाए।"[2]

---

१. एलबर्ट जे० एडमण्ड्स कृत 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पैल्स', पृष्ठ २५।

२. दि वर्क्स ऑफ़ फ्लेवियस, जोसेफ़स पृष्ठ १०७ से ११६।

बिल्कुल यही कुछ भगवान् कृष्ण के बारे में भी कहा जाता है। वे भी १२० वर्ष की उम्र के थे जब उन्होंने अपने लोगों से कहा था कि मेरे जीवन का उद्देश्य पूरी तरह समाप्त हो गया और इसलिए मैं वानप्रस्थी हो जाऊँगा तथा अपनी इहलीला समाप्त हो जाने की प्रतीक्षा करूँगा।

इसलिए एडमण्ड्स, जिसे हमने ऊपर उद्धृत किया है, पूरी तरह सही है। न केवल यहूदी, अपितु यूनानी और अरब भी—सभी हिन्दू-धर्म में दीक्षित थे और प्राचीन युगों में संस्कृत भाषा सीखते थे। हिन्दू अपनी पवित्र विद्या का ज्ञान सर्वत्र प्रचार-प्रसार करने को उत्सुक, आतुर था और हेलेन-वादी इसका भाषान्तर करने को उत्सुक, उद्यत था···(अलेक्जेण्डर पोलिहिस्टर के) एक अवतरण में, एशिया लघु का एक लेखक अलेक्जेण्ड्रिया के साइरिल द्वारा हमारे पास सुरक्षित रखा गया है···लेखक ने बैक्ट्रिया के धार्मिक व्यक्तियों को (ईसा-पूर्व दो शताब्दी में) समन सम्बोधित करके बुद्ध-धर्म का ज्ञान प्रकट कर दिया है···(समन संस्कृत में श्रमण है)··· अलेक्जेण्ड्रिया के क्लीमैण्ट के एक अवतरण में (स्त्रोमाटा III-७) पोलिहि-स्टर की भारत-सम्बन्धी रचना का उल्लेख है और उसके पूर्वापर संदर्भ में क्लीमेंट ने निर्वस्त्र योगियों का वर्णन सत्य के सृजनकर्ताओं के रूप में किया है।"[1]

पश्चिमी लेखकों ने हिन्दू-धर्म को बौद्ध-धर्म समझकर स्वयं दिग्भ्रमित होकर विश्व को गलत राह पर चलाया है। इसलिए ऐसे सब मामलों में पश्चिमी लेखकों के बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी सभी संदर्भों को हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी ही समझना, मानना चाहिए।

तदनुसार, मुस्लिम समनी वंश का नाम ईश्वर से डरनेवाले, परम भक्त, हिन्दू श्रमणों से पड़ा है जो अत्यन्त तापसी जीवन बिताते थे। हिन्दू-शासन की समाप्ति तथा परिणामस्वरूप पवित्र हिन्दू प्रशिक्षण निरस्त हो जाने के साथ ही, इन श्रमणों को बलात् इसलाम स्वीकार कराया गया, दुश्चरित्रपूर्ण जीवनयापन कराना सिखाया गया और अन्त में वे क्रूर-नर-

---

१. एलबर्ट जे० एडमण्ड्स कृत 'बुद्धिस्ट एंड क्रिश्चियन गोस्पैल्स', पृष्ठ २५-२६।

राक्षस व निर्दयी फ़कीर बन गए।

भारत में भी, दो युवा ब्राह्मण बालक जिनको भद्र, विनीत, ईश्वर से डरनेवाले संस्कृत-पाठी पंडित होकर चतुर्दिक यशस्वी होना चाहिए था, जब अपहृत और हरम में पालित-पोषित हुए तब वे इमादशाही और बारीदशाही की खूंखार सल्तनतों के पूर्वज बन गए। ये सल्तनतें विश्व-भर में फैली अन्य सल्तनतों से कामुकता, विश्वासघात और नृशंसता-क्रूरता में किसी प्रकार भी भिन्न न थीं।

निर्वसन तपस्वी जीवन और ईमानदारी, मानव-सेवा और सत्य, सम्पूर्ण सत्य व सत्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं—पर आग्रह हिन्दू सिद्धान्त, हिन्दू आचरण हैं। हरिश्चन्द्र, राम और सावित्री ऐसी ही कुछ महान् नर-नारियाँ विभूतियाँ हैं हिन्दू जिनकी पूजा-अर्चना करते हैं। अनासक्ति और निर्वसन, नग्नता की सीमा तक अपरिग्रह हिन्दू-पूजा-पद्धति, भक्ति हैं।

"क्लीमैंट उन सूचीस्तम्भीय (पिरामिडी) स्तूपों का वर्णन करता है जिनमें एक ईश्वर की अस्थियाँ संग्रहीत थीं···ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में हम सीरियाई-सेना में हाथियों पर कुछ हिन्दू महावतों से भी मिलते हैं··· हिन्दू-दर्शनशास्त्र···के प्रति जिज्ञासा प्रज्ञावान यूनानियों ने प्रकट की थी··· क्राइस्ट के समय पाठकों, प्रवाचकों की शालाएँ पाली-सिद्धान्तों का पठन-पाठन चालू रखे हुए थीं···संवाद, संभाषण के प्रत्येक संग्रह के अपने-अपने आचार्य थे जो सम्पूर्ण संग्रह, ग्रंथ को हृदयंगम-कंठस्थ किए हुए थे।"[1]

सूचीस्तम्भीय स्तूप हिन्दू स्तूप थे जिनमें भगवान् कृष्ण या अन्य देव-तुल्य व्यक्तियों की अस्थियाँ संयोजित थीं। यह धारणा गलत है कि स्तूपों का आविष्कार, निर्माण बुद्ध के अनुयायियों ने किया था। महावतों, श्रमणों, हिन्दू-शास्त्रों, पूजा-पद्धति, भक्ति आदि का संदर्भ स्पष्ट संकेत देता है, दर्शाता है कि ईसा-पूर्व, क्रुस्ती-पूर्व विश्व में हर स्तर और हर श्रेणी का व्यक्ति एक हिन्दू ही था।

पश्चिमी विद्वानों ने बौद्ध-धर्म या जैन-धर्म की बात करके प्रायः स्वयं को और अन्य लोगों को भी दिग्भ्रमित, पथभ्रष्ट किया है, जबकि उनको

१. एलबर्ट जे० एडमण्ड्स कृत 'बुद्धिस्ट एंड क्रिश्चियन गोस्पैल्स', पृष्ठ २६।

केवल हिन्दू-धर्म की ही बात, चर्चा, उल्लेख करना योग्य था।

बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म और हिन्दू-धर्म एक ही संस्कृति के विभिन्न पक्ष मात्र हैं। बुद्ध एक हिन्दू राजकुमार मात्र ही था जो तपस्वी बन गया। बुद्ध ने कभी भी लेशमात्र उल्लेख नहीं किया कि वह एक भिन्न धर्म की स्थापना के लिए हिन्दू-धर्म का परित्याग कर रहा था। अतः वे सभी जो बौद्ध-धर्म को हिन्दू-धर्म से भिन्न, पृथक् मानकर उसकी चर्चा करते रहे या तत्सम्बन्ध में लिखते रहे हैं, पूरी तरह गलती पर हैं। परिणामस्वरूप, कहीं भी बौद्ध-धर्म के प्रचलन के संदर्भों को हिन्दू-धर्म के अस्तित्व का प्रमाण, साक्ष्य ही मानना चाहिए।

"सिल्वन लेवी···अर्मेनिया में हिन्दू बस्ती के एक अर्मेनियाई इतिहासकार के हवाले से एक कहानी बताता है···यह हिन्दू बस्ती प्रथम शताब्दी से चौथी शताब्दी तक बनी रही थी।"[१]

चूँकि अर्मेनिया स्वयं ही एक हिन्दू देश था, इसलिए यह कहना भ्रामक है कि अर्मेनिया में एक हिन्दू बस्ती थी। इस प्रकार से तो स्वयं बम्बई में भी, जो भारत की एक महानगरी है, एक भाग है जो 'हिन्दू बस्ती' कहलाता है इसी नगरी के उपनगर 'दादर' में। क्या इसका यह अर्थ है कि हिन्दू मात्र मुट्ठी-भर लोग ही हैं जो एक महानगरी की छोटी-सी बस्ती में ही सिमटे हुए हैं ? इतिहास-लेखकों और शोधकर्ताओं को ऐसी संभावनाओं पर भी विचार करते रहना चाहिए। यह भी हो सकता था कि अन्य धर्मों या संप्रदायों-पंथों के उदित हो जाने पर भी, जो लोग स्वयं को निष्ठापूर्वक व आग्रहपूर्वक हिन्दू ही घोषित करते रहे, वे थोड़े-से ही रह गए थे। अन्य लोगों की बहु-संख्या, चाहे हिन्दू ही थी, स्वयं को हिन्दू घोषित करने के लिए शायद न तो कोई हिम्मत, प्रेरणा या निश्चय प्राप्त कर सकी हो।

'अर्मेनियन' या 'अर्कमेनियन' शब्द स्वयं ही सूर्योपासक अर्थात् एक हिन्दू का अर्थ-द्योतक है। संस्कृत में 'अर्क' सूर्य का द्योतक है और 'मानव' आदमी 'मैन' है।

"बोर और गार्बो ने बताया है [रिचर्ड गार्बो—फ़िलॉसफ़ी ऑफ़

---

१. रिव्यू दे आई हिस्टोइरे डेस रिलिजन्स, १८०१।

एन्शेण्ट इंडिया—शिकागो (१८६७)] कि मनुष्य का गूढ़ ज्ञानवादी के रूप में भौतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक वर्गीकरण सांख्य-दर्शनशास्त्र के तीन गुणों के समान ही है।"[1]

इस संक्षिप्त विवेचन से पाठक को विश्वास हो जाना चाहिए कि पश्चिमी एशिया और यूरोप में कृस्ती-पंथ-पूर्व का सारा वातावरण पूर्ण-रूपेण हिन्दू-वातावरण ही था। चूंकि जीसस मात्र एक काल्पनिक व्यक्तित्व ही है, तथाकथित कृस्ती-पंथ भी एक पृथक् हो गया पंथ ही था जो बिना किसी अन्तर के भी अपने को पृथक्, विभिन्न दिखाने के लिए एक झूठी, नकली सांकेतिक नाम-पर्ची अपने ऊपर लगा बैठा।

---

१. एलबर्ट जे० एडमण्ड्स कृत 'बुद्धिस्ट एंड क्रिश्चियन गोस्पैल्स', पृष्ठ ३८।

अध्याय १६

हिन्दू प्रथाएँ ही कृस्ती-रूप में व्यवहारगत हैं

कृस्ती-पंथ कोई धर्म नहीं होने के कारण आश्चर्य नहीं है कि यह अब भी उन्हीं हिन्दू धार्मिक शब्दावली और कर्मकांडों, प्रथाओं का पालन कर रहा है जो उस समय विद्यमान थीं जब कृष्ण मन्दिर-व्यवस्था का विवाद उठा ही था।

२००० वर्ष पूर्व समस्त विश्व में प्रचलित हिन्दू-प्रथा के अनुसार (मदन या कामदेव या अनंग के विभिन्न नामों से पुकारे जानेवाले) प्रेम के देवता को भगवान् शिव द्वारा भस्म कर देने और पुनर्जीवित कर देने के अवसर पर उल्लास और आमोद-प्रमोद का समारोह २५ मार्च के दिन मनाया जाता था। वही उत्सव आज भी हिन्दुओं द्वारा 'होली' के रूप में उल्लास-पूर्वक मनाया जाता है। यह सार्वजनिक प्रहर्ष, उल्लास से पूर्ण उत्सव है। यह विषुव, सायन के बाद लम्बे, बड़े दिनों के प्रारम्भ होने का संकेत भी था। इसका सर्वाधिक आधुनिक, नया रूप 'अप्रैल मूर्ख दिवस' है जो १ अप्रैल को मनाया जाता है।

हिन्दू नववर्ष दिवस भी २५ मार्च के आसपास ही होता है।

प्रोफेसर वैल्स ने अपनी पुस्तक 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?' में उपर्युक्त की साक्षी दी है, उसे प्रामाणिक, सही माना है।

वे यह भी कहते हैं कि एक मृत व्यक्ति को कर्मकांडों के माध्यम से ईश्वर से मिला देने, जोड़ देने की प्रक्रियाएँ उन दिनों में आवश्यक समझी जाती थीं। यह मात्र हिन्दू विश्वास के साथ ही मेल खाता है—अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की पृथक्-पृथक् आत्मा भी उसी दिव्य परमपिता, परम-आत्मा का अंश है।

प्रोफेसर वैल्स अन्य कृस्तियों के साथ ही यह गलत विश्वास करते हैं

कि बपतिस्मा में जल में प्रवेश का अर्थ मृत्यु, निमज्जन डुबकी का अर्थ दफनाना और पुनः बाहर आ जाना पुनर्जीवन ग्रहण करने का द्योतक था।

इसी प्रकार सभी बातों में घाल-मेल, घपलेबाजी, ऊटपटाँग गड्ड-मड्ड हो गया। वे तथाकथित तीन कर्म 'स्नान' का मात्र एक ही सरल, सीधा कर्म है। यह सर्वज्ञात है कि किसी भी हिन्दू कर्मकांड या समारोह से पूर्व, व्यक्ति को पवित्र, शुद्ध होने के लिए स्नान करना पड़ता है। अतः आज जिसे कृस्ती-बपतिस्मा प्रथा समझते हैं, वह तो हिन्दुओं का स्नान मात्र है—अन्य कुछ नहीं।

स्नान के बाद व्यक्ति को बिना सिले सफेद वस्त्र धारण करने को दिए जाते हैं, उसे नया नाम दिया जाता है और दूध व शहद ग्रहण करता है। यह भी हिन्दू प्रथा है। यज्ञोपवीत, जनेऊ धारण करनेवाले हर बालक को ये वस्तुएँ दी जाती हैं और उसका नाम भी नया ही रख देते हैं। यह समारोह 'व्रत बंधन' या 'मौंजी-बंधन' कहलाता है। पवित्र, आशीर्वाद-युक्त प्रसाद दूध और शहद 'तीर्थ' कहा जाता है। इसकी घूंट, चुस्की लेना शुभ, मांगलिक विश्वास करते हैं।

पवित्र स्थानों-तीर्थों में परम्परागत रूप से दाढ़ी-मुंडन-क्षौरकर्म व स्नान करने के बाद बिना सिलाई किए श्वेत परिधान धारण करके प्रवेश करने की हिन्दू-प्रथा इसलाम में भी प्रचलित है क्योंकि 'इसलाम' शब्द का अर्थ भी हिन्दू-देवताओं के मन्दिर ही (ईश-आलयम्) है।

प्रोफेसर वैल्स का कथन है कि ओसिरियन उत्सव मृत्युपरान्त मोक्ष-प्राप्ति के लिए निरूपित था। हिन्दुओं की पवित्र देव-भाषा संस्कृत में ईश्वर का अर्थ परमात्मा है। अतः मिस्र में सूर्य देवता का शब्द ओसिरेस ईश्वर-सर्वज्ञ देव का अपभ्रंश रूप स्पष्ट है। हिन्दू-विश्वास, आस्था के अनुसार मृतक सूर्यलोक में चले जाते हैं। तथाकथित कृस्तियों द्वारा मनाया जानेवाला त्योहार 'ऑल सोल्स डे' हिन्दू-प्रथा के 'सर्व पितृ अमावस्या' का लगभग पूर्णरूपेण अनुवाद ही है—इसमें दिवंगत पूर्वजों को श्रद्धांजलि दी जाती है। प्राचीन काल के अरबों और यूरोपियनों में ओसिरियन उत्सव स्पष्टतः हिन्दू त्योहार ही था। इस प्रकार अरब लोग व यूरोपियन लोग मूलतः हिन्दू ही हैं।

बपतिस्मा पद्धति, हम देख ही चुके हैं कि हिन्दू-स्नान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यह भी सिद्ध करता है कि यहूदी भी हिन्दू ही हैं।

प्रोफेसर वैल्स ने सही पर्यवेक्षण किया है कि, "बाद में यह स्पष्ट करना सहज, स्वाभाविक ही था कि कृस्ती-प्रथा के मूल को इस रूप में प्रतिबिम्बित किया जाए कि जीसस द्वारा ही प्रारम्भ की गई थी या उसने ही इसको कम-से-कम यह रूप प्रदान किया ही था।"[१]

कई कृस्ती विद्वान् मुक्त-कंठ से स्वीकार करते हैं कि यूखारिस्त (परमप्रसाद) भी कृस्ती-पूर्व की मिथराइक-प्रथा थी। हम यहाँ कह देना चाहते हैं कि सभी तथाकथित इसलामी-कर्मकाण्ड व पद्धतियाँ, प्रथाएँ हिन्दू-मूलक ही हैं। किन्तु सभी विद्वान् दुर्भाग्यवश एक ही गलती करते रहे हैं। वे भ्रमवश यह विश्वास करते रहे कि कई भिन्न पंथ थे जो अलग-अलग देवता के प्रति समर्पित थे, उन्हीं के प्रति अपनी निष्ठा रखते थे। हिन्दुओं के तो लाखों-करोड़ों देवताओं का एक सर्वदेवमन्दिर, देवकुल होता है। हर व्यक्ति या परिवार-कुटुम्ब अथवा समूह किसी एक को या जिनको या जितने को वह चाहे, पूजने के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु उस कारण या आधार पर भक्त किसी एक ही पंथ या सम्प्रदाय का व्यक्ति नहीं हो जाता। व्यक्ति पूर्णतः हिन्दू ही बना रहता है जो किसी भी समय देवत्व की किसी भी रूप-शैली की पूजा-आराधना करने को स्वतन्त्र है क्योंकि हिन्दू-धारणा के (आधार पर, उसके) अनुसार ईश्वरत्व एक है जो स्वयं को विभिन्न रूपों में प्रकट करता है जो संख्या की दृष्टि से चल और अचल होने के साथ-साथ इस ब्रह्माण्ड में मूर्त और अमूर्त, स्पर्श्य और अस्पर्श्य भी हो सकता है।

पश्चिमी विद्वान्, जिनको उनको उच्च पदों पर आसीन होने के कारण सर्वज्ञाता विश्वास किया गया, ऐसी गलत या अपरिपक्व धारणाओं को काफी मात्रा में प्रचारित-प्रसारित करने के दोषी रहे हैं।

सूर्य-पूजा, सूर्योपासना कृस्ती-पूर्व यूरोप की हिन्दू-संस्कृति का अटूट, अविभाज्य अंग रही है। एक पर्वत के पीछे से उसका उदय होना दिखाना अनेक सर्वसाधारण प्रतीक-रूपों में से सर्वाधिक लोकप्रिय निरूपण था। ऐसे

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ १८५।

चित्रों में सामान्यतः सूर्य के बिना ही प्रकाशवान, आलोकित करती किरणें ही दिखाई जाती थीं। अर्मेनियन गिरजाघरों में जाज्वल्यमान किरणों के साथ वही सूर्य है—एक किरण-समूह क्षैतिज और दूसरा किरण-समूह अनुलम्बीय स्थिति में—जो क्रुस्ती-पूजा के रूप में, जीसस के रूप में, जीसस के स्थान पर—उसकी बजाय—पूजा का केन्द्र, प्रमुख बिन्दु-आकर्षण है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि चाहे अर्मेनियन लोगों को जबरन और भयातंकित कर क्रुस्ती-पंथ स्वीकार, अंगीकार करने के लिए कितना ही विवश किया गया, किन्तु वे आज भी क्रुस्ती-बाह्य आवरण के भीतर अपनी सूर्योपासना ही जारी रखे हुए हैं। कदाचित् बहुत कम आधुनिक अर्मेनियन लोग इस बात की अनुभूति करते हों, किन्तु उन लोगों द्वारा केन्द्रीय आकृति के बिना ही क्रुस्ती-पंथ के मात्र बाह्य रूप को ही स्वीकार करने की बात भी एक महत्त्वपूर्ण संकेतक है। स्वयं अर्मेनिया भी शुद्ध, वास्तव में संस्कृत 'अर्क-मानव' (अर्थात् सूर्योपासक मनुष्य) शब्द है। सूर्य के लिए 'अर्क' और 'रवि' जैसे शब्द मिस्र में 'रा' (सूर्य का अर्थ-द्योतक) और अर्मेनिया में 'अर' विकृत, अर्धरूप में रह गए। फलस्वरूप अर्मेनियन रीति-रिवाजों, पद्धति-प्रथाओं और प्रस्तुतियों में अभी भी अविस्मरणीय हिन्दू, संस्कृत छाप और विशिष्टता विद्यमान है, उपलब्ध है।

हेलियोपोलिस नामक विश्व-प्रसिद्ध नगर हिन्दू शिक्षा, ज्ञानार्जन का केन्द्र था। इसकी भ्रामक यूनानी वर्तनी के कारण इसका सूर्यपुर नाम भी प्रायः विद्वानों की दृष्टि से ओझल ही रह जाता है। थोड़े-से स्पष्टीकरण से यह समझ में आ जाएगा। संस्कृत का 'स' बदल जाता है यूनानी 'ह' में। इसलिए सूर्यास 'हेलियोस' हो गया। इसी प्रकार अन्त्य 'पुर' भी 'पोलिस' हो गया जैसे छोटे बच्चे 'र' का उच्चारण 'ल' करते हैं, उसी प्रकार कठोर संस्कृत ध्वन्यात्मक प्रशिक्षण से विलग हुए यूरोपीय लोगों ने शनैः-शनैः अनजाने में ही 'पुर' का उच्चारण 'पोलिस' में बदल दिया। अतः 'हेलियोपोलिस' प्राचीन हिन्दू नगर, सूर्यपुर है।

प्राचीन हिन्दू-प्रथा का अनवरत पालन ही पूर्वकालीन क्रुस्ती यूखारिस्त (परमप्रसाद) एक पूर्ण भोज (भोग) था और उसमें प्रार्थना द्वारा पवित्र किए गए टुकड़े, अंश को पृथक् कर लेने और उसका भक्षण, ग्रहण करने की

प्रक्रिया शामिल थी। प्रोफेसर वैल्स कहते हैं कि रोटी और शराब क्रमशः जीसस के शरीर और रक्त के द्योतक, प्रतीक हैं। हिन्दुओं में भोजन दिव्य-मूर्ति के समक्ष रख दिया जाता है और फिर देवता का आह्वान किया जाता है कि वह इसे ग्रहण करे तथा अपना आशीर्वाद दे जिससे इस प्रसाद को ग्रहण करनेवाले भक्तों को इस दैवी-प्रकाश और अनुकम्पायुक्त खाद्य-भक्षण से शारीरिक पुष्टि, भगवत्कृपा और चैतन्य प्राप्त हो।

कृस्ती-पंथ के एक विद्वान् अक्टीमेयिअर ने मार्क में उल्लेख की गई ४,००० और ५,००० व्यक्तियों की दो चमत्कारी दावतों की इस साक्ष्य के रूप में व्याख्या की है कि गैर-पॉल की पद्धति वाला परमप्रसाद मात्र कोरिन्थ तक ही सीमित, प्रचलित नहीं था। वह सही है। मन्दिरों में सामुदायिक भोज या दावत, जिसमें नगर की सम्पूर्ण जनता तथा कुछ बाहरी अतिथि भी शामिल हों, हिन्दू-पूजा के सामान्य लक्षण हैं। ऐसे मन्दिर हिन्दू-देवकुल के सभी देवताओं या उनमें से कुछ को अपने यहाँ प्रतिष्ठित किए रहते थे।

कृस्ती-धर्मविज्ञान के निपुण विद्वान् अभी तक यही विचार करते रहे हैं कि अन्तिम भोज अवश्यमेव परम-प्रसाद अर्थात् प्रभु-नैवेद्य ही था। किन्तु हमारी शोध-उपलब्धि इससे बिल्कुल भिन्न है। हमारे विचार में तो बाइबल की कोई धार्मिक भूमिका है ही नहीं। अतः अन्तिम भोज प्रारम्भिक कृस्ती नेताओं की बैठक का अन्तिम रात्रि-भोज था जो उन रोमन सैनिकों द्वारा भंग कर दिया गया था जिन्होंने मुखबिरों से सूचना पाने पर षड्यन्त्रकारियों के गुप्त स्थान पर छापा मारा था और उनको पकड़कर बन्दी बना लिया था।

ईस्टर भी कृस्ती-उत्सव, समारोह नहीं है। यह यहूदी 'पास ओवर' त्योहार का जारी रहना ही था। मिस्र से यहूदियों के निष्क्रमण, प्रस्थान का यह द्योतक विश्वास किया जाता है। तथापि यह सत्य नहीं है। यह एक प्राचीन हिन्दू-पर्व है जो एक महत्त्वपूर्ण सूत्र से स्पष्ट है। उक्त अवसर पर यहूदी लोग बेखमीर की रोटी और एक कड़वी शाक खाते हैं। हिन्दुओं में भी अपने नववर्ष के दिन नीम की कुछ पत्तियाँ खाना, जो अत्यन्त कटु होती हैं, सामान्य बात है, प्रथा है। यह दिवस ईस्टर के आसपास ही होता है।

यूनानी हों या यहूदी, कृस्ती-पूर्वकाल की परम्पराएँ सभी प्रकार हिन्दू-परम्पराएँ ही थीं। यह तथ्य प्रोफेसर वैल्स की इस टिप्पणी में भली प्रकार द्रष्टव्य है : "अस्कलेपियोस होमर में एक कुशल चिकित्सक के रूप में विद्यमान है जिसके पुत्र ट्राय में यूनानी शिविर में चिकित्सक थे। कुछ शताब्दियों बाद ही वह त्राता, संरक्षक देवता के रूप में व्यापक स्तर पर पूजा जाने लगा था।"[१]

हिन्दू-परम्पराएँ लाखों, करोड़ों वर्ष प्राचीन हैं जबकि हेलेनिस्टिक परम्पराएँ कुछ हजारों वर्ष पुरानी ही हैं। अतः उनमें जब भी कभी कोई समरूपता खोज ली जाए, तब यह तो स्वतः स्पष्ट होना चाहिए कि उसका मूलोद्भव हिन्दू-धर्म से ही है। हिन्दुओं में दो युग्म-भ्राता अश्विनीकुमारों ने देवताओं के परम वैद्यों, चिकित्सकों के नाते देवासुर-संग्राम में आहत देवताओं की सेवा-सुश्रूषा, प्राथमिक चिकित्सा की थी। वे एक पुत्र और परी से जन्मे थे। इससे यूनानी पौराणिकता का हिन्दू-मूल स्रोत दृष्टान्त के रूप में साफ हो जाना चाहिए।

प्रोफेसर वैल्स आगे कहते हैं—"यह साफ है कि जब कृस्ती-पंथ का प्रारम्भ हुआ तब परिआवरण में एक प्रभावकारी तत्त्व के रूप में गूढ़ ज्ञान-वाद का कोई-न-कोई प्रकार विद्यमान था। फारस में अभी भी ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो स्वयं को मन्डीयन (गूढ़ ज्ञानवादी) कहते हैं और जिनके धार्मिक पाठ्य-सार मुसलिम विजय के समय भी काफी प्राचीन थे।"[२]

विश्व के लिए फ्रेंच शब्द 'मोन्डे' है। यह संस्कृत शब्द 'ब्रह्माण्ड' से मूलोद्भूत है। संस्कृत, हिन्दू-परम्परा में 'ब्रह्म-वादिन' एक अन्य शब्द है 'गूढ़ ज्ञानवादी' के लिए, उसके पर्याय के रूप में। अतः यह स्पष्ट है कि तथाकथित मन्डीयन लोग हिन्दू थे और प्राचीन फारसी तथा फ्रान्सीसी लोग भी हिन्दू ही थे।

गूढ़ ज्ञानवाद का अंग्रेजी-समानक 'ज्ञानोस्टिसिज्म' भी शुद्ध संस्कृत युग्म-शब्द है—'ज्ञ-आस्तिक' वाद अर्थात् वे लोग जो दैवी अंश की

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट?', पृष्ठ १९०।

२. वही, पृष्ठ १९१।

प्रज्ञात्मक प्रशंसा करते हैं या उसकी व्यापकता, बृहद् रूप को बौद्धिक स्तर पर स्वीकार करते हैं।

गूढ़ ज्ञानवाद का स्पष्टीकरण, उसकी व्याख्या करते हुए प्रोफेसर वैल्स कहते हैं, "यह आधारभूत गूढ़ ज्ञान का विचार है कि प्रत्येक मानव अस्तित्व एक स्वर्गिक, आकाशीय परम-अस्तित्व का अंश है···इस स्वर्गिक अस्तित्व को उच्चतम देवांश न मानकर प्राय: सर्वोच्च अस्तित्व द्वारा एक अचेंत्यपाल आदिरूप-मानव के रूप में स्वयं सृजित अस्तित्व मानते थे···मानव का काम यह स्वीकार, मान्य करना है कि उसका सत्यरूप, उसकी आत्मा का यही स्वर्गिक प्रारम्भ प्रादुर्भाव है।"

उपर्युक्त कथन अन्य कुछ न होकर हिन्दू विचार ही है। आदि आदर्शरूप मानव भगवान् राम या भगवान् कृष्ण ही हैं जो परिणामस्वरूप, संस्कृत भाषा में, मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में विभूषित किये गये हैं।

यूनानी रचनाओं में उपलब्ध होनेवाला ईश्वर-सम्बन्धी 'सीमन (साइमन) मागस' नाम-सूचक शब्द हिन्दू शब्दावली 'श्रीमन् महायोगेश' है। "सीमन ने शिक्षा दी थी, बताते हैं कि उसमें (आकाश से) पृथ्वी पर यह महाशक्ति मानव को प्रदर्शित करने के लिए प्राप्त हुई थी कि उनकी आत्माएँ भी उसी महाशक्ति की अंश हैं। उसने अपनी शिक्षाओं में यह भी कहा कि मानव को मोक्ष-प्राप्ति उसकी शिक्षाओं को ग्रंहण करके ही हो सकती थी, मिल सकती थी···उसने अपने अनुयायियों को इस प्रकार प्रभावित कर दिया कि वे उसे अपना दैवी-मुक्तिदाता, त्राता, संरक्षक मानने लगे।"

उपर्युक्त सार वही है जो भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्-गीता में कहा है। 'श्रीमद्' शब्द भी श्रीमन् अर्थात् सीमन (साइमन) का ही व्युत्पन्न शब्द है।

"श्कनिथाइस ने हिप्पोलिटस (मृत ईसा-पश्चात् २३५ में) के साक्ष्य से दर्शा दिया है कि सीमन की अनेक उपाधियों में से एक क्राइस्ट (क्रस्त) अर्थात् 'मसीहा' थी।[1]

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १६२।

यह इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक, संकेतक है कि श्रीमन् (श्रीमान् कृष्ण) सीमन (साइमन) क्राइस्ट (कृस्त) के रूप में ही उच्चारण किया जाता था। 'मसीहा' उच्चारण भी यूरोपीय, यूनानी बोली में संस्कृत शब्द 'महेश' अर्थात् महान् ईश्वर के लिए ही था। यह अवतार-रूप में भगवान् कृष्ण का ही द्योतक था। सभी हिन्दू देवगणों को प्रयोज्य श्रीमन्-सम्बोधन, उपाधि सम्पूर्ण धन-वैभव और स्रोतों पर नियंत्रण का संकेतक, परिचायक है।

कृस्ती 'त्रिनिति' शब्द—त्रियेक परमेश्वर—भी एक हिन्दू संकल्पना ही है। स्वयं 'त्रीणिति' शब्द भी संस्कृत यौगिक शब्द 'त्रीणि-इति' अर्थात् 'इस प्रकार तीन मात्र' है। हिन्दू देव-त्रयी (त्रि-देव) में ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीन देव हैं, जो सृजन (सृष्टि), पालन (संरक्षण) और विध्वंस (विनाश) के संरक्षक, नियन्त्रक, नियामक हैं—सर्वेसर्वा हैं।

ईश्वर, उसके पुत्र और दिव्य-आत्मा की कृस्ती देव-त्रयी स्पष्टतः बाद का विचार है। यह प्रदर्शित करता है कि कृस्ती-पंथ ने मात्र बपतिस्मा ही किया और कृस्ती-छद्म-वेश में, भ्रामक रूप में पूर्वकालिक हिन्दू-प्रथाओं को ही जारी रखा।

'ईश्वर' ब्रह्मा, सृष्टिकर्ता—सृजनहार है। 'पुत्र' जो जीसस कहा जाता है तथ्यरूप में तो पालनहार विष्णु का स्थान लेता है क्योंकि हिन्दू विद्या, जनश्रुति में राम और कृष्ण जैसे अवतार मानव-रूप धारण किए विष्णु ही साकार माने जाते हैं। दिव्य-आत्मा भगवान् शिव के अतिरिक्त और कोई नहीं है क्योंकि वही 'भूतनाथ' अर्थात् आत्मा के स्वामी माने जाते हैं।

इससे यह दृष्टिगोचर हो जाता है कि कृस्ती-पंथ तो युगों-पुरातन, प्राचीन हिन्दू आस्थाओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों, प्रथाओं-पद्धतियों का नया नाम ही था।

इसकी पुष्टि पुरातत्त्वीय-खोजों, उपलब्धियों से भी होती है। प्रोफेसर वैल्स ने लिखा है, "द्वितीय और बाद की शताब्दियों की पूजा, सभा-स्थलियों और मकबरों की अभी हाल ही की पुरातत्त्वीय-खोजों, उपलब्धियों ने इस सिद्धान्त का तिरस्कार कर दिया है कि फिलस्तीन एक गैर-हेलेनवादी मरुद्वीप था। वे प्रदर्शित करते हैं कि वहाँ भी यहूदी लोग गैर-ईसाई स्रोतों से चित्रों और प्रतीकों का इस्तेमाल करते थे और इस प्रकार पूर्वीय तथा

यूनानी व रोमन संस्कृति में सम्मिलित, भागीदार रहते थे। लोहसे ने लिखा है कि यहूदियों ने स्वयं जिन विभिन्न सिद्धान्तों का निरूपण किया था उनका श्रेय भी गैर-यहूदी, गैर-ईसाई रचनाकारों को दे दिया था और भविष्य-कथन की देव-वाणियों में यहूदी वचन भी जोड़ दिये थे। दोनों ही मामलों में, गैर-ईसाई गैर-यहूदी विचारों के साथ यहूदी-विचारों का तादात्म्य प्रदर्शित करने का प्रयोजन, लक्ष्य ही था। यहूदी-गूढ़ ज्ञानवाद गैर-ईसाई रहस्यों के साथ अनेक विचारों का साम्य रखता था।"[1]

आश्चर्य होता है कि विश्व-भर के विद्वान्, वे चाहे यहूदी रहे हैं अथवा कृस्ती, इन विगत शताब्दियों-भर, इस तथ्य के इतने सारे अकाट्य प्रमाणों के होते हुए भी कि प्राचीन पश्चिमी एशिया और यूरोप की संस्कृति विश्व के अन्य सभी भागों के समान ही, पूर्णतः हिन्दू-संस्कृति ही थी, किस प्रकार यह पता करने में विफल रहे। उक्त निष्कर्ष से बचने के लिए इसे गूढ़-ज्ञानवादी, या यहूदी, या मन्डीमन, या अन्य कोई नाम देने का यत्न करना मात्र हठी व्यक्ति का दुराग्रह ही है। तथाकथित देववाणी उपासनालय शिव-मन्दिर के अतिरिक्त कुछ नहीं था क्योंकि ऐसे मन्दिर संस्कृत भाषा में शिवालय (या शिबालय) कहलाते हैं।

फिलस्तीन और फिलस्तीनी भी संस्कृत शब्द हैं जो क्रमशः ऋषि पुलस्ति का निवास-स्थान और उन्हीं (पुलस्ति) की सन्तानों, उनके वंशजों के द्योतक हैं। संस्कृत में पुलस्ति के वंशजों को पुलस्तिन कहते हैं। वे वास्तव में उद्दंड, कठोर, अपरिष्कृत व्यक्ति थे जो फिलस्तीनी शब्द दर्शाता है क्योंकि राक्षसराज रावण, जिसके विरुद्ध भगवान् राम को भयंकर, दुर्धर्ष सतत लम्बा युद्ध करना पड़ा था, वास्तव में एक पुलस्तिन अर्थात् फिलस्तीनी था। अतः विश्व जितनी जल्दी यह समझ जाए कि कृस्ती-पूर्व युगों में प्रचलित धर्म हिन्दू-धर्म ही था जिसने विश्व-भर में डंका बजा रखा था, उतना ही आसान विश्व इतिहास, संस्कृति और धर्म का अध्ययन करना हो जाएगा। तब विद्वानों को कृस्ती-पूर्व युगों में 'गैर-ईसाई, गैर-यहूदी रहस्यवादी पंथों' की चर्चा नहीं करनी पड़ेगी। ये सभी तथाकथित पंथ

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ १९४।

हिन्दू-धर्म के विलग हुए समूह ही थे। यह अनुभूति उनके अध्ययन को सरल और ग्राह्य, स्वीकार्य बना देगी। उन सभी को यदि प्राचीन विश्व की सर्वव्यापी हिन्दू-संस्कृति का भाग, अंश ही समझ लिया जाएगा तो उनका स्पष्टीकरण तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाएगा, समझ में आ जाएगा।

प्रोफेसर वैल्स का यह प्रेक्षण, हमारे विचार में पूरी तरह गलत है कि "जब कृस्ती-पंथ का उदय हुआ तब रोमन-साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों में कोई निश्चित विश्वासों या प्रथाओं का समूह, वर्ग नहीं था बल्कि इन्हीं दोनों बातों का अव्यवस्थित, ऊल-जलूल मेल था जो मिस्र, असीरिया, फारस, यूनान और अन्य स्रोतों के तत्त्वों से बना था।" यद्यपि वे अप्रशिक्षित पश्चिमी बुद्धि को भिन्न-भिन्न दिखाई पड़े, तथापि वे सभी पूरी तौर से हिन्दू रीति-रिवाज, आचरण ही थे। वे पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ रहे थे क्योंकि वे क्षेत्र हिन्दुओं के आदि मूलस्थान भारत, हिन्दुस्थान से प्रशासनिक और शैक्षिक दृष्टि से हजारों-हजारों वर्षों से अलग-थलग हो जाने के कारण, उनके विश्वासों और रीति-रिवाज़ों में एक विशिष्ट स्थानीय मोड़ और रुझान आने लगा था।

इसी सम्बन्ध में कुछ और साक्ष्य भी प्रस्तुत हैं। "जेन्द अवेस्ता के होरमुज्द याश्ता में अहुर माजदा अपने बीस नाम गिनता, बताता है। पहला है 'अकमी'—'मैं हूँ'—(संस्कृत में यह है 'अस्मि')। अन्तिम है 'अकमी यद अकमी'—'मैं ही वह मैं हूँ'। ये दो वाक्यांश बाइबल में भी नाम ही हैं। 'जेहोवाह' (उपनाम जेहवा) की व्युत्पत्ति वैदिक साहित्य में सीधी खोजी जा सकती है। 'जेहोवाह' असंदिग्ध रूप में वही चाल्डियन शब्द 'याह्वे' जैसा है। शीघ्रता करने या शीघ्रता से करने, चलाने की द्योतक 'याः' धातु से व्युत्पन्न शब्द 'यदु' (जेंद—यजु), याह्वा, याह्वत् और स्त्रीलिंग 'याह्वे' या यह्वती ऋग्वेद में कई बार आये हैं। 'याहा' का अर्थ जल या सामर्थ्य भी है, जबकि 'याह्वा' विशेषण का अर्थ 'महान्—'बड़ा' है। इसी भाव से 'याह्वा' शब्द ऋग्वेद में सोम, अग्नि और इन्द्र के लिए भी प्रयुक्त हुआ है (ये तीनों हिन्दू देवकुल के देवता हैं)। अग्नि को एक बार 'याह्वा' कहकर

भी सम्बोधित किया गया है।"[1]

उपर्युक्त अवतरण सिद्ध करता है कि वेद, हिन्दू-धर्म और संस्कृत भाषा ही सम्पूर्ण धर्मों और संस्कृतियों के आदि और मूल-स्रोत व अक्षय कोषागार हैं, फिर वे चाहे फारसी, चाल्डियन, असीरियन, मायाकी, यहूदी, इसलामी या कृस्ती ही क्यों न हों। ये अत्यन्त सहज, स्वाभाविक ही है क्योंकि हिन्दू-संस्कृति तो लाखों-लाखों वर्ष पुरानी है जबकि अन्य सभी संस्कृतियाँ मात्र कुछ हजार वर्ष पूर्व ही जन्मी हैं।

चर्च (गिरजाघर) की जड़ें भी हिन्दू-प्रथाओं में ही हैं—इसका उल्लेख ऐतिहासिक स्थलों के विशेष लेखक फर्ग्युसन ने किया है। उसके अनुसार, "(भारत में) कारला स्थित गुफा-मन्दिर अपनी व्यवस्था में प्रारम्भिक कृस्ती-चर्च से काफी सीमा तक मिलता है। इसमें एक मध्य-भाग और पार्श्व-वीथियाँ, गलियारे होते हैं जो एक अर्धवृत्त कक्ष में या अर्ध गुम्बज में जाकर खत्म होते हैं जिसके चारों ओर पार्श्व-वीथियाँ बनी होती हैं, जाती हैं। इसकी व्यवस्था (रचना) और लम्बाई-चौड़ाई आदि नारविच गिरजाघर और केईन स्थित अब्बेये आक्स होम्मेस से लगभग पूरी तरह मिलती-जुलती हैं—बाद की इमारत में सिर्फ बाहरी गलियारे नहीं हैं।"[2]

यहूदी प्रज्ञा, बुद्धिवादी साहित्य में प्रज्ञा अस्तित्व-पूर्व की एक सत्ता निरूपित की गयी है जो पृथ्वी पर मानव को सावधान करने और उसको उपदेश देने के लिए आयी थी और जिओन में बस गयी, स्थापित हो गयी थी कही जाती है। वह अवतार स्पष्टतः भगवान् कृष्ण ही थे। ये तो भगवान् कृष्ण ही थे जिनका अर्जुन को उपदेश 'भगवद्गीता' के रूप में अत्यन्त श्रद्धेय, धर्मग्रंथ पूजित है। जिओन शब्द भी ईश्वर के अर्थ-द्योतक संस्कृत के 'देवन' शब्द का अपभ्रंश रूप ही है।

कृस्ती-पूर्व युगों में यहूदियों में सामान्यतः विश्वास प्रचलित था कि जब दुःख सबसे ज्यादा हो जाते हैं, तब शीघ्र ही ईश्वर का अभ्युदय

---

१. गंगाप्रसाद विरचित 'फाउण्टेन हैड ऑफ़ रिलीजन', पृष्ठ ४५, आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर द्वारा सन् १९६६ में प्रकाशित।

२. वही, पृष्ठ १९।

अवश्यम्भावी होता है। यही वचन तो भगवान् कृष्ण ने 'भगवद्गीता' में भी दिया है। यह भी सिद्ध करता है कि जरुस्लम के यहूदी मन्दिर में जो देवता प्रतिष्ठित, विराजमान था, वह भगवान् कृष्ण ही था।

कृस्ती मन्दिर चर्च (गिरजाघर) कहलाता है। इसका उद्भव संस्कृत शब्द 'चर्चा' से है; क्योंकि कृष्ण मन्दिर का प्रबन्ध नियंत्रित करनेवालों से विलग हुआ वर्ग आगे संघर्ष की योजना बनाने के लिए, उस पर चर्चा करने हेतु लोगों को निजी मकानों में ही एकत्र कर लेने मात्र से भी सन्तुष्ट हो जाने को तैयार था। इसके समर्थन में हम प्रोफेसर वैल्स का कथन उद्धृत करना चाहते हैं, "पॉल हमें बताता है कि कृस्ती-बैठकों में कोई भी व्यक्ति खड़ा हो सकता था और उसे जो भी 'दर्शन' प्राप्त हुआ था, उसकी उद्घोषणा कर सकता था, कुछ लोग भाव-विभोर हो कथन करते थे, बिना स्वयं समझे कि वे क्या कह रहे थे, जबकि अन्य लोग व्याख्या, भाव स्पष्ट करते थे (१ कोल० १४ : २६-३२)। एक वर्ग के सदस्यों में दुर्बोध कथनों की व्याख्याओं से अनेक प्रकार के सिद्धान्तों की स्थापना सरलता से हो सकती थी। पूर्वकालिक कृस्ती-पंथियों ने ऐसे वर्ग, समूह स्थापित कर लिए थे जो परस्पर भिन्न विचार रखते थे और परस्पर-विरोधी भी थे—यह तथ्य नव-विधान और उसी आधार पर समझ-योग्य होने से स्पष्ट है।"[१] तत्कालीन समाज में विद्यमान हिन्दू देव-पद्धति की सभी विभिन्न शाखाएँ, प्रशाखाएँ उस उग्रवादी-विलग वर्ग में स्थान पाने लगीं और प्रतिबिम्बित होने लगीं जिसको बाद में कृस्ती-पंथ कहा जाने लगा, उसी नाम से प्रचलित हो गया।

उपर्युक्त अवतरण से कई महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट, उजागर हो जाती हैं। सर्वप्रथम, कृस्ती-पंथ किसी पृथक् देव-पद्धति के रूप में प्रारम्भ न होकर मात्र सहानुभूति रखनेवाले एक चर्चा-वर्ग के रूप में शुरू हुआ था। दूसरी बात, बाइबल उस वर्ग के भावोद्गारों का सम्मिश्रण, एकत्रित ढेर है। तीसरी बात, कृस्ती-पंथ ऐसे भिन्न विचारों का ढीला-ढाला समूहीकरण है

---

१. गंगाप्रसाद विरचित 'फाउण्टेन हैड ऑफ़ रिलीजन', पृष्ठ ४५, आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर द्वारा सन् १९६६ में प्रकाशित।

जो एक-दूसरे से "पूरी, बुरी तरह वैर-भाव रखते रहे" हैं।

अतः "पॉल बारम्बार भिन्न धारणाओं, विश्वासोंवाले कृस्तियों को अस्वीकार करता है और बाद में धर्म-पत्र लेखकों ने झूठे धर्म-प्रचारकों को डराया-धमकाया व दोषी घोषित किया है। रोम के क्लीमैंट और इग्नेशस जैसे गैर-धर्म वैज्ञानिक लेखक भी इसी प्रकार गुटबन्दी से घिरे हुए थे"— प्रोफेसर वैल्स का कहना है।

प्रोफेसर वैल्स की दृष्टि में यह "उल्लेखनीय है कि विद्वान् अभी भी आग्रह करते हैं कि कृस्ती-पंथ अन्य धर्मों से अत्यन्त भिन्न है यद्यपि वे पूरी तरह से देख सकते हैं कि इसने अन्य धर्मों के विभिन्न रूपों को प्रायः परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों के साथ ही न केवल स्वयं में संयोजित कर रखा है, बल्कि यह भी कि इसके बहुत सारे विचार गैर-यहूदी, गैर-ईसाई और यहूदी वातावरण में दर्शनीय, प्राप्य हैं।"[१]

प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि जिस सरलता व बल के साथ कृस्ती-पंथ सम्पूर्ण यूरोप में फैला, वही इस देव-पद्धति की उत्तमता का प्रमाण है। सफलता के शिखर पर आसीन होकर पीछे मुड़कर देखना और अपने काल्पनिक गुणों पर घमंड करना एक सामान्य मानव-कमजोरी है। ऐसा पश्च-दृष्टि औचित्य-निर्धारण अनुचित है। कृस्ती-पंथ और इसलाम दोनों ही तलवार के भरोसे, उसी के आधार पर फैले हैं। ईसा-पश्चात् चौथी शताब्दी तक तो कृस्ती-पंथ महत्त्वहीन पंथ ही रहा। रोमन सम्राट् कौन्सटैण्टाइन के संयोग-वशात् धर्म-परिवर्तन ने ही नयी-नयी कृस्ती-पंथी सरकार द्वारा सहायता प्राप्त कर यातना-भोगी चर्च, गिरजाघर को बचाव की अपेक्षा प्रहार, आक्रमण की नीति में परिवर्तन करने योग्य बना दिया— इसकी तीव्र गति की आलोचना बारम्बार की गयी है।"[२] ये तो रोमन शस्त्रास्त्र ही थे जिनके बल पर रोमन-शासन के अन्तर्गत क्षेत्रों में कृस्ती-पंथ लाद दिया गया। बाद में इन्हीं धर्म-परिवर्तित फ्रांसीसियों, जर्मनों,

---

१. 'डिड जीसस ऐक्ज़िस्ट ?', पृष्ठ २०१।

२. 'चौथी शताब्दी में गैर-ईसाई और ईसाई-पंथ में संघर्ष', ए० मोमिघानो लिखित, पृष्ठ १६३।

पुर्तगालियों, डचों व ब्रिटिशों ने स्वयं जीते गये अपने क्षेत्रों में बल और प्रलोभन के साथ कृस्ती-पंथ को फैलाया।

इसलाम इसी का खरा, समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत करता है। अरब लोगों ने, जिन्होंने अपने निकटवर्ती क्षेत्रों को पैरों तले रौंद डाला था, स्व-विजित क्षेत्रों में भयंकर जुल्मों व आतंक के माध्यम से इसलाम को फैलाया था। बाद में फारसियों, तुर्कों, भारतीयों, मंगोलियों, तातारों और अबीसीनियनों ने भी, यह भुलाते हुए कि उनको भी जुल्मों और आतंक, डर के माध्यम से इसलाम में परिवर्तित किया गया था, अन्य क्षेत्रों में इसलाम के प्रचार-प्रसार के लिए उन्हीं माध्यमों, तरीकों का उपयोग किया था। इसलिए इसलाम और कृस्ती-पंथ, दोनों को ही अपने सदस्यों में किन्हीं गुणों के आधार पर गौरव-अनुभव करने की बात नहीं है।

कृस्ती-पंथ और इसलाम, दोनों ने ही हिन्दू-पंथ को शक्ति के आधार पर समाप्त करते हुए भी पूर्व-प्रचलित हिन्दू रीति-रिवाजों को स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहण किया। उदाहरण के लिए, मुस्लिम लोग मक्का में शिव मन्दिर में भगवान् शिव की परिक्रमा करना जारी रखे हुए हैं।

इसलाम और कृस्ती-पंथ कभी भी उन क्षेत्रों में नहीं फैले हैं जिनको उन्होंने जीता नहीं और जिन पर उनका आधिपत्य, अधिकार नहीं रहा।

प्रोफेसर वैल्स विश्वास करते हैं कि "यदि जीसस पृथ्वी पर रहे होते तो उन्होंने अपने समकालीनों पर कोई भी प्रभाव नहीं डाला होता क्योंकि उनके जीवन का कोई भी निजी व्यक्तित्व और चरित्र उनसे सम्बन्धित पूर्ववर्ती साहित्य में वर्णित समाविष्ट, अंकित उल्लेखित नहीं है।"[1]

धर्मग्रन्थों (सुसमाचार-वृत्तों) से पूर्व के कृस्ती-साहित्य में जीसस को एक जीवित व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि एक अलौकिक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत, वर्णित किया गया है। वह जीसस क्राइस्ट (कृस्त) ईशस कृष्ण अर्थात् हिन्दू ईश्वर भगवान् कृष्ण था।

मोज़ेज़ ने जो दिव्य-दर्शन किया था, उसमें ईश्वर ने कहा था : "मैं ही वह मैं हूँ।" यह, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, हिन्दू धर्मग्रन्थों से ही लिया

१. 'दि हिस्ट्री ऑफ़ लेटर रोमन एम्पायर', पृष्ठ ३६६–३७३।

गया है।

चाहे आधुनिक यूरोपवासी गिरजाघरों (चर्चों) में जूते पहनकर ही भीड़-भाड़ लगाये रहते हैं, तथापि कृस्ती-पूर्व युगों में सारे विश्व-भर में जब लोग हिन्दू देवगणों के निकट, उनके दर्शनार्थ जाते थे तब उनको अपने जूते, चप्पल उतारने ही पड़ते थे। पुराने, प्राचीन विधान में, 'निष्क्रमण' वाले अध्याय में, अंकित है : "प्रभु (ईश्वर) का दूत एक अग्नि-लपट के रूप में उसके सामने उपस्थित हुआ···उसने कहा—'मोज़ेज़, मोज़ेज़—अपने पैरों से तुम अपने जूते उतार दो क्योंकि जिस स्थान पर तुम खड़े हो, वह पवित्र स्थान है'।"[1]

केवल हिन्दू लोगों में ही पवित्र स्थलों पर जूते, चप्पल लाना, ले जाना मना है—वर्जित है। इसलाम में धर्म-परिवर्तित लोग भी आज तक अपने जूते आदि प्रार्थना-स्थल के बाहर ही उतारने की प्रथा का पालन कर रहे हैं क्योंकि वे भवन अति पुरातन काल के हिन्दू मन्दिर ही हैं।

जब किसी व्यक्ति के घर पर कोई महानुभाव पधारता है, तो उसके चरण-प्रक्षालन की पद्धति, पोप तथा अन्य लोगों द्वारा जिसका अभी भी पालन किया जाता है, हिन्दू-कर्मकाण्ड का आचरण ही है। हिन्दू-रीति-रिवाजों में इसका अभी भी पूरी तरह पालन, निर्वाह किया जाता है। इसी पद्धति की पुष्टि में तो कहा जाता है कि जीसस ने अपने पट्ट-शिष्यों के पग-पखारे थे। पोप प्रति वर्ष एक बच्चे के पैर भी इसी रीति-रिवाज के अनुसार धोता रहा। इस परम्परा का मूलोद्भव हिन्दू यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करने के संस्कार में है जहाँ सभी बुजुर्ग लोग युवा ब्रह्मचारी, बटुक के पग-पखारते, चरण धोते हैं। यदि पैर धोने का कर्मकाण्ड मूलरूप में कृस्ती-पंथ द्वारा ही प्रारम्भ किया गया होता, तो आज भी कृस्ती-पंथ के गिरजाघरों में भारी भीड़वाले सभी सज्जन नंगे पैर ही प्रविष्ट होते। किन्तु वे तो, इसके विपरीत पूरी तरह जुराब-जूतों में सजे-सिमटे, मस्त रहते हैं।

कृस्ती-पंथियों और मुस्लिमों द्वारा भगवद्-स्मरण के समय प्रयोग में लायी जानेवाली मनकों की जपमाला की विधि हिन्दुओं द्वारा आविष्कृत

---

१. 'डिड जीसस ऐक्जिस्ट ?', पृष्ठ २०५।

और लोक-प्रचलित की गयी है। जिन लोगों को पूर्ण विचारशैली और क्रमानुसार पद्धति का सम्यक्-विवेचन ज्ञात नहीं है वे तर्क दे सकते हैं कि हिन्दुओं ने ही यह जपमाला-पद्धति कृस्ती-पंथियों या मुस्लिमों से सीख ली होगी। ऐसे लोगों को सदैव यह तथ्य स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू-धर्म की प्राचीनता, पुरातनता तो अविस्मरणीय युगों की है, जबकि कृस्ती-पंथ मात्र १९०० वर्ष पूर्व का और इसलाम केवल १३०० साल पुराना ही है। अत: जब कभी जपमाला जैसी कोई बात इन सभी धर्मों, पंथों में समान रूप से पायी जाए, तब उक्त बात स्वयं इस तथ्य का निर्णायक प्रमाण है कि कृस्ती-पंथ और इसलाम तो स्वयं हिन्दू-धर्म की शाखाएँ, प्रशाखाएँ ही हैं— उसी से उद्भूत हैं।

अध्याय १७

कृस्ती-पंथ की हिन्दू-शब्दावली

कृस्ती-पंथ हिन्दू कृष्ण-पंथ का जारी रहना मात्र ही है—इस तथ्य का दिग्दर्शन इसकी शब्दावली से किया जा सकता है जो लगभग पूरी तरह हिन्दू-संस्कृत ही है। नीचे हम कुछ शब्दों की सूची दे रहे हैं जिससे अन्य लोग भी हमारे द्वारा इंगित दिशा में पूर्ण अन्वेषण, खोजबीन कर सकें। इस प्रकार का अन्वेषण अन्य यूरोपीय भाषाओं के संस्कृत-मूलक होने की दिशा में किये गये प्रयासों में भी सफलता प्रदान कर सकेगा।

'अबय (ऐबि) : यह संस्कृत शब्द 'अभय' है जिसका अर्थ 'शान्ति, राहत और सुरक्षा की भावना' है। हिन्दू विद्या, परम्परा में यातना, कष्ट और आतंक से भयभीत होकर भागनेवाले लोग राजशाही या पर-पीड़क से 'अभय' अर्थात् 'शान्ति, राहत और सुरक्षा' की याचना, प्रार्थना किया करते थे। यदि 'अभय' का आश्वासन मिल जाता था तो 'अभयदाता' अत्याचारी पर-पीड़क का सामना करता था और याचक, अभय-प्राप्तकर्ता सुरक्षित अनुभव करता था। अतः 'अबय' (ऐबि) वह मठ, महामठ, संघाराम माना जाने लगा जहाँ व्यक्ति स्वयं को सहज व सुरक्षित अनुभव करने लग जाए। यूरोपीय भाषाओं में वही संस्कृत शब्द है जो भिन्न-भिन्न वर्तनियों में उपलब्ध होता है। अतः अंग्रेजी शब्द 'अबय' (ऐबि) संस्कृत शब्द 'अभय' अर्थात् महामठ—मन्दिर—पुण्य स्थल—आश्रय भूमि है। परिणामतः यूरोप के सभी 'अबय' शाब्दिक-परिभाषा में संस्कृत-मूलक हैं और इनका स्थल-आकृति-विज्ञान मूल हिन्दू ही है क्योंकि वे सभी हिन्दू देवी-देवताओं के मन्दिर ही थे।

अबट (ऐबॅट) : यह संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ पादरी, पुरोहित है। तथापि मूल संस्कृत शब्द अंग्रेजी भाषा में कुछ अधिक विकृत हो गया

है। यही कारण है कि अनभ्यस्त व्यक्ति की दृष्टि में इसका संस्कृतमूलक होना तुरन्त समझ नहीं पड़ता। इसका आदि 'अ' या 'ऐ' हटा दें। जो शेष रहता है वह है 'भोट' जो 'बट' उच्चारित होता है। इसका वास्तविक संस्कृत उच्चारण कुछ 'भट' जैसा है। संस्कृत 'भट' शब्द का अर्थ पादरी, पुरोहित है। अतः हर व्यक्ति को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'अबट' तथ्य रूप में संस्कृत शब्द 'भट' है जिसके प्रारम्भ में अतिरिक्त 'अ' जोड़ दिया गया है।

अब्राहम : यह संस्कृत शब्द 'ब्रह्मा' अर्थात् सृजनहार या पूर्वज, प्रजनक है।

अपॉसल : अंग्रेजी भाषा की सनक-तरंग के कारण 'अपास्टल' शब्द 'अपासल' उच्चारण किया जाता है यद्यपि इसका स्पष्ट संस्कृत उच्चारण 'आप-स्थल' होना चाहिए। संस्कृत भाषा में 'आप' शब्द का अर्थ 'गमन, जाना' अर्थात् 'गति' है और दूसरे भाग 'स्थल' का मतलब 'स्थान' या 'जगह' है। अतः 'अपॉसॅल' शब्द का अर्थ वह व्यक्ति है जो कृष्ण के आगमन की सूचना, संदेश देने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर आता-जाता रहता है। यथार्थ रूप से 'अपॉसॅल' शब्द का यही मतलब है यद्यपि आज इसका प्रचलित उच्चारण इसके मूल संस्कृत उच्चारण से बहुत भिन्न, पृथक् हो गया है। यूरोपीय भाषाओं के संस्कृत-मूल का पता लगाने के लिए कई विधियों का सहारा लेना पड़ेगा। एक विधि यह है कि एक या दो अक्षर हटा दें और फिर उनका परिणाम देखें। दूसरी विधि यह है कि निर्ध्वनि अक्षर या अक्षरों के नियमों की पूरी उपेक्षा कर दें और पूरे शब्द का उच्चारण सारी वर्तनी की ध्वनि के अनुसार करें। कुछ अन्य विधियाँ भी हो सकती हैं।

आमीन (अमेन, अ-मन) : कृस्ती प्रार्थनाएँ प्रायः 'अमेन' शब्द के साथ समाप्त, पूर्ण होती हैं। कृस्ती लोगों का विश्वास है कि इसका अर्थ है "ऐसा ही हो—तथास्तु"। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश भी इसी प्रकार व्याख्या करता है। तथापि, वह एक गलती है। फारसी शब्दावली में 'अमेन' का अर्थ 'शान्ति' है जैसा 'अमन-चैन' शब्द से स्पष्ट है—'शान्ति और संतोष'। उक्त 'आमीन' शब्द इस प्रकार संस्कृत शब्द 'शान्ति' का ही समानक है—

इन दोनों के एक ही अर्थ हैं। विश्व के अन्य भागों के लोगों के समान ही चूँकि फारसी लोग भी संस्कृतभाषी हिन्दू ही थे, अतः वे सभी धार्मिक कृत्यों और पाठों के उपरान्त 'शान्ति' उच्चारण करते थे।

बैप्टिज़्म (बपतिस्मा) : इस शब्द के संस्कृत-मूल का पता करने के लिए पूरी खोजबीन की जरूरत है। हम केवल कुछ सूत्र ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा का 'इज़म' अक्षर प्रायः संस्कृत का 'स्म' है जैसे 'अस्मि' 'अस्म' (मैं हूँ) में—जिसका अर्थ हूँ (या था) होता है। 'स्म' जैसे संयुक्त, यौगिक संस्कृत शब्दों के कठिन, कष्टसाध्य शुद्ध उच्चारण करने का साध्वसाय प्रशिक्षण जब से रुक गया, तब से वह 'स्म' अक्षर 'इज़्म' के रूप में उच्चारण किया जाने लगा। यही कारण है कि हिन्दू-इज़्म, कम्युनिज़्म, ओकल्ट-इज़्म आदि शब्द प्राप्त होते, मिलते हैं। इसी प्रकार 'बैप्ट' (बाप्ट, बाप्त) प्रथमाक्षर 'स्नापित' (जिसे स्नान करा दिया गया हो) हो सकता है या 'बास्पित' अर्थात् जल से उपचार किया गया हो जिसका। संस्कृत शब्द 'वास्पित' ही समय के बीतते-बीतते 'बाप्तिज़्म' में बदल गया —सम्भव है। फिर भी, शब्दशास्त्री और व्युत्पत्ति खोजनेवाले महानुभाव इसकी ध्यानपूर्वक खोज कर सकते हैं।

बासिलिका : संस्कृत में वसी का अर्थ अग्नि है और 'अलिक' वाड़ा है। अतः वासिलिका का अर्थ 'अग्निपूजा' का स्थान है। यह सर्वज्ञात है कि हिन्दू-परम्परा में अन्य देवताओं के साथ-साथ अग्नि की पूजा की जाती थी। अग्नि को एक प्रमुख देवता माना जाता है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व और उसका बना रहना सूर्य की अग्नि (अर्थात् गर्मी) पर निर्भर करता है, 'अग्नि' जो खाद्य को (भूख, जठराग्नि के रूप में) पचाती है और रक्त को गरम, उष्ण रखती है और वह भी 'अग्नि' है जो खाना पकाती है, उद्योग-धंधों के चक्के, मशीन-पुर्जे (भट्ठी या बिजली से) चलाती है और संसार में प्रकाश करती है। वासिलिका बासिलिका में बदल जाती है क्योंकि बहुत सारे क्षेत्रों में 'व' 'ब' में बदल जाता है।

केथेड्रल : यह शब्द 'काष्ठ' (अर्थात् लकड़ी), द्रुम (अर्थात् वृक्ष) और 'दल' (अर्थात् पत्ते-पत्तियाँ या पर्णावली) से बना मालूम पड़ता है। यह दर्शाता है कि वन-संकुल परिवेश में, वन लता-मंडपों के मध्य बने हिन्दू-

मन्दिर जिन लकड़ियों, वृक्षों और पर्णावलियों से बने थे, उन्हीं के नाम पर 'केथेड्रल' कहलाने लगे।

चेपल : यह गिरजाघर का प्रायः केन्द्रीय अन्तिम छोर होता है जिसमें एक तोरणयुक्त छत होती है जो देवता की वेदी के लिए होती है। यह शब्द संस्कृत-मूल का है। 'चेपल' एक वृत्त का टुकड़ा अर्थात् धनुष के आकार का भाग होता है। यही तो एक चेपल (छत) की आकृति है क्योंकि हिन्दू परम्परा के अनुसार छत का भीतरी भाग (ईश्वर या राजवंश के ऊपर) एक छत से मिलता-जुलता होना चाहिए। प्रसंगवश यह सिद्ध करता है कि कृस्ती-गिरजाघर हिन्दू-मन्दिरों के आकार को ही वनाए हुए हैं। तदनुसार, उनके भीतर अधीष्ठित देव भी कृष्ण थे जिनका उच्चारण कृस्त (क्राइस्ट) किया जाता था।

चर्च : यह एक संस्कृत शब्द है 'चर्चा', जिसका अर्थ विचार-विमर्श करना है। चूँकि कृस्ती-पंथ कृष्ण-पंथ से विलग हुआ क्योंकि एक असन्तुष्ट समूह ने 'अगली कार्यवाही' सम्बन्धी चर्चा करने के लिए अलग स्थान पर इकट्ठे होना शुरू कर दिया था, इसलिए उनकी बैठकों का स्थान 'चर्च' कहलाने लगा।

चर्चिल : यह भी एक संस्कृत शब्द है जो 'चर्चा का आयोजन करने-वाले व्यक्ति' का अर्थात् 'उपदेशकर्ता' का द्योतक है। यह दर्शाता है कि 'चर्चिल' कुल-नामवाले परिवारों का मूलोद्गम एक पुरोहित, पादरी-वर्ग से है।

डिसायपल : यह संस्कृत भाषा का 'दीक्षपाल' शब्द है अर्थात् वह व्यक्ति जो शिक्षा, दीक्षा दी गयी बात को आत्मसात, हृदयंगम कर लेता है। 'दीक्षा' शब्द का अर्थ गुरु अर्थात् शिक्षक द्वारा प्रेरित, प्रारम्भ करना या सीखना है। 'पाल' अक्षर का अर्थ सिखाया गया, शिक्षित, दीक्षित व्यक्ति है।

गोस्पल : संस्कृत में 'ग' का अर्थ 'वाणी' है जबकि 'स्प' वह है जो जोड़ता है। अंग्रेजी शब्द 'स्पैलिंग' (वर्तनी) का भी यही मूल है।

फ्रायर : यह संस्कृत शब्द 'प्रवर' है जिसका अर्थ सज्जन, संत-पुरुष है।

हिम (न) : यह अंग्रेजी शब्द 'हिम' उच्चारण किया जाता है, किन्तु यदि इसे इसकी मूल वर्तनी के अनुसार ही बोला जाए जिसमें अन्त में 'न' उच्चारण करें, तो यह संस्कृत शब्द दृष्टिगोचर हो जाएगा जिसका अर्थ धार्मिक गीत—भजन, स्तोत्र होता है।

हिम्नू (हब्रू) : यह संस्कृत शब्द है जिसमें 'ह' भगवान् कृष्ण के अन्य नाम 'हरि' का संक्षिप्त रूप है और 'ब्रू' ब्रूते—बोलता है—का परिचायक है।

जीसस : इस शब्द की प्रारम्भिक यूनानी वर्तनी 'ईशस' हुआ करती थी जो स्पष्टतः 'ईश्वर' का द्योतक संस्कृत शब्द 'ईशस' है।

जेहोवा : जैवेय हिन्दू धर्म की मान्यतानुसार देवताओं के गुरु बृहस्पति के पुत्र का नाम है।

जोशुआ : भगवान् कृष्ण के एक अन्य नाम 'केशव'—संस्कृत शब्द का अपभ्रंश, विकृत रूप है।

डिओ केसियस : यह देव कृष्ण अर्थात् भगवान् कृष्ण है।

मसीह (मसीहा) : यह महेश अर्थात् बड़ा ईश, शिव है—हिन्दुओं की मान्यतानुसार ऐसा है।

मिनिस्टर : यह संस्कृत यौगिक शब्द मनस+तर अर्थात् वह व्यक्ति जो मनस—मानस—मन को भौतिक—लौकिक संसार से आध्यात्मिक-जगत् में पहुँचा देने में सहायता करता है।

मिन्स्टर : उस स्थान अर्थात् मन्दिर या चर्च का द्योतक है जहाँ व्यक्ति के विचार इस लौकिक जगत् का विचार त्यागकर आध्यात्मिक, रहस्यवादी संसार में विचरण करने लगते हैं। इस प्रकार, इंग्लैंड में वैस्ट मिन्स्टर ऐबि जैसे भवनों का संस्कृत-महत्त्व है। यूरोपीय धार्मिक शब्दावली का धातुगत अर्थ संस्कृत भाषा की सहायता के अभाव में अस्पष्ट, दुर्बोध, अज्ञात ही रहेगा।

मोनेस्टरी : वह स्थान है जो व्यक्ति को जड़-जंगम संसार से पार-लौकिक जगत् में, आध्यात्मिक लोक में पहुँचाने में सहायता करता है।

पोप : यह संस्कृत शब्द है जो पाप से रक्षा करनेवाले व्यक्ति का द्योतक, परिचायक है। संस्कृत में 'प' पालनकर्ता, देखभाल, संरक्षण करने-

वाले का द्योतक, परिचायक है। बुरे काम के लिए शब्द 'पाप' है। पापों से रक्षा करनेवाला व्यक्ति 'पोप' कहा जाने लगा। पाप (न कि पोप) मूल शब्द है—यह तथ्य 'पापल' शब्द से भी स्पष्ट हो जाता है। यूरोपीय उच्चारण में, संस्कृत शब्द 'पाप' को ही 'पोप' कहने लग गये।

प्रेयर : यह संस्कृत शब्द 'प्रायर-थना' (प्रार्थना) के प्रथम अक्षर का विकृत रूप है। 'प्रे' इसका और भी संक्षिप्त रूप है।

प्रीस्ट : यह हिन्दू, संस्कृत शब्द 'पुरोहित' है।

(प) **साम** : यह संस्कृत का 'साम' शब्द है जैसे 'सामवेद' में।

सब्बाथ : इस शब्द पर इसलामिक शब्द 'शब-ए-बारात' के साथ विचार किया जाना चाहिए। फिर इन दोनों शब्द की तुलना शिव-व्रत या शिव-रात्र के साथ करनी चाहिए। यह शब्द 'सब्बाथ' (उपनाम शब-ए-बारात), इस प्रकार, हिन्दू संस्कृत मूल का है जो हिन्दू देव भगवान् शिव का दिन या उनको आह्वान करने का दिन है।

सेवियर : यह संस्कृत शब्द 'ईश्वर' है। हिन्दू ईश्वर को प्रायः जगत्-त्राता अर्थात् जगत् का सेवियर कहते हैं। जगत्+ईश्वर=जगदीश्वर सर्वमान्य, सहज सम्बोधन है।

साईनोद : यह संस्कृत का 'संसद' शब्द है जिसका अर्थ एक सभा, चर्चा-वर्ग या संगम, सम्मिलन है।

साईनागोग : 'सन्, सं' संस्कृत में साथ का द्योतक है जबकि 'गोग' बोलने, गाने या पीछे-पीछे दोहराने का क्रम कहा जाता है।

ट्रिनिटी : यह दो संस्कृत शब्दों 'त्रीणि-इति' अर्थात् 'इस प्रकार तीन' (व्यक्ति या अस्तित्व) का द्योतक यौगिक शब्द है। क्रुस्ती देव-त्रयी ब्रह्मा, विष्णु, महेश की हिन्दू देव-त्रयी के स्थान पर शीघ्रता में किया गया, नकली और ऊटपटाँग प्रयास है।

याहवेह : इसके संस्कृत में कई दिव्य-संबोधन-भाव हैं। ऋग्वेद में हिन्दू देवता सोम (चन्द्र), अग्नि और इन्द्र को 'याहवेह' कहकर सम्बोधित किया जाता है। 'याहवेह' यादवेयाह का अर्थात् यादव-कुल का एक अर्थात् भगवान् कृष्ण भी द्योतक संक्षिप्त रूप हो सकता है।

ज़ियोन (ज़ेवन) : यह संस्कृत शब्द 'देवन' है। संस्कृत का 'द' यूनानी

भाषा में 'ज़' में बदल जाता है जैसा हिन्दू 'देवस' यूनानियों द्वारा 'ज़ेवस' में बदला देखा जा सकता है। यह 'देवन' का समानक 'ज़ेवन' शब्द यहूदियों के हिन्दू-मूलक होने के अनेक संकेतों में से एक है।

गोलगोथा : जीसस की कथा में अनेक बार आया स्थान-वाचक नाम संस्कृत शब्द है जो वृत्ताकार पशुशाला का द्योतक है क्योंकि 'गोल' का अर्थ वृत्त, मंडलाकार और 'गोथा' (गोट) गौ-शाला है।

क्रिसमस : क्रिश्चियनिटी (कृस्ती-धर्म, पंथ) का यह मुख्य समारोह समझे जानेवाला उत्सव भ्रामक नाम से है। यद्यपि सामान्य विश्वासानुसार यह जीसस के जन्मदिन के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित माना जाता है तथापि इसका अन्त्य 'मास' अक्षर इसका भंडाफोड़ कर देता है। 'मास' संस्कृत शब्द है जो 'महीने' का अर्थ-द्योतक है। किसी भी भाषा में यह किसी के भी जन्म-दिन का द्योतक नहीं है। इसलिए, यह जीसस का जन्मदिन कैसे माना जा सकता था ? इसका संक्षिप्त रूप X-मास भी गलती से क्राइस्ट का जन्म-दिवस ही द्योतन करता समझा जाता है। कहीं भी X का अर्थ क्राइस्ट नहीं है। साथ ही क्राइस्ट-मास (क्रिसमस) का संक्षिप्त रूप तो 'क्रिमस' जैसा कोई शब्द हो सकता था। यदि यह X-मास हो सकता था, तो फिर यह वाई-मास या ज़ैड-मास भी क्यों नहीं हो सकता था ? इस छोटे-से विवरण से यह भी समझ आ जाएगा कि सम्पूर्ण यूरोपीय कृस्ती-परम्परा झूठी, असत्य, अस्थिर, ढोल-पोल है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा निकाले गये निष्कर्ष भी कितने दोषपूर्ण हैं।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश 'क्रिसमस' शब्द की व्याख्या क्राइस्ट के जन्मदिन के उत्सव, समारोह-दिवस के रूप में करता है तथा X-मस (एक्स-मस) को उसका संक्षिप्त रूप बताता है। यह भारी, भयंकर भूल है।

चूँकि हमने सिद्ध किया है कि कृस्त (क्राइस्ट) तो 'कृष्ण' शब्द का भ्रष्ट, भ्रंश, विकृत उच्चारण है, इसलिए उपर्युक्त शब्द 'कृष्ण-मस' (मास) होना चाहिए। इस प्रकार, इस शब्द से एक पूर्ण, सार्थक भाव ध्वनित होता है क्योंकि अन्तिम अक्षर 'मास' संस्कृत शब्द है जो 'महीना' शब्द का द्योतक, समानार्थक है। अतः इस 'क्रिसमस' शब्द का भाव कृष्ण के नाम पर रखा गया मास, महीना है।

'एक्स-मास' शब्द भी दिसम्बर शब्द का संक्षेप है, न कि क्रिसमस का। X (एक्स) रोमन संख्या का दस (१०) है। अतः एक्स-मास दसवें मास का द्योतक है। प्राचीन हिन्दू प्रणाली, पद्धति में दिसम्बर मास की यथार्थ रूप में यही स्थिति थी जब नववर्ष-दिवस मार्च मास में होता था। इसलिए जनवरी ग्यारहवाँ तथा फरवरी बारहवाँ मास होता था।

एक्स-मास का दसवाँ मास होना दिसम्बर (दशम्बर) शब्द से भी स्वतः स्पष्ट है। संस्कृत में 'दश' का अर्थ दस और 'अम्बर' का अर्थ राशिचक्र है। जो राशिचक्र का दसवाँ भाग है जो उस मास का द्योतक, समानक है।

हमारा यह निष्कर्ष सप्तम्बर (सितम्बर), अष्टम्बर (ओक्टोबर), नवम्बर शब्दों से भी पुष्ट होता है जहाँ सप्त, अष्ट (ओक्टो०) और नव शब्द संस्कृत में ७वीं, ८वीं और ९वीं संख्या के सूचक, द्योतक हैं।

कुछ लोगों में यह भ्रान्त धारणा प्रचलित है कि प्राचीन वर्ष मात्र १० महीनों में ही विभक्त था, उसमें केवल १० मास ही होते थे। अविस्मरणीय प्राचीन काल में हिन्दुओं द्वारा निर्धारित वर्ष में सदैव बारह मास ही रहे हैं। उन बारह मासों से मेल खाने के रूप में ही, तदनुरूप हिन्दू, संस्कृत परम्परा में सूर्य के १२ नाम हैं।

जनवरी शब्द को यूनानी ईश्वर जनुस से व्युत्पन्न मानने का विश्वास भ्रमपूर्ण, निराधार है। यूरोपीय विद्वान् ऐसे मामलों में अति लघु, क्षुद्र दृष्टि रखते थे। उनकी सारी खोज यूनान की ब्रन्द-सीमा पर जाकर अवरुद्ध हो गयी। उसके परे उनकी नेत्र-दृष्टि धुँधली हो गयी और उनको शून्य ही नजर आने लगा।

कल्पित यूनानी ईश्वर जनुस हिन्दू ईश्वर गणेश ही है। जनुस द्वि-मुखी होने की यूनानी कल्पना भी हिन्दू जन-विश्वास, कथा पर ही आधारित है। गणेश का जन्म मानव-मुखाकृति के साथ ही हुआ था, किन्तु जब उसके पिता ने भूल से उसका सिर काट दिया था, तब गणेश की ग्रीवा पर एक गज-मस्तक प्रत्यारोपित कर उसको पुनर्जीवित कर दिया गया था। फिर जब लाखों वर्षों तक यूनान का भारत (हिन्दुस्थान) से सम्पर्क नहीं रहा, तब यूनानी पौराणिकता में गणेश अर्थात् जनुस के दो शीर्षों की धारणा स्थान पा गई।

मार्च का नाम मरीचि से व्युत्पन्न है जो सूर्य के लिए संस्कृत में १२ नामों में से एक है।

मई (मे) माया से बना है—माया जो ईश्वर की पवित्र भावना है और मायावी संसार की सृष्टि करती है।

अगस्त (आगस्ट) का नाम महान् हिन्दू ऋषि अगस्त्य से ही सीधा या उसी नाम के रोमन-सम्राट् के माध्यम से प्राप्त हुआ है।

इसके बाद सितम्बर (सप्तम्बर), अक्तूबर (अष्टम्बर) नवम्बर, दिसम्बर (दशम्बर) क्रमशः उन्हीं मासों के संख्या-सूचक नाम अर्थात् ७वाँ, ८वाँ, ९वाँ और १०वाँ मास के द्योतक हैं।

दसवाँ मास दो कारणों से 'कृष्णमास' के रूप में समारोहपूर्वक मनाया जाने लगा। एक कारण यह था कि लम्बी रातों और छोटे दिनों वाला यह अन्तिम 'कृष्ण (काला, अँधियारा) मास था। दूसरा कारण यह था कि उक्त मास भगवान् कृष्ण को समर्पित था क्योंकि महाभारत-युद्ध, जिसमें भगवान् कृष्ण महानायक के रूप में प्रतिष्ठित हुए, सर्वमान्य सिद्ध हुए थे और सभी लोगों की आँखों का तारा, आकर्षण-बिन्दु, मार्गदर्शक बन गए थे, दिसम्बर में ही समाप्त हुआ था।

इस प्रकार क्राइस्ट (कृस्त) मास—क्रिसमस—कृष्णमास ही है। यह एक अन्य प्रमाण है कि क्रिसमस कृष्ण की युद्ध में विजय का, न कि जीसस क्राइस्ट के जन्म का समारोह है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अंग्रेजी शब्दों का धातुगत, मूल अर्थ बताने में ऑक्सफोर्ड शब्दकोश भी किस प्रकार पूरी तरह पथ-भ्रष्टक रहे हैं। ऐसी गलतियाँ, भूलें, अशुद्धियाँ होना तो अवश्यम्भावी ही हैं जबकि ब्रिटिश कोशकार इस भ्रान्त धारणा से ही प्रारम्भ करते हैं कि संस्कृत की बजाय लैटिन और यूनानी ही इन शब्दों की आकर, स्रोत भाषाएँ हैं।

प्रसंगवश, हमारी समीक्षा यह भी सिद्ध करती है कि १२ मासों के नाम, कम-बेशी, अभी भी अधिकतर संस्कृत-भाषायी नाम ही हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार किए जानेवाले अनुसंधान फरवरी, जून और जुलाई जैसे मासों के संस्कृत-आधारित मूल नाम भी प्रकट कर देंगे, जनमानस के सम्मुख ला देंगे।

अध्याय १८

हिन्दू-धर्म—सर्वमानवता का आदि मातृ-प्रेम

यूरोपीय मस्तिष्क का एक पक्का, सहज दोष 'हिन्दू' शब्द से इसका वैमनस्य, तिरस्कार-भाव रहा है।

धर्म के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए या उस विषय में कुछ लिखते हुए यूरोपीय लोग सामान्यतः कृस्ती-पंथ (क्रिश्चियनिटी), इसलाम और बौद्ध-मत को ही मात्र तीन बड़े धर्म उल्लेख कर अपना कर्तव्य पूर्ण कर लिया—यह मानकर फूले नहीं समाते। उनकी गणना, परिकल्पना में कहीं भी हिन्दू-धर्म को स्थान है ही नहीं। बौद्ध-मत हिन्दू-धर्म का ही एक अंश, पंथ है—यह तथ्य भी उन्हें अज्ञात ही रह जाता है।

हिन्दुत्व को धर्म के रूप में वर्गीकृत करने में उनकी विफलता एक प्रकार, एक दृष्टि से तो ठीक, उचित ही है क्योंकि हिन्दुत्व (जिसे सर्व-साधारण भाषा में हिन्दू-धर्म कहते रहते हैं) तो सर्वमानवता का मातृ-रूप है, मातृ-आस्था, मातृ-धर्म है। यह बुद्ध, जीसस या मुहम्मद जैसे किसी एक ही व्यक्तित्व से निसृत पंथ-सीमित, संकुचित या बँधा हुआ नहीं है। हिन्दू-धर्म के नियम इस प्रकार के हैं कि वे किसी एक क्षेत्र में, किसी एक समय रहनेवाले सभी व्यक्तियों पर प्रयोज्य होते हैं। ऐसा होते हुए भी हम विश्व-आस्थाओं अर्थात् धर्मों की सूची से हिन्दू-धर्म के नाम के पृथकत्व को भी उन यूरोपीय लोगों द्वारा ऐसी उत्तम, विवेकपूर्ण और समझदारीयुक्त विशिष्टता व पक्षपात के सिर नहीं मढ़ते, उन्हें दोष नहीं देते।

हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म वर्तमान में आर्य, सनातन (अर्थात् सदा रहनेवाला) या वैदिक-पद्धतिवाला जीवन-प्रकार है। हम इसे जिस भी मनपसन्द नाम से पुकारें, यह उस संस्कृति, दर्शनशास्त्र और जीवन-पद्धति का प्रतिनिधित्व करता है जिसका विकास भारत में हुआ था।

वह संस्कृति एक सामान्य, सर्वमान्य मानव-परम्परा थी जिसे भारतीय ऋषियों, शिक्षाशास्त्रियों, उपदेशकों, नियम-निर्माताओं और प्रशासकों ने सम्पूर्ण विश्व में प्रचारित-प्रसारित किया था। हिन्दू, भारतीय संस्कृति लाखों-लाखों वर्ष प्राचीन है जबकि अन्य समुदायों, जातियों और संस्कृतियों का इतिहास पाँच हजार वर्षों से भी कम समय का है। इसलिए, हिन्दू-संस्कृति तो सम्पूर्ण विश्व पर लाखों वर्षों तक छायी, प्रभावी रही है। परिणामतः, कृस्ती-पूर्व विश्व पूर्णरूपेण हिन्दू-विश्व ही था।[1] यह सम्भव है कि कृस्ती-युग के प्रारम्भ होने से पूर्व कुछ हजार वर्षों तक यूरोप में और अरब-क्षेत्रों में एक शैक्षिक, धार्मिक और प्रशासनिक शून्य बना रहा। अर्थात् हिन्दू-राज्य शासन समाप्त हो जाने के बाद निष्क्रियता के कुछ हजार वर्ष वहाँ यूँ ही व्यतीत होते गये। फिर भी, जो अवशेष बचे रहे, वे हिन्दू-धर्म—हिन्दुत्व के ही थे। विश्व के दूर-दराज के क्षेत्रों में जनमानस को पोषित करने के क्रम में हिन्दू-शिक्षा, प्रशासन, हिन्दू-धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन-वाचन, संस्कृत भाषा का शिक्षण तथा हिन्दू-पौराणिकता का अध्ययन पर्याप्त समय से रुक जाने, अवरुद्ध हो जाने के कारण सम्पूर्ण समाज विभिन्न पंथों व समूहों में टुकड़े-टुकड़े हो गया; संस्कृत भाषा के क्षेत्रीय झरनों के रूप में अन्य भाषाएँ फूट पड़ीं और कृस्ती (क्रिश्चियनिटी) व इसलाम जैसे पृथक् हुए पंथों ने विश्व को अपना बन्धक बना लिया।

ऐसी विषम, भ्रामक स्थिति होने पर भी हिन्दू देवगणों, हिन्दू उत्सव-त्योहारों, हिन्दू-परम्पराओं, हिन्दुओं की पूजा-पद्धति और संस्कृत भाषा की प्रबल मौजूदगी कृस्ती-पूर्व युग में सम्पूर्ण पश्चिमी (और पूर्वी) विश्व में बनी ही रही। फिर भी पश्चिमी विचारधारा और विश्व-सहजबोध को प्रभावित करनेवाले सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर और एडवर्ड गिबन जैसे पश्चिमी विद्वानों को सारे साक्ष्यों की उपेक्षा, अनदेखी कर देने का और अरब व यूरोपीय संस्कृतियों के आधार-तत्त्व के रूप में हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म को न पहचान पाने का दोषी ठहराया ही जाना चाहिए। भगवान् कृष्ण के चित्रों, भगवान् शिव के प्रतीक-चिह्नों, माता देवी पार्वती तथा अनेक अन्य हिन्दू

१. हमारा भावी प्रकाशन देखें—'प्राचीन हिन्दू विश्व साम्राज्य'।

देवताओं की मूर्तियों की भाँति हिन्दू देव-देवियों की खोज, उपलब्धियाँ भी पश्चिमी विद्वानों के दिमागों में हिन्दू-धर्म की विद्यमानता को अंकित न करा पायीं। हिन्दुत्व के प्रति उनका ऐसा सहज, तथाकथित जन्मजात-सा ही वैमनस्य, विरोध, विकर्षण था जिसके कारण उनकी पूर्ण शोध-प्रतिभा कुंठित हो गई और वह नकारात्मक हो गयी। चाहे यह जानबूझकर की गयी उपेक्षा या अनदेखी रही हो या कुटिल बुद्धि की गैर-पहचान, इसने निश्चित रूप से ही विश्व-शिक्षा को भारी (व गहन) क्षति पहुँचायी है। इसी कारण, इसी आधार पर इतिहास, संस्कृति, देव-विद्या, भाषाशास्त्र, धर्म, शिल्पकला और पुरातत्त्व के बारे में उनके सभी ज्ञानकोशों और अन्य विद्वत्तापूर्ण रचनाओं को इस दृष्टि से काफी अपुष्ट-अस्थायी और अपूर्ण समझा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, यूनान और रोम में पाये गये वे चित्र जिनमें भगवान् कृष्ण बाँसुरी-वादन कर रहे थे या जिसमें वे (कालिय जैसे) नाग से जूझ-लड़ रहे थे, पीटर पान के चित्र कह दिये गये। सूर्य और भगवान् शिव की विश्वव्यापी पूजा के साक्ष्य को जनजातीय लिंगोपासक-पद्धति कहकर कलंकित किया गया। हिन्दू तीज-त्योहारों को गैर-ईसाई, गैर-यहूदी, गैर-मुसलमानी, मूर्तिपूजक और इसीलिए निन्दनीय, त्याज्य बारम्बार घोषित किया गया, किन्तु जब वे ही कृस्ती-वेशभूषा में, रूप-रंग में सुसज्जित कर दिये गये, तो यूरोपीय शान के उच्च-सिंहासन, उच्च-स्तर पर विराजमान हो गये। इस सबकी संज्ञा तो शैक्षिक विध्वंस और हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म के विरुद्ध गहरी, घोर शत्रुता ही कहलायेगी।

हम उन सभी का सविस्तार वर्णन अपनी भावी रचना में करेंगे जिसका शीर्षक है : 'प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य', फिर भी, हम वर्तमान पुस्तक के इस अध्याय में संक्षेप में कृस्ती-पूर्व यूरोप में सामाजिक-धार्मिक-अवशेषों की समीक्षा करेंगे जिनसे उनका हिन्दू-आधार सिद्ध हो सके।

वेद मानव-साहित्य की प्राचीनतम कृतियाँ हैं। हिन्दू खगोलशास्त्रीय और गणितीय आकलनों के अनुसार आर्य या वैदिक सभ्यता करोड़ों वर्ष से भी अधिक पुरानी है। उस लम्बी अवधि में भारत से गये हिन्दुओं ने विश्व-भर में उपनिवेश स्थापित किये, वहाँ जमकर रहे—घर-गृहस्थी निर्माण की और संस्कृत भाषा के माध्यम से सारे लोगों को शिक्षित किया।

स्वाभाविक, सहज प्राकृतिक ह्रास के कारण हिन्दू राजाओं-महाराजाओं-सम्राटों का राज्य-शासन, हिन्दू-शिक्षा की भूमिका और हिन्दू-सेनाओं का नियन्त्रण समाप्त हो गया। उसके पश्चात् एक राजनीतिक, शैक्षिक और प्रशासनिक शून्य और ठहराव उत्पन्न हो गया। ज्यों-ज्यों वर्षानुवर्ष बीतते गये त्यों-त्यों हिन्दू दार्शनिकता—जीवन-दर्शन और संस्कृति, उत्सव-त्योहार और पूजा-उपासना, भाषा और शिक्षा हिन्दू-विचार और शिक्षा की पोषक धारा से कट जाने के कारण विकृत और सन्न हो गये, पथरा गये जैसा हमारे सर्वेक्षण से स्पष्ट हो जाएगा।

हम पूर्वपृष्ठों में पहले ही देख चुके हैं तथा अगले पृष्ठों से भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि कृस्ती-पंथ स्वयं में कुछ भी न होकर मात्र हिन्दू-कृष्ण-पंथ का एक विकृत रूप ही है।

आइए, हम अब यहूदियों के बारे में देखें। 'जुदाइज्म' और 'जुडिया' शब्द (जेडु उच्चरित) 'यदु' शब्द से प्राप्त हुए हैं। यहूदी अर्थात् जुदाइस्ट्स उसी वंश से सम्बन्धित हैं। यह वह मूल है जो यहूदी-परम्परा में 'ईश्वर के लाड़ले पुत्र (व्यक्ति)' होने का आधार है।

दूसरा अन्य प्रमाण यह है कि मोज़ेज़ की जीवन-गाथा, लगभग प्रत्येक बारीकी में, कृष्ण की जीवन-कथा के अनुरूप ही ढली हुई है।

उनका पवित्र प्रतीक चिह्न परस्पर-गुंफित त्रिकोण, जो डेविड या सोलोमन के तारक नाम से प्रसिद्ध है, हिन्दुओं का शक्ति-चक्र है।

जुडैका ज्ञानकोश उल्लेख करता है कि यहूदी लोग होराइट्स (हरी-आइट्स) कहलाते हैं। किन्तु ज्ञानकोश को इसका कारण ज्ञात नहीं है। कारण यह है कि 'हरि' भगवान् कृष्ण का अतिप्रिय एक नाम है। स्पष्ट रूप में भगवान् कृष्ण के कुल के व्यक्तियों को हरी-आइट्स के नाम से पुकारा जाना अति सहज, स्वाभाविक ही है।

हिब्रू (हीब्रू या हब्रू) शब्द की व्याख्या करते हुए उसी ज्ञानकोश में कहा गया है कि अंग्रेजी 'ही' (अर्थात् 'ह' हिन्दी अक्षर) दैवी नाम का संक्षेपरूप है। तथापि उक्त ज्ञानकोश सम्बन्धित दैवी, दिव्य नाम को स्पष्ट करने में विफल रहा है।

हल, समाधान अत्यन्त सरल है। वह देव-नाम 'हरि' था। लाखों,

करोड़ों हिन्दुओं का यह नाम है, होता है।

'ब्रू' प्रत्यय भी संस्कृत है, जो 'बोलने' का द्योतक है। अतः हिब्रू (हब्रू) शब्द संयुक्त युग्म है जिसका अर्थ 'भगवान् कृष्ण अर्थात् स्वयं हरि द्वारा प्रयुक्त भाषा' है।

यहूदी-विवाह परम्परागत रूप में चार बाँसों/स्तम्भों पर आयताकार या वर्गाकार चँदोवा या छत्र के नीचे ही सम्पन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हिन्दू-विवाह। यहूदी लोग भी अपने विवाह दोनों परिवारों के परिचित व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव पर विचार करने के बाद करना ही श्रेष्ठ समझते हैं। बिना ज्येष्ठों की स्वीकृति, मान्यता और आशीर्वाद के ही लड़के-लड़कियों द्वारा परस्पर किये गये विवाहों को यहूदी लोग तिरस्कार, हेय दृष्टि से देखते हैं।

उनके धार्मिक कृत्यों, पर्वों, अनुष्ठानों के स्थान के लिए यहूदी शब्द 'साइनागोग' (संगोग) संस्कृत-मूल का शब्द ही है। पहला अक्षर 'सं' 'साथ' का द्योतक है और 'गोग' का अर्थ 'गाना' है, जो उस पूजा-स्थल का परिचायक है जहाँ सब व्यक्ति एकत्र होते हैं और भक्ति-रचनाओं, भजनों, पद्यों आदि के सस्वर पाठ, गायन से देवगणों का आह्वान करते हैं।

पौधे (वृक्ष आदि) भी यहूदियों में उसी प्रकार पवित्र, पुण्यदाता और पूज्य-आराध्य माने जाते हैं जिस प्रकार वे हिन्दुओं में हैं। नगर और मन्दिर-द्वारों के पत्थरों पर कमल-पुष्प उसी प्रकार उत्कीर्ण, प्रदर्शित किये जाते हैं जैसे हिन्दुओं द्वारा।

यहूदियों (और मुस्लिमों में भी) परिच्छेदन की पद्धति क्षेत्रीय आवश्यकता के रूप में विकसित हो गयी। रेगिस्तानी प्रदेशों में जहाँ स्नान, प्रक्षालन आदि के लिए जल जीवन-भर की दुर्लभ वस्तु थी, परिच्छेदन-पद्धति को सावधानी के रूप में अपनाना पड़ा क्योंकि यह पद्धति पुरुष रत्यात्मक लिंग-अवयव को प्रभावित करनेवाले क्षय से बचाती थी। परिच्छेदन का अध्यात्म से कुछ लेना-देना नहीं है। परिच्छेदन का अनवरत पालन उन दिमागों में जरूर धार्मिक बन्धन का रूप प्रदान कर देता है जिनकी विचारधारा कुछ सीमित घरों तक ही प्रभावी है।

जुदाइज्म (क्रिश्चियनिटी और इसलाम का भी) केन्द्रीय बिन्दु 'जरुस्लम'

पहले बताये अनुसार भगवान् कृष्ण के नाम से ही प्रेरित, व्युत्पन्न है—अर्थात् 'जरुस्लम' की वर्तनी पहले 'यरु-ईश-आलयम्' होती थी, जो संस्कृत यौगिक शब्द 'यदु-ईश-आलयम्' अर्थात् यदु-कुल के प्रभु-स्वामी का घर अर्थात् भगवान् कृष्ण का निवास-स्थल है। इस प्रकार हर व्यक्ति को स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार जुदाइज्म (यहूदी-धर्म), कृस्ती-धर्म (पंथ) और इस्लाम-मत सभी भगवान् कृष्ण की ओर अभिमुख हैं और उन्हीं से निसृत, उत्पन्न होते हैं।

पश्चिमी विश्व में कृस्ती-पूर्व युगों में हम जिस अन्य पंथ का नाम सुनते है वह 'ज्ञ-ओस्टिक' है। वह संस्कृत शब्द है। संस्कृत में 'ज्ञ' अक्षर ज्ञान या बौद्धिक धारणाओं, परिज्ञान का द्योतक है। अन्य अक्षर 'आस्तिक' ('ओस्टिक' वर्तनी व उच्चारण करते हैं) का संस्कृत में अर्थ 'ईश्वर में विश्वास करनेवाला' है। अतः 'ज्ञ-ओस्टिक' संस्कृत शब्द है जो ईश्वरत्व/देवत्व में आस्था, विश्वास या बौद्धिक परिज्ञान पर आधारित पंथ का द्योतक है। स्वयं 'एस्सेटिक' अंग्रेजी शब्द भी अन्तिम विश्लेषण में संस्कृत शब्द ओस्टिक अर्थात् 'आस्तिक' ही है।

कृस्ती-पूर्व युगों में यूरोप में एक अन्य पंथ था 'ईसेनेस'। वह संस्कृत शब्द 'ईसान' (ईषाण) अर्थात् भगवान् शिव से व्युत्पन्न है। चूँकि ईषाणदेव उत्तर-पूर्व दिशा के स्वामी हैं, अतः उक्त दिशा को संस्कृत में ईषाण (ईशान)-कोण कहते हैं। इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जुदाइस्टों (यहूदियों) और क्रिश्चियनों (कृस्तियों) के समान ही 'ईसेनेस' भी संस्कृतभाषी एक हिन्दू-पंथ ही था।

आइए, हम अब 'स्टोइक' शब्द के बारे में विचार करें। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में इसका स्पष्टीकरण यूँ दिया है : "जेनो द्वारा ईसा-पूर्व ३०८ सन् के लगभग एथेन्स में स्थापित शाखा (विद्यालय) का दार्शनिक जिसने नेकी (सत्कार्य) को उच्चतम भला काम, नीतिशास्त्र पर ध्यान और चित्त-वृत्तियों पर संयम करने का स्वभाव बनाने व सुख-दुःख, आनन्द-पीड़ा में समान रहने पर बल दिया था।"[१]

---

१. फाउलर और फाउलर संपादित 'कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी', १९५८ ई०, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १२४५।

अतः 'स्टोइक' शब्दकोश का कहना है, "एक अति-संयमी, आत्म-निग्रही या धैर्यवान, सहनशील या आडम्बरहीन, तपस्वी व्यक्ति" का द्योतक शब्द है।

जहाँ तक शब्द के मूलोद्‌गम का प्रश्न है, शब्दकोश का कहना है कि 'स्टोइक' शब्द 'स्टोआ' (स्टोवा) से बना है जिसका अर्थ 'ड्योढ़ी-द्वारमण्डप' है जो 'स्टोआ पोसाइल' से अर्थात् 'जहाँ ज़ेनो शिक्षा देता था एथेन्स स्थित चित्रित, रंग-रोगनदार ड्योढ़ी' से व्युत्पन्न है।

यह निकट-दृष्टिक पश्चिमी विद्वत्ता का एक विशिष्ट, विचित्र उदाहरण है। पश्चिमी विद्वानों का स्वभाव है कि वे किसी भी यूनानी या लैटिन स्रोत को अपना अन्तिम आश्रय-स्थल, बन्दरगाह या लंगर-स्थल समझ बैठते हैं।

ज़ेनो किसी भवन के मुख्य भाग में शिक्षण न करके ड्योढ़ी में यह महान् कार्य क्यों करे ? या फिर इसका यह अर्थ लगाया जाए कि वह कोई अ-स्पर्श्य अथवा नीच जाति का व्यक्ति था जिसको भवन के मुख्य भाग में प्रवेश की अनुमति नहीं थी ? यदि ज़ेनो कोई जाति-बहिष्कृत व्यक्ति था तो किसी को दर्शनशास्त्र की शिक्षा वह दे सके, यह छूट भी उसे नहीं मिल पाती ? और फिर सिर्फ ड्योढ़ी ही चित्रित क्यों कही जाए जबकि पूर्ण भवन ही चित्रित रहा होगा ?

कल्पित यूनानी शब्द 'स्टोआ पोसाइल' की वास्तविक संस्कृत व्युत्पत्ति 'स्तव उपशाला' अर्थात् भजनों या आह्वान, स्मरण, ध्यान के लिए आरक्षित एक पार्श्व-वीथि, पथ, गलियारा या स्कन्ध—है। यह प्रत्यक्षतः चित्रित था क्योंकि हिन्दू-धर्म का पालन करते हुए प्राचीन यूनान में हिन्दू देवताओं और स्वर्ग के उज्ज्वल जाज्वल्यमान चित्रों सहित मन्दिर थे। ज़ेनो था या नहीं—किन्तु हिन्दू जीवन-पद्धति यही थी कि मन्दिर के स्कंधों, भागों में जिन्हें 'शाला' या 'उप-शाला' कहते थे, देव-विद्या, दर्शनशास्त्र, ध्यान-मुद्रा और योग द्वारा प्राणायाम् अर्थात् श्वास-नियंत्रण की नियमित शिक्षा दी ही जाती थी।

'स्तव' का संस्कृत में अर्थ भजन, आह्वान या ध्यान है जबकि 'उप-शाला' एक भाग का द्योतक है जो विशालतर भवन का एक अंश होता है।

प्राचीन यूनान में प्रसिद्धि-प्राप्त एक अन्य पंथ सुना गया—'समारिटन'। 'एक अच्छा समारिटन' सामान्य अभिव्यक्ति है जो 'वास्तव में उदार व्यक्ति'[१] के लिए प्रयुक्त होती है। यह संस्कृत शब्द 'स्मार्त' है। जो लोग संस्कृत की संयुक्त ध्वनि 'स्म' का उच्चारण नहीं कर पाते हैं वे इसको 'समा' बोल देते हैं। हिन्दू, संस्कृत दैवी-परम्परा में 'स्मार्त' एक निष्ठावान भक्त, दयालु, ईश्वर से डरनेवाला, उदार व्यक्ति होता है।

'फिलिस्तीन' एक अन्य शब्द है जिसका स्पष्टीकरण, व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इसका मूल असीरियाई पलस्तु या पिलिस्तु से हुआ है और इसका अर्थ "दक्षिण फिलस्तीन में रहनेवाली युद्ध-जैसी विदेशी जाति/लोग जिसने इस्रायलियों को तंग किया···असंस्कृत व्यक्ति, जिस व्यक्ति की रुचियाँ मात्र भौतिक और सार्वजनिक स्थान में हैं"[२] है। संक्षेप में, फिलिस्तीनी लोग गँवार, झगड़ालू, असभ्य, अशिष्ट, भद्दे, क्रूर, दुष्ट लोग हैं। इस स्वगुणार्थ की कुंजी भी हिन्दू-कथा में उपलब्ध है जहाँ ऋषि पुलस्ति असुर-जाति के प्रजनक, पूर्वज थे। उक्त संस्कृत, हिन्दू शब्द 'असुर' ही 'असीरियन' शब्द का मूलोद्गम है। हिन्दू कथाओं में दैत्य, दानव और असुर पर्यायवाची शब्द हैं जिनसे अत्याचारी, क्रूर व्यक्तियों का भाव-द्योतन होता है। चूँकि उनका वंशोद्भव पुलस्ति ऋषि से हुआ, इसलिए उनको 'पुलस्तिन' कहते हैं। इस समय प्रचलित 'फिलिस्तीन' शब्द संस्कृत 'पुलस्तिन' अर्थात् पुलस्ति के वंशज ही है। आधुनिक ऑक्सफोर्ड शब्दकोश भी भाग्य-वशात् अभी भी उस स्मृति और विवरण को बनाए, सँजोए हुए है।

पुलस्ति का पुत्र विश्रवा था। विश्रवा का पुत्र रावण था। हिन्दुओं के महाकाव्य रामायण में विष्णु के अवतार भगवान् राम और दैत्य, असुर, पुलस्तिन रावण के मध्य महा-संग्राम का विवरण दिया हुआ है। अन्ततोगत्वा भगवान् श्रीराम द्वारा रावण का वध हुआ।

परवर्ती अवतार भगवान् कृष्ण को भी इसी प्रकार असुरों से संघर्ष

१. फाउलर और फाउलर संपादित 'कन्साइज़ ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी', पृष्ठ १०९१।
२. वही, पृष्ठ ८९४।

करना पड़ा था। राम और कृष्ण भगवान् विष्णु के अवतार थे। इन देवताओं को हिन्दू वाङ्मय, धर्मग्रन्थों में सुर कहा गया है। देवताओं के शत्रु पुलस्तिन असुर कहलाए गए थे। असुरों में प्रमुख थे बाणासुर, बकासुर, नरकासुर और रावण। उन सभी का वध भगवान् विष्णु और उनके अवतार राम और कृष्ण द्वारा किया गया था।

विचित्र विडम्बना व संयोग से वही संघर्ष, संग्राम आज भी हमारे ही युग में चल रहा है। जुदाइस्ट अर्थात् यहूदी जो भगवान् कृष्ण के वंश से सम्बन्धित हैं, और जो प्राचीन समय में पश्चिमी एशिया क्षेत्र के स्वामी थे, असुरों और फिलस्तीनियों द्वारा जो अरब-जनता कहलाते हैं, बाहर खदेड़ दिए गये थे। उनसे अभी भी अनबन है या फिर झगड़े होते रहते हैं। हिन्दू-जन-कथाओं में उक्त संघर्ष की कुंजी है। हिन्दू-धर्मग्रंथ उन दोनों समूहों के बीच उग्र विवाद, कठोर लड़ाई के विवरण संग्रहीत किये हैं। दोनों को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। देवताओं को अनेक बार पराजय का मुँह देखना पड़ा, वे बन्दी हुए और अपमान सहन करना पड़ा। फिर भी, अन्त में उन्होंने फिलिस्तीनियों को पराभूत कर अपने नियंत्रण में कर लिया और वहाँ कानून व सत्य-पथ का राज्य भी स्थापित कर दिया। उसी प्रकार, यहूदियों ने भी समय-समय पर घोर पीड़ा, यातनाएँ सहीं, बाहर खदेड़ दिए गए किन्तु फिर भी संघर्ष जारी है। यहूदियों का फिर नया जन्म हुआ, उन्हें इस्रायल के रूप में एक नया आश्रय-स्थल व सुरक्षित-दृढ़ प्रदेश मिल गया। इस्रायल का संस्कृत भाषा में अर्थ है 'देव-निवासस्थान'।

यहूदियों का नर-संहार करनेवाला हिटलर भी दैत्य-वंश, जाति से सम्बन्धित था क्योंकि उसका देश जर्मनी 'डाशलैंड' अर्थात् दैत्यों का देश जाना जाता है। ऊपर स्पष्ट किए अनुसार दैत्य, असुर, दानव और फिलिस्तीनी—पर्याय हैं।

यह अत्यन्त उल्लेखनीय व दर्शनीय है कि देवताओं और असुरों के मध्य का अति प्राचीन संग्राम, जो हिन्दू जनकथाओं में चिर-स्मरणीय युगों से अंकित चला आ रहा है, क्रुस्ती-युग की २०वीं शताब्दी में भी उन्हीं दो पक्षों के बीच अनवरत चला आ रहा है। एक पक्ष कृष्ण के अनुयायियों का है और दूसरा कृष्ण से शत्रुता, घृणा करनेवालों का है। प्राचीन हिन्दू-कथाओं में भी

हिरण्यकश्यप जैसे निरंकुश अत्याचारी हुए हैं जो विष्णु, नारायण या कृष्ण जैसे ईश्वरीय नामों से भी चिढ़ते, घृणा करते थे। उक्त कथा कैस्पियन सागर पर घटित हुई थी जिसका नाम कश्यप से व्युत्पन्न है। उसी क्षेत्र के लोग आज भी यहूदियों से शत्रुता करनेवालों में हैं जहाँ कभी तैमूरलंग और बाबर तथा बाद में उन साम्यवादियों का प्रभुत्व रहा जो परम्परागत रूप में भगवान्/ईश्वर के नाम-मात्र से ही घृणा करते हैं।

पक्के नास्तिक, निरीश्वरवादी भी ईश्वर के हाथों की करामात के इस संक्षिप्त ऐतिहासिक साक्ष्य को अमान्य, अस्वीकार करने में कठिनाई अनुभव करेंगे। इसका अन्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि हिन्दू लोग विश्व के इतिहास-लेखक रहे हैं। रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत जैसे हिन्दू-धर्मग्रन्थों में लिखित सुर-असुर संग्राम उन संघर्षों के अभिलेख हैं। इसलिए विश्व के विद्वानों को उन धर्मग्रन्थों का गहन अध्ययन प्राचीन विश्व के इतिहास-ग्रन्थों के रूप में करना चाहिए। ऐसे अध्ययन प्राचीन युगों से आज हमारे समय तक चले आ रहे राजनीतिक सम्बन्धों और समझौतों को भी ठीक प्रकार समझने में सहायक होंगे। ऐसा अध्ययन कुछ अंश तक मनुष्य-मन से अहम्; घमण्ड को भी दूर करने में सहायक होगा क्योंकि इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हम सब ईश्वर द्वारा पूर्व-निर्धारित प्रारब्ध के अनुसार ही प्रायः अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभा रहे हैं।

सीरिया और असीरिया शब्द भी, दैवी और आसुरी शक्तियों के द्योतक सुर और असुर शब्दों के क्रमशः भाषायी, अवशेष ही हैं। इन दो विरोधी शक्तियों के प्रत्यक्षतः अनवरत संघर्ष में देवगण अर्थात् सुर लोग प्रायः असुरों द्वारा पीड़ित और पराभूत होते रहे। इसलिए सुरों अर्थात् देवताओं का भू-प्रदेश होने पर भी सीरिया उन मूर्तिभंजकों का देश हो गया जो भगवान् कृष्ण को देखना या उनकी पूजा-आराधना से भी घृणा करते हैं। यह कल्पना करना उचित नहीं होगा कि सीरिया और असीरिया की वर्तमान सीमाएँ प्राचीन कालों से ही अ-परिवर्तित रही हैं। सम्भवतः प्राचीन विश्व सुरों और असुरों के बीच ही विभक्त था जिसके आधुनिक अवशेष सीरिया और असीरिया हैं।

सुमेरियन भी इसी प्रकार एक हिन्दू, संस्कृत शब्द है। हिन्दू जन-कथाओं में सुमेरु स्वर्ण का पर्वत है। सुमेरु शब्द एक अति लोकप्रिय शब्द है जो प्राचीन हिन्दू विद्या, जनकथाओं में बारम्बार आता है।

इससे यह प्रत्यक्षतः स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हिन्दू लोग, जिन्होंने विश्व पर राज्य किया, स्वतः प्राचीन विश्व के इतिहास लेखक भी हो गए। हमें इसी युग में इसका समानान्तर उदाहरण प्राप्त, दृष्टव्य है।

जब किसी राष्ट्र या समाज, समुदाय के पास विजय प्राप्त करने की शक्ति सन्निहित हो जाती है और यह प्रचार-माध्यम का नियंत्रण करता है, तब यह इतिहास-लेखन करता है। सत्ता-विहीन और इसी कारण प्रचार-माध्यमों पर नियंत्रण न रखनेवालों को इतिहास लिखने की प्रेरणा नहीं होती क्योंकि उनकी बात सुनी नहीं जाएगी और वे जो कुछ कहते हैं, वह 'बिकेगा' नहीं। आधुनिक पत्रकारिता उसी का उदाहरण पेश करती है। फिल्मों, पत्र-पत्रिकाओं, दूरदर्शन और आकाशवाणी जैसे प्रचार-माध्यमों तक अपनी पहुँच रखनेवाले लोग ही अधिकांशतः लिखते (रहते) हैं क्योंकि उनके लिए काफी माँग, पूछ रहती है और यह गारण्टी भी रहती है कि वे जो भी कुछ कहते हैं या लिखते हैं, उनकी बिक्री बनी रहेगी, वह जरूर 'बिकेगा'। मध्ययुगीन, अनपढ़े मुस्लिम आक्रमणकारियों के शासन एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि उनके सैनिकों, परिकर-परिजनों व अन्य पिछलग्गू तथा आश्रितों में से अधिकांश लोग निरक्षर थे, फिर भी कुछ पढ़े-लिखों ने पर्याप्त विवरण लिखे हैं चाहे वे प्रत्येक गैर-मुस्लिम की निन्दा-वाले अप्रामाणिक, झूठे और पक्षपातपूर्ण हैं।

भारत में ईसा-पश्चात् सन् ७१२ से १९४७ तक के विदेशी शासनान्तर्गत सभी प्राचीन हिन्दू-अभिलेखों को लूटा या जलाया गया और नयी रचना पर भौंहें चढ़ाई गईं या उसे तुरन्त नष्ट कर दिया गया। अतः जो लोग विश्वास करते हैं कि हिन्दुओं को इतिहास-लेखन की कोई वृत्ति ही नहीं थी, उनका रुझान इस ओर था ही नहीं, वे या तो भोले-भाले अज्ञानी हैं या फिर उनकी बुद्धि भ्रान्त, मलिन, दूषित है।

कई बार तर्क दिया जाता है और विश्वास भी किया जाता है कि हिन्दुओं ने तो वेदों, उपनिषदों, रामायण और महाभारत जैसे पौराणिक

और ईश्वर-सम्बन्धी साहित्य की रचना ही की थी।

यह सरलता से भुला दिया जाता है अथवा अनुभव नहीं किया जाता कि हिन्दुओं की पौराणिक और ईश्वर-ज्ञानी रचनाएँ भी नष्ट कर दी जातीं यदि हिन्दुत्व के दुश्मन ऐसा कर ही पाते। ये भी पीढ़ियों से पीढ़ियों तक, असंख्य परिवारों द्वारा कंठस्थ करने के कारण सुरक्षित, अक्षुण्ण बची रहीं या फिर श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण और महाभारत जैसी रचनाएँ प्रत्येक मन्दिर और घर-घर में रखी होने और पढ़ी जाने के कारण ही नष्ट होने से बची रह गईं।

खगोलशास्त्र से लेकर वायु, विमानन-शास्त्र तक, पुरातत्त्व से लेकर शिल्पकला तक, भौतिकी से लेकर शरीर विज्ञानशास्त्र तक और भूगोल विद्या से लेकर भौमिकी तक का विशाल यांत्रिकी साहित्य भी हिन्दुओं के पास था, जिसका पठन-पाठन सम्पूर्ण विश्व की हिन्दू अकादमियों में किया जाता था; किन्तु जब उन अकादमियों को कृस्ती और इसलामी हत्याकाण्डों, लूट-पाटों और अग्निकाण्डों का शिकार हो जोर-जुल्म सहना पड़ा, तब वह सम्पूर्ण साहित्य या तो नष्ट, लुप्त हो गया या फिर प्रयोग में न आने के कारण विस्मृत हो गया। फिर भी, इसका एक बड़ा अंश अभी भी विदेशों में पूरी तरह सुरक्षित और छुपाकर रखा हुआ है या फिर स्वयं भारत में भी उपेक्षित और अज्ञात पड़ा हुआ है क्योंकि अब इसकी माँग नहीं रही और यह 'बिकता' नहीं है।

हिन्दू-अभिलेखों के इस प्रकार हुए घोर विध्वंस के बाद भी प्राचीन विश्व में हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म की छाप और उसकी सर्वत्र विद्यमानता किसी भी निष्ठावान, गम्भीर, सहानुभूतिशील और निष्पक्ष विद्वान् को अथवा एक सचेत, सावधान, सुविज्ञ सर्वसाधारण को भी हजारों संकेतों से स्पष्ट, प्रत्यक्ष है। उन्हीं संकेतों में से एक यह है जिसकी हमने इस अध्याय में चर्चा की है—अर्थात् धार्मिक-पंथ जिनमें सभी हिन्दू, संस्कृत शब्द रहे हैं।

तथाकथित कृस्ती लोग भी कृष्णी-लोग ही थे, क्योंकि यहूदी, जिनमें से कुछ लोगों का बपतिस्मा किया गया था, ईसाई बनाया गया था, स्वयं ही भगवान् कृष्ण के कुल के थे। स्टोइक, फिलिस्तीनी, समारिटन और ईसेनेस —ये सभी पहले ही हिन्दू, संस्कृत शब्द दर्शाए जा चुके हैं।

तर्क दिया जा सकता है कि यहूदी लोग मूर्तिपूजक नहीं थे और इसीलिए उन्होंने कृष्ण और/या अन्य देवताओं की पूजा-आराधना की ही नहीं होगी। किसी समुदाय/जाति की जो स्थिति एक समय रही हो, आवश्यक नहीं है कि वही स्थिति अन्य समय भी रही हो। उदाहरणार्थ, आज पाकिस्तान और बांग्ला देश के नाम से ज्ञात भारत के हिस्से पहले भक्ति-परायण, देवभक्त हिन्दुओं से ही बसे हुए थे। अब वे दोनों भाग उन्हीं लोगों के वंशजों से भरे-बसे हैं जो मुस्लिम-धर्म में परिवर्तित हो जाने के कारण हिन्दुओं के घोर शत्रु, घृणा करनेवाले बन चुके हैं।

यहूदी लोग भी किसी समय अनन्य मूर्ति-उपासक थे, किन्तु महाभारत-युद्ध के बाद वे अपनी हिन्दू, संस्कृत परम्परा से अलग-थलग पड़ गए थे। पश्चिमी एशियाई रेगिस्तान में, चारों ओर शत्रु-भाव से घिरे रहने पर भी, यहूदियों ने हिन्दू देवगणों में से देव-आराधना, पूजन जारी रखा। किन्तु ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया, संस्कृत-हिन्दू धर्मग्रन्थों से नियमित अध्ययन-अध्यापन और पठन-पाठन रुक गया और इसीलिए यहूदियों में कुछ समूह-वर्ग भिन्न देवताओं की पूजा करने की ओर झुकने लगे। यहूदियों के नेताओं ने इस प्रक्रिया में अपनी एकता और अक्षुण्णता को भारी खतरा आँक लिया। यदि वे अपने-आपको छोटे-छोटे समूहों में बँट जाने देते तो उनके शत्रुओं ने उन्हें एक-एक कर समाप्त ही कर दिया होता। इसलिए, यहूदी नेताओं ने अति दूरदर्शितापूर्वक किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा से अपने साथियों को अलग रखा। विरोधी वातावरण में घिरे रहने के कारण अपनी संगठन, ऐक्य शक्ति को बिखरने से बचाने की अनिवार्य आवश्यकतावश मूर्ति-पूजा का त्याग करनेवाले यहूदी लोग मुस्लिमों के समान मूर्ति-पूजा विरोधी या मूर्तिभंजक नहीं हैं। यहूदियों के रक्त में मूर्ति-घृणा नहीं है जैसा मुस्लिमों के खून में है।

मुहम्मद द्वारा मूर्ति-पूजा के प्रति घृणा या द्वेष के कारण विवश हो मूर्ति-विनाश करने से पूर्व मिस्र देश के निवासियों सहित अरब लोग शैव अर्थात् भगवान् शिव तथा अन्य हिन्दू-देवताओं की पूजा-आराधना करते थे। केवल मक्का में काबा मन्दिर में ३६० देव-मूर्तियाँ नष्ट कर देने के मुस्लिम दावे से इस तथ्य की स्पष्ट पुष्टि हो जाती है। कुछ लेखकों ने मुस्लिम-पूर्व अरबों

कोट-सेवाइट कहा है जो शैव (अंग्रेजी में शैवाइट) शब्द का मात्र ध्वन्यात्मक रूपान्तर ही है।

कृस्ती-पूर्व काल-खण्डों में यूनानी और रोमन लोग स्वयं भी हिन्दू ही थे। वे सूर्योपासना करते थे और सूर्य को 'मित्रस्' कहते थे जो एक हिन्दू-पद्धति और संस्कृत नाम है। वे भगवान् शिव की पूजा करते थे और उनको त्रि-अम्बकेश नाम से सम्बोधित करते थे। उक्त संस्कृत शब्द त्र्यम्बकेश का अर्थ त्रिनेत्रवाला प्रभु, स्वामी है। यूनानी-रोमन ईश्वर 'बाकस' संस्कृत शब्द 'त्र्यम्बकेश' का विकृत रूप है। देवी अन्ना पेरीना हिन्दू देवी 'अन्नपूर्णा' है। 'प्रोमेथ्यूस' नाम भगवान् शिव का द्योतक 'प्रमथेश' संस्कृत शब्द ही है। भाल, मस्तक में एक आँखवाले साइक्लोप्स की यूनानी कथाएँ उसी आकृति-वाले भगवान् शिव के व्यक्तित्व से चल रही हैं। सागर से प्रकट होनेवाली 'डायना' की कहानी हिन्दू देवी लक्ष्मी की कथा ही है जो देवों और राक्षसों द्वारा संयुक्त रूप से किए गए समुद्र-मंथन के परिणामस्वरूप प्राप्त चौदह महत्त्वपूर्ण अमूल्य रत्नों में से एक थी।

उन्होंने भी शुभ, पवित्र स्वस्तिक को सँजोकर सुरक्षित कोश-रूप कर लिया ठीक उसी प्रकार जैसे यहूदियों ने हिन्दू-चिह्न को डेविड-स्टार (डेविड का तारा) कहकर अंगीकृत कर लिया।

ऐजटेक्स, मय, इंकास और पेरुवासी यद्यपि अब निःशेष हैं, तथापि वे भी अपने पीछे मन्दिर और अन्य भवन छोड़ गए हैं जो सिद्ध करते हैं कि वे भी हिन्दू ही थे।

अबीसीनियाई और अन्य अफ्रीकी लोग अपने-आपको कुश से वंशोद्भव कुशाइट कहते हैं। कुश भगवान् राम के पुत्र थे। वे लोग तथापि राम का उच्चारण 'हाम' करते हैं।

भगवान् कृष्ण के चित्र, मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ समय-समय पर संग्रहालयों, ऐतिहासिक-ध्वंसावशेषों और शोधग्रन्थों में सार्वजनिक रूप से लोगों के सामने आए हैं किन्तु इन दिनों शैक्षिक अड्डों, ठिकानों पर शासन करनेवाले यूरोपीय विद्वानों ने उनकी पूरी तरह अवज्ञा, अवमानना, उपेक्षा करना जारी रखा है या फिर उनको पीटर पान या हैमलिन का रंगीला बाँसुरीवाला या किसी अल्लम-गल्लम गँवार से सम्बन्धित बता देते हैं।

पीछे सारांश रूप में प्रस्तुत प्राचीन यूरोप और एशिया में अरब-क्षेत्र व अफ्रीका में हिन्दू-विद्यमानता के महत्त्वपूर्ण और प्रचुर मात्रा में उपलक्ष्य साक्ष्यों को प्रचण्ड रूप में अस्वीकार कर और उनकी अपेक्षा करना जारी रखनेवाली यूरोपीय विद्वत्ता की अस्पष्ट, दुराग्रही अरुचिकर वृत्ति से मोहित, प्रवंच्य संसार पूरी तरह असावधान रहा है।

अध्याय १६

प्राचीन विश्वव्यापी कृष्ण-पूजा

कृस्ती-पूर्व युगों में प्राचीन विश्व में सर्वत्र कृष्ण-पूजा के प्रचलन के बारे में विद्वानों द्वारा विश्व को सूचित न किए जाने का मुख्य कारण या तो निपट अज्ञान रहा या फिर दुराग्रही प्रतिकूलता।

अपनी जीर्ण-शीर्ण मदमस्ती में भी उनकी तथाकथित शोध-गतिविधियों में स्वेज़ के पूर्व में यदा-कदा एकाध हिन्दू-उपलब्धि को फिर भी सार्वजनिक कर दिया जाता है किन्तु स्वेज़ के पश्चिम में तो मात्र कृस्ती-उपलब्धियों को ही पूरी शान-शौकत के साथ प्रचारित-प्रसारित किया जाता है, चाहे वे खोजें भी प्रायः झूठी, नकली, अप्रामाणिक और ऊपर से थोपी हुई होती हैं।

उदाहरण के लिए, इटली में प्रचुर मात्रा में कृस्ती-प्रभाव के कारण विश्व को (अभी तक) यह नहीं बताया गया है कि पुरातत्त्वीय या अन्य खुदाइयों के समय इटली में अनेक स्थानों पर हिन्दू शिवलिंग प्राप्त हो जाते हैं। उक्त तथ्य का उल्लेख 'एट्रस्कन' और 'एट्रूरिया' शीर्षकों के अन्तर्गत करनेवाला ब्रिटिश ज्ञानकोश (एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका) भी भगवान् शिव के उन प्रतीक चिह्नों को शिवलिंग न कहकर "उन्नत चौकियों पर चढ़े हुए क्षणप्रभ, उल्कामय प्रस्तर" घोषित कर सभी पाठकों को चुपके से दिग्भ्रमित कर देता है।

वेटिकन स्थान भी, जो कृस्ती-पूर्व काल में हिन्दू-पूजा के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में कार्यरत था, अपनी भारी-भरकम दीवारों में, अपने भू-गर्भीय तहखानों तथा विशाल प्रांगणों में हिन्दू-देवगणों की मूर्तियों को निश्चित रूप से दबाए, सँजोए होगा। ऐसी उपलब्धियों के बारे में गम्भीर, सतर्कतापूर्ण चुप्पी और 'कुछ नहीं, कुछ नहीं' रुख बनाए रखा जाता है। ऐसा ही एक शिवलिंग, जो स्पष्टतः वेटिकन-प्रांगण में मिला था, वेटिकन के

'एट्रुस्कन' संग्रहालय में सार्वजनिक तौर पर प्रदर्शित किया गया है। वेटिकन स्वयं ही संस्कृत शब्द है जो एक धार्मिक कुंज-निकुंज, वाटिका का द्योतक है जैसे संस्कृत की शब्दावली 'धर्म-वाटिका', 'आनन्द-वाटिका' और 'आश्रम-वाटिका' आदि में।

पश्चिमी पर्यटक बैंकाक के मरकत, पन्ने के बौद्ध-मन्दिर में रामायण की कथा के प्रसंगों के चित्र बने होने के बारे में प्रायः लिखते हैं या जावा में प्रोमबनन मन्दिर में ऐसे दृश्य उत्कीर्ण होने की चर्चा करते हैं किन्तु वे इस तथ्य का लेशमात्र भी उल्लेख किसी प्रकार भी नहीं करते कि पुरातत्त्वीय खुदाइयों में प्राप्त प्राचीन इतालवी मकानों पर भी रामायण की चित्रावली बनी हुई उपलब्ध हुई थी। किसी भी असुविधाजनक भेद को प्रकट कर देने पर उनका गला घोंट देने के लिए कृस्ती-पंथ का धार्मिक राजतन्त्र अपना क्रूर, कठोर हाथ सदा तैयार मालूम पड़ता है। वहाँ की राजधानी रोम का नाम, जो स्थानीय रूप से रोमा बोला, वर्तनी किया जाता है, भी राम से ही व्युत्पन्न है।

परिणामस्वरूप, अत्यन्त गुप्त रूप से छुपे रह गए अनेक प्रमुख तथ्यों में एक यह है कि कृस्ती-पंथी विश्व में कृष्ण-पूजा व्यापक रूप से अति प्रचलित थी।

यहाँ हम फिर एक बार गैर-हिन्दू पाठकों को यह बता देना चाहते हैं कि हिन्दू-देवपंक्ति, देवकुल में असंख्य देवता-देवियाँ हैं जो सभी एक-दूसरे की पूरक और सहायक हैं। उनमें से हर एक दैवी-अंश के किसी रूप-लक्षण का प्रतिनिधित्व करता है। वे सभी मिलकर उस दिव्य-रूप का सृजन करते हैं जो प्रत्येक परमाणु को संजीवनी और चेतनता प्रदान करनेवाली अदृश्य शक्ति के रूप में सर्वब्रह्माण्डव्यापी है। यह वही शक्ति है जो ऑक्सीजन, विद्युत्, गुरुत्वाकर्षण, चुम्बकीय-आकर्षण और अपनी सन्तति के लिए माँ की ममता के रूप में प्रकट होती है।

अतः जब हम यह कहते हैं कि प्राचीन विश्व में कृष्ण-पूजा प्रचलित थी तो इसे हिन्दुत्व-हिन्दू-धर्म की उपस्थिति के रूप में साक्ष्य स्वीकार करना है। गैर-हिन्दू पाठक इसे मात्र किसी एकांगी हिन्दू-पंथ का साक्ष्य मान सकते हैं। यह गलत होगा, एक भूल होगी। हिन्दुओं को स्वतन्त्रता है कि वे एक

या सभी देवताओं की पूजा कर सकते हैं। उनके लिए वे सभी देवता एक-एक या इकट्ठे भी एक ही देवत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राचीन विश्व में भगवान् शिव, उनकी अर्धांगिनी माँ भगवती पार्वती, अग्नि, सूर्य और अन्य देवताओं की पूजा श्रीकृष्ण भगवान् की पूजा के साथ-साथ या अतिरिक्त चलती होती थी। यहाँ हम क्राइस्ट (क्रुस्त) पर जोर दे रहे हैं मात्र यह बताने के लिए कि क्राइस्ट किस प्रकार 'कृष्ण' नाम का विविध रूप ही है।

भारत में कई देवताओं के सौ या हजार विविध, विभिन्न नाम भी हैं। हिन्दुओं के विशिष्ट धर्मग्रन्थ हैं जिनमें इनके उक्त नामों का संकलन है। 'विष्णु सहस्रनाम' और 'गोपाल सहस्रनाम' ऐसे ही धार्मिक संकलन हैं जिनमें भगवान् विष्णु और भगवान् कृष्ण के १,००० नाम संग्रहीत हैं।

इसलाम में अल्लाह के '६६' नाम हिन्दू-पद्धति ही है। कृष्ण भी भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं; जैसे श्याम, कान्हा, गिरधारी, श्रीकृष्ण, हरिकुलीश, मुरारि, कन्हैया, गोपाल, मुरलीधर, बालकृष्ण, द्वारकाधीश, वासुदेव कंसारि और कई अन्य नाम।

इन्हीं नामों में एक था राधा-मनस्थ-ईश अर्थात् राधा के मन में बसने-वाले प्रभु (कृष्ण), दूसरा नाम था ओम् श्रीकृष्ण।

उन नामों में से कृष्ण का नाम यूनान और जरुस्लम में क्राइस्ट (क्रुस्त), राधा-मनस्थ-ईश नाम राधामनथस और ओम् श्रीकृष्णस का नाम ओनेसी-क्रीटस उच्चारण किया जाता था।

हम यहाँ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखी गयी अनेकों पुस्तकों में से उद्धरण प्रस्तुत करना चाहते हैं जो इस तथ्य का संकेत देते हैं कि कृष्ण और अन्य हिन्दू-देवगणों की पूजा प्राचीन यहूदी-अरब और यूरोपीय प्रदेशों में हुआ करती थी जिससे सिद्ध होता है कि उनका धर्म-परिवर्तन होने से पूर्व वे सभी हिन्दू थे।

"इग्नेशियस द्वारा इफेसियनों को लिखे पत्र में कहा गया है कि प्राचीन साम्राज्य का तब अधोपतन कर दिया गया था जब ईश्वर मानव-रूप में अवतरित, उपस्थित हुआ था।"[१]

१. 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ २०।

यह सन्दर्भ कृष्ण की कंस के साथ कुश्ती-युद्ध और कंस-वध के उपरान्त उसके साम्राज्य के पतन से सम्बन्धित है।

"एक प्रार्थना में, जो कुछ खास पाठ संशोधनों में मौजूद है, पट्ट-शिष्य पवित्र आत्मा को 'पाँच सदस्यों के धर्मवृद्ध पुरोहित' के नाम से सम्बोधित करता है जो गैर-क्रुस्ती है। ये पाँच सदस्य हैं: बुद्धि, विचार, प्रयोजन, प्रतिबिम्ब, मीमांसा।"[1]

लेखक ने इसे गैर-क्रुस्ती कहा है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह क्रुस्ती नहीं है क्योंकि यह हिन्दू है। किन्तु यह पद्धति क्रुस्ती-पंथ का एक भाग मुख्यत: इसी कारण से बन चुकी है क्योंकि क्रुस्ती-पंथ वह नाम है जिसकी आड़ में हिन्दू पद्धतियाँ चालू हैं। यदि क्राइस्ट को कृष्ण समझ लिया जाए, तो उपर्युक्त आवाहन गैर-कृष्णी नहीं है। साथ ही, हिन्दू-पद्धति, परम्परा में कृष्ण को हृषिकेश भी कहते हैं अर्थात् वह देवता जो पाँच (या दस) इन्द्रियों पर भी शासन, नियन्त्रण रखता है। जिस प्रकार हिन्दू लोग भगवान् कृष्ण को सम्बोधित करते हैं उसी प्रकार पट्ट-शिष्य का 'पाँच सदस्यों के स्वामी' के रूप में ईश्वर को सम्बोधित किया जाना इस बात का स्पष्ट संकेतक है कि शिष्यों का प्रभु जीसस क्राइस्ट न होकर ईशस कृष्ण ही था।

एक प्राचीन यूनानी इतिहास-लेखक का नाम 'ओनेसीक्रीटस' था जो 'ओम् श्रीकृष्णस' ही है।

"स्ट्रेबो भारत तक सारे एशिया को बैकस द्वारा प्रतिष्ठित, पवित्रीकृत मानता था जहाँ हरकुलिस और बैकस-पूर्व के सम्राट् पुकारे जाते हैं (ज्योग० X ३ सी० एफ०, जस्टीनीयस (XL ११.३)। बेबिलोन और मिस्र के अन्तिम धर्म का जन्म वहीं हुआ था। यूनानी और रोमन लोग भी बैकस और मित्रस के पंथों के लिए और कदाचित् एलूसिस के रहस्यों के लिए भी उसी के ऋणी थे।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण में लेखक सर्वप्रथम कहता है कि पूरा एशिया बैकस और हरकुलिस की पूजा करता था। उसने बाद में यह भी जोड़ दिया है कि

---

१. 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ २७।

२. वही, पृष्ठ ४४।

यूनान और रोम भी उन पंथों के ऋणी थे। चूँकि प्राचीन यूरोप यूनान और रोम का अनुसरण करते थे, इसलिए स्पष्ट है कि यूरोप और एशिया दोनों ही बैंकस और हरकुलिस की पूजा करते थे।

वे दो देवता कौन-से हैं ? बैंकस तो संस्कृत शब्द त्र्यंबकेश—तीन नेत्रों वाले स्वामी अर्थात् भगवान् शिव का परवर्ती यूरोपीय अपभ्रंश रूप है। हरकुलिस संस्कृत यौगिक शब्द हरि-कुल-ईश अर्थात् हरि के कुल का स्वामी अर्थात् विष्णु है। चूँकि कृष्ण विष्णु का अवतार है, इसलिए उसे प्रायः हरि-कुल-ईश सम्बोधित किया जाता है। हरकुलिस और हेराकिल्स उपनाम हेराकल्स संस्कृत शब्द हरि-कुल-ईश के यूरोपीय अपभ्रंश हैं। वे स्पष्ट दर्शाते हैं कि न केवल कृष्ण की पूजा भगवान् शिव के साथ प्राचीन यूरोप में व्यापक रूप से होती थी, बल्कि भारत में प्रचलित हिन्दू-पद्धति के अनुसार ही प्राचीन यूरोप में नाम भी हिन्दू-देवताओं के नामों से ही लेकर रखे भी जाते थे। इसका अर्थ यह है कि प्राचीनकाल में एशिया और यूरोप, दोनों की संस्कृति हिन्दू ही थी।

मैक क्रिण्डल ने लिखा है कि यूनानी लोग बैंकस को शिव और हेराकल्स को कृष्ण के रूप में ही पहचानते थे।[१]

"यूनानी और रोमन लोग बौद्धों की अपेक्षा ब्राह्मणों के बारे में ज्यादा जानते थे जैसा हम हिप्पोलिटस लेखकों से देख सकते हैं।"[२] यह कथन सही है किन्तु निहितार्थ, निष्कर्ष गलत है। बौद्ध-मत को हिन्दू-धर्म से भिन्न समझना पश्चिमी लेखकों की सामान्य विफलता है। बुद्ध स्वयं ही एक हिन्दू संन्यासी थे—इससे न कम न ज्यादा। यदि उनको कम श्रेय दिया जाता है, तो उसका कारण है कि उन्हें श्रेष्ठता में कुछ कम समझा जाता है। बौद्ध-मत हिन्दू-धर्म में ही निहित और समाविष्ट है। जब कोई व्यक्ति भगवान् राम, कृष्ण और शिव जैसे प्रमुख देवताओं की चर्चा, उल्लेख करता है तो बुद्ध का विशेषोल्लेख करने की आवश्यकता नहीं होती। यही तथ्य कि हिप्पोलिटस और अन्य लेखक हिन्दू-देवताओं के बारे में तो काफी कुछ कहते, लिखते हैं

१. आई० डब्ल्यू० मैक क्रिण्डल रचित 'एन्शैण्ट इंडिया', पृष्ठ १११-११२।
२. 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ ४६।

किन्तु बुद्ध के बारे में ज्यादा नहीं, इसका संकेतक है कि वे हिन्दू ही थे।

"मित्र (सूर्य) पूजा बैक्ट्रिया से नोर्थम्बरलैंड तक प्रचलित होने के अपने चिह्न छोड़ गई है (क्लेम० अलैक्स० टू दि ग्रीक्स : कैप-५ बील, 'बुद्धिज्म इन चाइना, पृष्ठ १२८) और यदि बौद्ध-मत इसका आधा भी प्रचलित रहा होता, तो इसके अवशिष्ट चिह्न भी अवश्य रहे होते।"[1] हम उपर्युक्त प्रेक्षण से पूरी तरह सहमत हैं।

भ्रान्त पश्चिमी शिक्षण से उत्पन्न यह वर्तमान विश्वास गलत है कि प्राचीन विश्व के बहुत बड़े भाग में बौद्ध-मत फला-फूला था। सर्वप्रथम यह अनुभूति होनी चाहिए कि बौद्ध-मत कोई पृथक् धर्म नहीं है। बुद्ध स्वयं ही एक धर्मपरायण और विशिष्ट हिन्दू थे।

हिन्दू विधान के अन्तर्गत हर व्यक्ति को अपने जीवन के परवर्ती भाग (अर्थात् ५० वर्ष या उससे अधिक की आयु प्राप्त होने पर) को एक योगी या संन्यासी का जीवन व्यतीत करना होता है या सार्वजनिक सेवा में एकाकी जीवन भोगना होता है। बुद्ध ने यह कार्य थोड़ा जल्दी ही कर लिया था। केवल यही अन्तर था। उसने नियत, निश्चित समय से पूर्व ही लौकिक कार्यों का परित्याग कर दिया था।

चीन, जापान, थाईदेश, मंगोलिया, श्रीलंका, ब्रह्मदेश (बर्मा), कम्बोज (कम्बोडिया), लाओस और वियतनाम देश स्वयं को बौद्ध-देश कहने में गलती पर हैं। बुद्ध स्वयं भी चकित हो जाते और बौद्ध-मत को अपना मत मानने से इन्कार कर देते।

विश्व-भर में लेटी, विश्राम करती मुद्राओं वाली प्रतिमाएँ अपनी निरभ्र, स्वच्छ शान्ति धैर्य गँवा बैठेंगी और विक्षुब्ध होकर अपना मुख दूसरी ओर मोड़ लेंगी यदि उनको ठीक से बता दिया जाए कि विश्व-भर के लाखों-करोड़ों लोग उन्हें पूजा की वस्तु बनाकर स्वयं को गैर-हिन्दुओं में ही गिनते हैं।

तथाकथित बौद्ध-धर्म परवर्ती संज्ञा थी जो बाद में गलती से हिन्दू-धर्म पर नत्थी कर दी गई। प्राचीन हिन्दू-आचरण, पद्धतियाँ बुद्ध के नाम पर

१. 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ ४६।

नए रूप में प्रारम्भ किए जाने पर, जो उस समय का सर्वाधिक प्रसिद्ध हिन्दू था, सुदूर भू-प्रदेशों के निवासियों ने भूल से उन लक्षणों, सिद्धान्तों, पद्धतियों को स्वयं बुद्ध से ही श्रीगणेश, शुभारम्भ किया हुआ मान लिया। इसलिए, कृस्ती-पंथ के समान ही बौद्ध-मत भी भ्रान्त धारणा पर आधारित है। वे दोनों हिन्दू-धर्म, हिन्दुत्व की ही शाखाएँ हैं जिनका अपने मूल, मुख्य स्रोत से पृथक् हो जाने पर सूख जाना, नष्ट हो जाना निश्चित, अवश्यम्भावी ही है। बौद्ध-पंथी कहलानेवाले हर देश और हर व्यक्ति को मात्र हिन्दू ही समझना चाहिए। बौद्ध-मत हिन्दू-धर्म का एक अंकुर ही है। इस प्रकार, आधुनिक बौद्ध-पंथ प्राचीन हिन्दू-धर्म के प्रचलन, प्रचार-प्रसार का ही एक साक्ष्य है।

"यूनानी और लैटिन 'समनोअस' संस्कृत शब्द 'श्रमण' है···फिलिपीनी टागल्स की पुरानी वर्णमाला पाली भाषा से व्युत्पन्न है।"[१]

श्रमण वह व्यक्ति है जो स्वहित का त्याग कर देता है और अन्य लोगों के भले के लिए कार्य करता है। दृढ़ संकल्प, इच्छाशक्ति और त्यागी-बलिदानी भावना वाले व्यक्तियों के लिए हिन्दुत्व, हिन्दू-धर्म द्वारा प्रस्तुत अनेक आदर्शों में से एक आदर्श यही था।

"मैथ्यू XI 5—अन्धों को अपनी दृष्टि प्राप्त हो जाती है, लँगड़े चलने लगते हैं, कोढ़ी रोगमुक्त हो स्वच्छ, शुद्ध हो जाते हैं, बहरे सुनने लगते हैं, मृतक पुनः जीवित हो खड़े हो जाते हैं और निर्धनों को सुख का समय प्राप्त हो जाता है।"[२] यह इस संस्कृत-पद का पूर्ण वाक्यांश है जिसमें धर्म-परायण हिन्दू भक्त ईश्वर का गुणगान करते हुए उसकी महिमा में कहते हैं कि वह गूँगे को भी बुलवा सकता है और पंगु (लूले-लँगड़े) को भी पर्वत लाँघने की शक्ति दे सकता है।

"मूकम् करोति वाचालम्, पंगुम् लंघयते गिरिम्,
यत् कृपा तम् अहम् वन्दे, परमानन्द माधवम्॥"

"हिब्रू १ : ६" वह सर्वप्रथम जन्मे को जब फिर संसार में लाया, तब

---

१. 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ ५१।

२. वही, पृष्ठ ८।

उसने (यह भी) कहा "और ईश्वर के सभी दूत उसकी पूजा करें।"[1]

यह भी महान् हिन्दू नियामक (महाराजा) मनु के आदेश का लगभग पूर्ण वाक्यांश ही है : सभी व्यक्तियों को इस भू-प्रदेश में सर्वप्रथम जन्म की जीवनियों का अनुसरण करना चाहिए।

"अस्मत् देश प्रसूतस्या साक्षात् अग्र-जन्मनाः
स्वम् स्वम् चरित्रम शिक्षेरण पृथिव्यम् सर्व मानवाः।"

बाइबल में प्रयुक्त 'प्रथम-जन्मे' (फ़र्स्ट-बॉर्न) शब्द भी संस्कृत शब्द "अग्र-जन्मनाः" अर्थात् ब्राह्मण का यथार्थ अनुवाद है।

उपर्युक्त उद्धरण सिद्ध करते हैं कि हिन्दू-धर्मग्रन्थ ही प्राचीन यूरोप के धार्मिक जीवन का आधार बने हुए थे। इसी के साथ, हम जब स्मरण करते हैं कि यूनानी और लैटिन भाषाएँ, उनके व्यक्तिवाचक नाम और उनके देवताओं के नाम, उनके नववर्ष दिन, उनके उत्सव-त्योहार, धार्मिक कृत्य, चिकित्सा-प्रणाली और सामान्य रूप में सभी प्रकार की विद्याएँ हिन्दुओं से अति सूक्ष्म, अति समीपस्थ एकरूपता रखती हैं तब यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि प्राचीन विश्व हिन्दू-धर्म से ओतप्रोत था और संस्कृत भाषा बोलता-चालता था।

यूरोप का एक प्रमुख समाज और अरब-क्षेत्र का एक प्रबल अस्तित्व यहूदी-समुदाय स्वयं ही कृष्ण-कुल का है। "इस बात के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि प्राचीन इस्रायली त्योहार कनान और बेबिलोनिया की पूर्ववर्ती पूर्वदेशीय संस्कृतियों से ही लिए गए हैं।"[2]

कनान कना (कन्हाई, कान्हा) अर्थात् भगवान् कृष्ण के प्रदेश का द्योतक है। काना (कना—कान्हा) नाम कृष्ण को उसके शिशुकाल में ही दिया गया था। बेबिलोनिया हिन्दू शब्द बाहुबलनिया है जो एक प्राचीन पौराणिक हिन्दू सम्राट् बाहुबलि द्वारा शासित देश का परिचायक है।

'पास ओवर' उत्सव हिन्दुओं का प्राचीन बसन्तोत्सव है जिसे यहूदियों

---

१. 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गोस्पल्स', पृष्ठ १९४।

२. 'यहूदियों का सामाजिक और धार्मिक इतिहास', पृष्ठ ५, विटमेयर बैरन, १९६२ ई०।

ने बाद में मिस्र देश से अपने महाभिनिष्क्रमण, बाहर चले जाने की स्मृति में 'वियोग' या 'विछोह' दिवस के रूप में मनाना शुरू कर दिया।

पुरानी कहावत को मान्य करके सेमाइट लोगों को ईश्वरेच्छा के सम्मुख विषादयुक्त समर्पण की व्याख्या की गयी है। यहूदी लोगों के पुराने विधान का एक सुदृढ़ खण्ड माना जानेवाला एक अन्य कथन है : "स्वयं को शुद्ध, पवित्र करो और फिर स्वयं पुण्य हो जाओ। मेरे नियमों को धारण करो और तब मैं वह भगवान् हूँ जो तुमको पवित्र करता है।" (लेव० २० : ७-८)

उपर्युक्त प्रबोधन स्पष्टत: 'भगवद्गीता' से भगवान् कृष्ण का कथन ही है। यहूदियों का प्राचीन विधान तथा अन्य धर्मग्रन्थ हिन्दू भागवतम्, हरिवंशपुराण और 'भगवद्गीता' से ही चुने-बिने, बनाए, रचे गए हैं। "स्वयं को शुद्ध, पवित्र करो"—भगवान् कृष्ण के उपदेश : "उद्धरेत आत्मना आत्मानम्" का यथार्थ अनुवाद है।

"इस्रायल के लोगों और इसके क्षेत्र, दोनों के मूलोद्गम अभी भी अस्पष्ट, अज्ञात हैं"[१]—सोलो विटमेयर बैरन ने टिप्पणी की है। जो भी कुछ अस्पष्टता आदि पहले रही हों, अब समाप्त हो जानी चाहिए। हमारे विभिन्न प्रकाशनों के माध्यम से प्रस्तुत किए जाने के लिए हमारे पास इस तथ्य के साक्ष्य प्रचुर मात्रा में हैं कि तथाकथित यहूदी लोग हिन्दुओं के यदु-वंश से सम्बन्धित हैं। उनके भगवान् प्रभु, स्वामी कृष्ण थे। महाभारत-युद्ध के पश्चात् भारत छोड़ने के बाद उन्होंने एक विशाल कृष्ण मन्दिर निर्मित किया और उसके चारों ओर एक नगरी स्थापित की यदु-ईश-आलयम् = यरु-ईश-आलयम् = जरु-ईश-आलयम् = जरुस्लम जो उनकी राजधानी हो गई। यहूदी इतिहास तो डेविड और सोलोमन व मोजेज़ से भी बहुत पूर्व की अथाह प्राचीनता का है। यह वह समाज था जब तथा-कथित अल-अक्सा-मस्जिद और 'रॉक पर डोम' (शिखर पर गुम्मट, गुम्बद) कृष्ण मन्दिर थे। 'शिखर-गुम्मट' मन्दिर, हिन्दू-पद्धति के अनुसार, अभी भी

१. 'यहूदियों का सामाजिक और धार्मिक इतिहास', पृष्ठ ३२, विटमेयर बैरन, १९६२ ई०।

अष्ट-कोणात्मक है। मुस्लिम लोग इसे 'हरम/हराम/हरायम्' कहते हैं। मूल संस्कृत नाम है 'हरियम्' अर्थात् हरि या भगवान् कृष्ण का स्थान या देवालय। अन्य शब्द 'अक्सा' शब्द संस्कृत का 'अक्षय' शब्द है—अनवरत, सतत, 'न कम होनेवाले दिव्यांश' का विशेषण, विशिष्ट लक्षण।

ऐसे सभी ऐतिहासिक साक्ष्य इसी एकमेव निष्कर्ष की ओर इंगित करते हैं कि यहूदी राष्ट्र की मूल राजधानी जरुस्लम ही है। वर्तमान तेलअबीब तो केवल एक कामचलाऊ, अस्थायी राजधानी है। भगवान् कृष्ण से घृणा करनेवाले या उनमें अविश्वास करनेवाले किसी भी व्यक्ति को वहाँ रहने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उक्त नगरी का अस्तित्व ही भगवान् कृष्ण से है।

यहूदी : "ईश्वर कर्म का ईश्वर बन गया, एक ऐसा भगवान् जो मिस्र से अपने लोगों को बाहर निकाल ले गया और जो उनको रेगिस्तान से सुरक्षित रूप में निकाल ले जाने के कार्य में मार्गदर्शन करता रहा तथा वचन-अनुसार भू-प्रदेश पर जिसने अन्तिम विजय दिलवाई।"[1]

यह ईश्वर, भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था क्योंकि उन्होंने ही पाण्डवों के वनवास की १३वर्षीय अवधि में उनका मार्गदर्शन किया था। अन्त में भगवान् कृष्ण ने ही उन्हें प्रेरित किया कि वे अपने ऊपर अत्याचार करनेवालों का डटकर मुकाबला करें और उन्होंने ही एक भयंकर संग्राम 'महाभारत-युद्ध' के माध्यम से उनको विजय दिलायी थी। चूंकि इतिहास स्वयं को दोहराता है, भगवान् कृष्ण के लाड़ले यहूदी लोगों के समक्ष, हमारे अपने ही युग में, वैसी ही स्थिति फिर उपस्थित हो गई है।

"यूनानियों के मध्य अनाम पुनर्स्मरण-पद्धति के कारण ईलियड और ओडिसी महाकाव्य संवर्धित और विस्तृत, व्यापक होते गए।"[2] इसका कारण यह था कि पहले के युगों में हिन्दू होने के कारण यूनानवासियों का पीढ़ी-दर-पीढ़ी वेदों का गान करने का अभ्यास था।

---

१. 'यहूदियों का सामाजिक और धार्मिक इतिहास', पृष्ठ ४६, विटमेयर बैरन, १९६२ ई०।

२. विल डूरण्ट लिखित 'सभ्यता की कहानी', खण्ड II, पृष्ठ ६४१।

प्राचीन इटली 'एट्रूरिया' के नाम से जाना जाता था और उक्त देश की सभ्यता को 'एट्रूस्कन' सभ्यता कहते थे। स्वेज के पश्चिम में किसी भी प्रकार की हिन्दू-पैंठ को अस्वीकार करने की अपनी हठवादिता के कारण ही यूरोपीय विद्वान् इसके मूलोद्गम की जानकारी पता न होने का नाटक, ढोंग, पाखण्ड, दिखावा करते हैं।

फिर भी विल डूरण्ट जैसे विद्वान्-लेखकों ने पर्यवेक्षण किया है कि, "उनके धर्म, उनकी वेशभूषा और कला में बहुत-से तत्त्व एशियाई मूल का सुझाव देते हैं।"[1]

एट्रूस्कनों के वंशज होने पर भी रोमन लोग उसी प्रकार भिन्न, अलग-से होने का छल, बहाना करते हैं जैसे आधुनिक अरबवासी, तुर्क और ईरानी लोग अपने हिन्दू पूर्वजों की सन्तानें न होकर इसलामी स्वर्ग से सीधे ही पृथ्वी पर आ उतरने का पाखण्ड करते हैं। हमने इस ग्रन्थ में अन्यत्र बताया है कि इटली में हिन्दू देवताओं की पूजा चिरअविस्मरणीय युगों से प्रचलित थी। 'एट्रूरिया' नाम सुप्रसिद्ध एटरि (उपनाम अत्रि) ऋषि के नाम पर रखा गया था। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इटली में 'एड्रियम' नामक एक स्थान क्यों है जो संस्कृत शब्द है। तथापि, कृस्ती-रोमन लोगों ने अत्यन्त गुपचुप रूप से व कई बार पूर्ण ढिठाई के साथ भी अपने एट्रूस्कन पूर्वजों को उसी प्रकार बदनाम किया है जैसे मुस्लिमों को प्रायः आमतौर पर शिक्षित किया गया है कि वे अपने गैर-मुस्लिम पूर्वजों, बाप-दादों को अस्वीकार-अमान्य कर दें और उनको बदनाम भी करें।

इटली में वेरोना संस्कृत शब्द वरुण है, जबकि रावेन्ना नगर रामायण के पात्र रावण के नाम पर है।

रोम का मातृ-नगर 'अल्बा लोन्गा' उस शिवलिंग के नाम से व्युत्पन्न था जिसकी वहाँ पूजा होती थी। प्राचीन समय से ही इटली पर शासन करनेवाले (राज) परिवार भारत से हिन्दू क्षत्रिय कुलों के ही थे। शिव उनके आराध्य-देवता थे।

शक्तिशाली समनाइट जनजातियों के नाम संस्कृत शब्द 'श्रमण' से

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड III, एट्रूस्कन।

व्युत्पन्न थे।

द्वि-मुखी जनस प्रत्येक द्वार पर प्रवेश व प्रस्थान पर निगरानी करते थे। हिन्दू शब्द 'गणेश' है। यह हिन्दू प्रथा, पद्धति है कि द्वार पर गणेश की प्रतिमा स्थापित की जाए और कोई भी कार्य शुरू करते समय गणेश-पूजन किया जाए। जनवरी मास का नाम (भी) जनस उपनाम गणेश से ही व्युत्पन्न है।

मे (मई) मास का नाम 'मय' से ही चला है। रोमन शब्द 'डेउस' (डेवस) संस्कृत का शब्द 'देवस' है जिसका अर्थ देवता/ईश्वर है।

ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में इटली के हिन्दू ब्राह्मण "ऐतिहासिक वर्ष-वृत्तान्त रखते थे, विधि (कानूनों) का अभिलेख करते/रखते थे, शुभ-मांगलिक लेते थे, शकुन-विचार करते थे; यज्ञ करते थे और पंचवर्षीय चमक-दमक, सुगंधियों से रोग को शुद्ध, परिशुद्ध कर देते थे। औपचारिक कर्मकाण्ड करने में पुरोहितों की सहायता १५ अग्निशिखाओं अर्थात् यज्ञाग्नि की प्रज्वलित लपटों से होती थी।"[1]

पवित्र परी इजीरिया के झरने का जल पवित्र आसपास के स्थानों को परिशुद्ध करने के लिए छिड़का जाता था। वह जल हिन्दुओं की गंगा-धारा का परवर्ती समानक था, हिन्दू लोग गंगा को देवी; माता; परी के रूप में पूजते हैं।

"शुद्ध की जानेवाली वस्तुओं के चारों ओर का चक्कर लोग लगाते थे—परिधि का चक्कर पूरा करते थे।"[2] यह हिन्दू प्रदक्षिणा, परिक्रमा है।

"१५ मार्च को जनता नव वर्ष शुभारम्भ का समारोह मनाती थी और देवी अन्ना पेरेन्ना की प्रार्थना करती थी।"[3] यह अन्ना पेरेन्ना संस्कृत नाम अन्नपूर्णा है—प्रति वर्ष, वर्षानुवर्ष खाद्यान्न की प्रचुर मात्रा को आश्वस्त करने के लिए आहूत, आह्वान की गई देवी। यह वह प्रथम शब्द, अक्षर 'अन्न' है जो अंग्रेजी शब्द 'ऐनुअल' (वार्षिक) का मूल है क्योंकि यही तो

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खंड III, पृष्ठ १५।

२. वही, पृष्ठ ६५।

३. वही, पृष्ठ ६७१।

वह देवी है वर्ष के प्रारम्भ होने पर जिसकी पूजा-आराधना की जाती थी। १५ मार्च वह लगभग निकटतम समय है जब हिन्दू लोगों का अपना नववर्ष, नया संवत्सर आता है। इस प्रकार रोमन नववर्ष दिवस और प्राचुर्य आश्वस्त करने के लिए माता देवी अन्नपूर्णा की पूजा करना वह पद्धति, प्रथा है जिसका उद्‌गम, प्रारम्भ रोम की हिन्दू प्राचीनता, उसके हिन्दू विगत काल से है।

कृस्ती-पंथ पूर्वकालिक हिन्दू-पद्धतियों, प्रथाओं को कपटपूर्ण कृस्ती नामों के अन्तर्गत चला रहा है। विल डूरण्ट ने कहा है : "जब कृस्ती-पंथ ने रोम पर विजय प्राप्त कर ली तब गैर-ईसाई, गैर-यहूदी गिरजाघर की निर्माण-विद्या, प्रधान पुरोहित वर्गों की उपाधियाँ और परिधान—वेश-भूषा, महा माता देवी और कृपादायिनी दिव्य विभूतियों—अनेक देवियों की पूजा, अतीन्द्रियों की सर्वत्र विद्यमानता की भावना, प्राचीन उत्सवों, त्योहारों की उमंग या गम्भीरता और अविस्मरणीय रीति-रिवाजों की धूमधाम व हर्षोल्लास—मातृ-रक्त की भाँति नये धर्म में फैल गयीं, प्रवाहित होने लगीं और बंधक रोम ने अपने विजेता को जीत लिया।"

हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि कृस्ती रीति-रिवाज और शब्दावली किस प्रकार संस्कृत, हिन्दू-मूल की हैं। ग्रेट मदर (महान् माता) को भारत में 'मेरी अम्मा' भी कहते हैं। माँ, माता के लिए संस्कृत शब्द 'अम्बा' है। आधुनिक भारतीय बोलियों में 'अम्बा' का उच्चारण अम्मा किया जाता है। उसका नाम मैरी है। अतः 'मैरी अम्मा' का अर्थ 'माँ मैरी' है। जीसस-कथा में उसकी माँ का नाम 'मैरी' बताया गया है मात्र इसी कारण कि हिन्दू देवी 'मैरी अम्मा' अर्थात् माँ मैरी की पूजा जरुस्लम, रोम और कोरिन्थ में हुआ करती थी।

रोम नगरी की स्थापना के सम्बन्ध में यह कहा गया है : "पाँचवीं शताब्दी के यूनानियों ने अपने रीति-रिवाज के अनुसार अपने मूल पुरुष रोमोस (रामस) का रोम के संस्थापक के नाते आविष्कार कर लिया जबकि इटली में रोमुलुस (रामुलु) नाम प्रचलित था। जब यूनानियों ने रोमुलुस का नाम सुना तब उन्हें मालूम पड़ा कि एक नगरी के दो संस्थापकों से उन्हें व्यवहार करना है और उन्होंने दो जुड़वाँ लोगों की कथाओं का स्मरण

व उन पर विचार करते हुए, यह सम्बन्ध रोमुलुस और रोमोस पर यश-सिद्ध कर दिया।"[1] रोम की स्थापना रोमोस-रोमुलुस द्वारा किए जाने-वाली बारम्बार दोहरायी कथा, इस प्रकार मनगढ़न्त कथा का एक स्पष्ट मामला है।

उपर्युक्त उद्धरण ने यूनानियों और रोमनों तथा स्वयं यूरोपियनों की अपने ही स्वयं के इतिहास के बारे में पूर्ण अविश्वसनीयता के प्रति सभी पाठकों को सचेत, सावधान कर देना चाहिए। उनके सम्पूर्ण इतिहास की कुंजी संस्कृत, हिन्दू परम्पराओं में उपलब्ध हो जाती है। पाँचवीं शताब्दी में रोमोस को रोम-स्थापना का यूनानी श्रेय, यश देना वास्तव में बहुत बाद की बात है। रोम का तो अति प्राचीन इतिहास है। उसकी स्थापना पौराणिक हिन्दू सम्राट् राम के नाम पर हुई है। संस्कृत भाषा में राम को प्रायः रामस् सम्बोधित किया जाता है। इसकी यूनानी वर्तनी रोमोस यूनानी प्रथा, पद्धति के कारण हो सकती है। रोमन रूप रोमुलुस का समानान्तर रूप भारत में भी उपलब्ध हो जाता है। भारत के आंध्र क्षेत्र में राम को रामुलु कहा जाता है। साथ ही, प्राचीन काल में इतालवी लोगों में आम प्रथा थी कि वे अपने घरों को राम और रामायण कथा के प्रसंगों की रेखाओं, भित्ति-चित्रों से प्रायः सजाया करते थे। इस सब साक्ष्य से पाठक को विश्वास हो जाना चाहिए कि विद्यालयी पाठ्य-पुस्तकों से लेकर कोश (ज्ञान)-कारों तक के विभिन्न स्तरीय लेखकों के समूह, जो एक मादा भेड़िया द्वारा स्तन-पान कराए गए दो भाइयों रेमस और रोमुलुस द्वारा रोम नगरी की स्थापना करने की कहानी तोता-रटन्त जैसे दोहराए जाते हैं वे, स्वयं अज्ञानी हैं और विश्व-भर को भ्रम में डाल रहे हैं। रोम अर्थात् रामा नगरी की रोमोस अर्थात् रामस् द्वारा स्थापना की यूनानी स्मृति और परम्परा इस बात का प्रबल प्रमाण है कि हिन्दू अवतार राम ने उस विशाल क्षेत्र पर राज्य-शासन किया था जिसे आजकल यूरोप, अरेबिया और अफ्रीका नाम से जाना जाता है।

पाठक इस बात से सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि जब वे लोग अपने

---

१. मैथ्यून : 'यूनानी और रोमन विश्व का इतिहास', पृष्ठ २७।

ही मूलोद्गम के सम्बन्ध में ऐसी त्रुटियाँ करते हैं तो उन्हीं पश्चिमी विद्वानों की लिखी और स्थायी रूप से जारी, प्रचारित कर दी गयी विश्व-इतिहास की पुस्तकें कितनी अधिक निपट भ्रामक और भयंकर भूलोंवाली होंगी ही।

तीन खण्डीय 'स्ट्रैबो का भूगोल' ग्रन्थ में विवेकी निष्पक्ष पाठक के लिए इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण मिल जाएँगे कि प्राचीन विश्व के बड़े भागों में हिन्दू सभ्यता का ही प्रचलन था।

स्ट्रैबो के प्रथम खण्ड में 'ईशस की खाड़ी' का उल्लेख करते हुए पृष्ठ १०५ पर दी गयी पद-टीप में यह भी अंकित है कि भूमध्य सागर के पूर्वी सीमान्त पर स्थित नगरी का नाम 'ईशस' से बदलकर 'एइआस' कर दिया गया है।

संस्कृत में ईशस का अर्थ 'ईश्वर' है। यही वह शब्द है जिसका उच्चारण 'जीसस' वैसे ही किया जाने लगा जैसे महेश को मोजेज बोलने लग गए। ऐसे नाम हिन्दुओं द्वारा प्राचीन विश्व में सर्वत्र उपनिवेश बना लेने, जा बसने, छा जाने के सांकेतक, परिचायक हैं।

स्ट्रैबो ने स्पेन की बन्दरगाह 'केडिज़' की वर्तनी 'गेडेस' की थी। उसमें खम्बोंवाला, हरकुलिस का एक मन्दिर था।[1] चूंकि हरि-कुल-ईश का नाम भगवान् कृष्ण का नाम है, इसलिए स्पेन एक हिन्दू देश था जहाँ अन्य हिन्दू देवताओं के साथ-साथ भगवान् कृष्ण की पूजा होती थी।

वे स्तम्भ, खम्भे इतने प्रमुख, प्रसिद्ध थे कि उनको एक विशिष्ट भू-प्रदेश, उल्लेखनीय स्थान-चिह्न के रूप में नाविक लोग दूर से ही देख, पहचान लेते थे। इसलिए मन्दिर को प्रायः 'खंभों' शब्द से स्मरण कर लिया जाता था (अर्थात् खम्भोंवाला मन्दिर कह दिया करते थे)। उक्त अन्तरीप को 'पवित्र अन्तरीप' कहा करते थे, क्योंकि यहाँ पर हिन्दू देवताओं के मन्दिरों की भरमार, बहुत अधिक संख्या थी।

यूनानी महाकाव्य 'ओडिसी' के निम्नलिखित अवतरण में राधामनथस (राधामनस्थ) का सन्दर्भ है जो फिर भगवान् कृष्ण का नाम है जिसका अर्थ है वह प्रभु, भगवान् जो राधा के हृदय-मन में निवास करता है।

---

१. स्ट्रैबो का भूगोल, खण्ड I, पृष्ठ २५३।

"अब इससे आगे देवता लोग तुम्हें इलीसियम के सम्मुख नतमस्तक कर देंगे और पृथ्वी की दूरस्थ सीमाओं तक पहुँचा देंगे, वहाँ राधामनथस (राधामनस्थ) का निवास है।"

हेरोडोटस ने एक सम्राट् अरगनथोनियस का उल्लेख किया है जिसने ८० वर्ष तक राज्य किया और जिसने १२० वर्ष की आयु में अपना देह-त्याग किया था। सीइरो, वेलेरियस, मैक्सीमस और प्लीनी भी इस बात का उल्लेख करते हैं।

अरगनथोनियस नाम संस्कृत का यौगिक शब्द अर्जुन-देवन-ईश अर्थात् अर्जुन का प्रभु, स्वामी, भगवान् है। उक्त भगवान् का उल्लेखित जीवनकाल भी कृष्ण का जीवन-खण्ड ही है। अतः नाम और जीवन काल-खण्ड, दोनों से स्पष्ट है कि अरगनथोनियस का अर्थ भगवान् कृष्ण ही था।

गोस्सेलिन के अनुसार शनिदेव का मन्दिर सेंट सिबस्तीयन के वर्तमान गिरजाघर के स्थान पर (बना हुआ) था और हरकुलिस का मन्दिर द्वीप के दूसरे छोर पर (केडिज के निकट) सेंट पेट्रास के स्थल पर (निर्मित) था।[1]

'सिबस्तीयन' शब्द संस्कृत शब्द 'शिव-स्थान' अर्थात् शिव-देवालय का कृस्ती-अपभ्रंश है। पूर्वकालिक हिन्दू-सभ्यता को समूल नष्ट कर देने की अपनी अनुचित, अशोभनीय, मूर्तिभंजक त्वरा (जल्दी, हड़बड़ाहट) व क्रोधाग्नि में कृस्ती-पंथियों और मुस्लिमों, दोनों ने ही किसी भी (हर) हिन्दू मन्दिर पर बलात् कब्जा करके उसमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन, जोड़-तोड़ कर दिए कि उसका नाम उनकी भाषा बोली में सही प्रतीत होने लग जाए।

फ्रांस में टौलूज़ की नगरी में (हिन्दू देवता का) एक पुण्य, पवित्र मन्दिर था जो निकटवर्ती चतुर्दिक क्षेत्रों में अत्यन्त श्रद्धा का केन्द्र था और उस कारण समृद्धियों का विचार भण्डार था तथा किसी को भी उसे छू सकने का साहस नहीं होता था।

प्राचीन यूरोप में कई मन्दिरों में एक प्राचीन हिन्दू देवी प्रतिष्ठित थी जिसकी वर्तनी यूनानी लोग अरिष्टारचा (अरिष्टारका) करते थे। शुद्ध संस्कृत भाषा में इसका अर्थ होगा अरिष्ट, अनिष्ट, विनाश से भक्त या

---

१. स्ट्रैबो का भूगोल, खण्ड I, पृष्ठ २५३।

जनता को बचाने, उद्धार करने वाली 'अरिष्ट-तारका' देवी। वही नाम बाद में 'ओस्टारा' के रूप में उच्चारण किया जाने लगा जिससे कृस्ती जुगत 'ईस्टर' (की घपलेबाजी) शुरू हो गयी।

ऊपर उद्धृत केवल कुछ सांकेतिक अवतरण, सार-उदाहरण ही हैं। कृस्ती-पूर्व विश्व पर प्रकाशित साहित्य में इस तथ्य के पर्याप्त प्रचुर मात्रा में साक्ष्य सन्निहित हैं कि संस्कृत भाषा और हिन्दू-संस्कृति ही अति दीर्घ काल तक विश्व पर अपना प्रभुत्व रखनेवालों में प्रथम थे।

पश्चिमी विद्वान् व्यापक रूप में इधर-उधर बिखरे पड़े साक्ष्य के विशाल भण्डार से कोई सकारात्मक और सारगर्भित निष्कर्ष निकालने में अक्षम, विफल रहे हैं क्योंकि कृस्ती-पंथ की शिक्षण-पद्धति ने उनको प्रत्येक कृस्ती-पूर्व वस्तु के प्रति इतना ईर्ष्यालु, हठी, द्वेषी, दुराग्रही बना दिया है कि वे उन्हें देखते ही अति प्राचीन नहीं, ज्यादा ध्यान देने योग्य नहीं और स्वेज़ के पश्चिम में कहीं भी प्रवेश के सक्षम, लायक नहीं कहकर उसका निषेध कर देते हैं। राजकीय आडम्बर और कृस्ती-घमण्ड द्वारा उत्प्रेरित ऐसी शैक्षिक अहम्मन्यता ने पश्चिमी विद्वानों के बड़े वर्ग की रचनाओं को दूषित, भ्रष्ट कर दिया है।

अध्याय २०

पश्चिम में कृष्ण के चित्र

यूरोप और पश्चिम एशिया में हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र समय-समय पर यूरोपीय विद्वानों को मिले हैं किन्तु उन लोगों ने उन चित्रों से कुछ शिक्षा ग्रहण करने से अथवा उनसे कोई निष्कर्ष निकालने से साफ मना कर दिया है।

हिन्दू देवी-देवताओं की ऐसी असंख्य मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ अवश्य ही होंगी जो विश्व-भर के तथाकथित गिरजाघरों और मस्जिदों के फर्शों, उनकी कोठरियों, गुप्त तहखानों, दीवारों या छतों में दबी हुई पड़ी होंगी। धर्मान्ध मूर्तिभंजन और दमन से बची हुई ऐसी ही कुछ मूर्तियाँ संग्रहालयों में सुरक्षित रखी हुई हैं और उन्हीं के चित्र शोध-प्रकाशनों में पुनः-पुनः छपते रहते हैं। वे पच्चीकारी, भित्ति-चित्रों, आकृति-चित्रण, या मूर्तियों और प्रतिमाओं के रूप में विद्यमान हैं।

इस अध्याय में हम चार नमूने प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे हमारे पाठक सावधान, सचेत होकर सभी पुस्तकों, सार्वजनिक संग्रहालयों, या निजी संग्रहों-संकलनों में ऐसे दृष्टान्त देखें और उनके (अपनी उपलब्धियों के) छायाचित्रों को लेखक के पास भेज सकें।

इन चित्रों पर क्रमांक अंकित हैं। पहला चित्र एक पच्चीकारी है जो यूनानी भूखण्ड में एथेन्स से ६० मील की दूरी पर स्थित कोरिन्थ में सार्वजनिक संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है। स्पष्ट रूप में यह कृष्ण का चित्र है जिसमें वे बाँसुरी बजा रहे और गौओं को चरा रहे हैं। फिर भी, इसे मूर्खता (या धूर्ततावश), निरर्थक ही 'पशुचारी-दृश्य' शीर्षक दिया गया है। यूरोपीय विद्वानों को प्रशिक्षित किया गया है कि वे ऐसे चित्रों को किसी गुमनाम मालूमी पीटर पैन (पान) के चित्र कहकर तिरस्कृत, अमान्य कर

दें। उनके ऐसे रुझान, दृष्टिकोण ने विश्व-ज्ञान को घोर क्षति पहुँचायी है। पीढ़ियों को गलत जानकारी दी गयी और उन्हें भ्रमित, मार्गभ्रष्ट किया गया है।

एक वृक्ष के नीचे खड़े होना, तिरछे पाँव खड़े होने की मुद्रा, समस्तर पड़ी बाँसुरी, अतिरिक्त कटि-वस्त्र और चरती हुई गौएँ—सभी वस्तुएँ भगवान् कृष्ण से विशेष रूप में जुड़ी हुई हैं। यह पच्चीकारी चित्र यूनान (ग्रीस) में मिल ही नहीं सकता था जब तक कि यूनानियों द्वारा कृष्ण की पूजा-अर्चना विश्वव्यापी रूप से न की जाती रही हो।

यहाँ उद्धृत किए जा रहे चित्र 'हिन्दुस्तान का इतिहास, इसकी कलाएँ और विज्ञान' ('ए हिस्ट्री ऑफ़ हिन्दोस्तान, इट्स आर्ट्स एण्ड साइन्सेज़') नामक ग्रन्थ से लिए गए हैं।

यद्यपि इन चित्रोंवाली पुस्तक के लेखक ने इनका कोई स्रोत या स्थान उल्लेख नहीं किया है, तथापि स्पष्ट है कि ये चित्र किन्हीं सार्वजनिक संग्रहालय, निजी संकलन या यूरोप के ही प्रकाशनों से लिए गए हैं।

चित्र क्रमांक २ में कृष्ण को एक नाग (सर्प) की कुंडलियों में लिपटा हुआ दिखाया गया है। यह चित्र यूरोप के ही किसी क्षेत्र से सम्बन्धित है। यह चित्र भारतीय नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी हिन्दू व्यक्ति भगवान् कृष्ण को नागराज के चंगुल में फँसे एक असहाय पैदल यात्री के रूप में निरूपित, चित्रित नहीं कर सकता।

यह चित्र उस सन्दर्भ को प्रदर्शित करता है जब बाल्यावस्था में जमुना जलधारा के तट पर कन्दुक (गेंद) खेलते हुए बालसखाओं के साथ, कृष्ण गेंद का पीछा करते-करते गहरी जलधारा के निकट पहुँच गए। वे गेंद निकालने के लिए ज्यों ही जल में कूदे, उन्हें सात छत्रोंवाले भयंकर नाग का सामना करना पड़ा। दुर्धर्ष, विशालकाय सर्प ने पहले तो कृष्ण को अपने कुंडल में फाँस ही लिया था। चित्र में यही भाव दर्शाया गया है।

चित्र क्रमांक ३ भी उपर्युक्त ग्रन्थ से ही है। यह भी भारत से संग्रहीत नहीं हो सकता। कुंडलियों से मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद कृष्ण उक्त नाग का मर्दन, अंग-भंग कर रहे हैं। इनके सिर पर रोमन-मुकुट की ओर ध्यान दें जिसके दोनों ओर मयूर-पंख लटक रहे हैं। यदि यह भारत से लिया गया

हिन्दू चित्रण होता, तो इसमें कम आयुवाले बाल कृष्ण को भारतीय मुकुट और उस पर ऊपर मात्र एक मोर-पंख की कलगी धारण किए सात फन-वाले सर्पराज के सिर (छत्र) पर (विजयोपरान्त) विजयी मुद्रा में प्रसन्नता-पूर्वक नर्तन करते हुए दिखाया गया होता।

चित्र क्रमांक ४ यथार्थ रूप में कृष्ण का चित्र न होकर भगवान् विष्णु के एक अन्य अवतार का है। पीछे फटते हुए खम्भे का आकार, निर्माण बताता है कि यह रोमन या यूनानी चित्रण है।

अतः यह तथ्य हमारी उस धारणा को भी पुष्ट करता है कि केवल कृष्ण ही नहीं, अपितु पूर्ण हिन्दू देव-कुल ही कृस्ती-पूर्व विश्व में पूजित था, उनका पूजन-आराधन होता था।

चित्र के दायें भाग में शुरू में ही किशोर प्रह्लाद हाथ जोड़कर भगवान् विष्णु की प्रार्थना कर रहा है जो पीछे खम्भे से चमत्कारिक रूप में नृसिंह अर्थात् आधे नर व आधे सिंह का शरीर धारण करके प्रकट हुए थे और प्रह्लाद के आततायी, ईश्वर-विरोधी पिता, हिरण्यकश्यप का पेट फाड़कर उसका वध कर दिया था।

एथेन्स में ब्रिटिश और अमरीकी, दोनों ने ही अपनी-अपनी पुरातत्त्व-शाखाएँ यूनान का ऐतिहासिक विगत-काल पता करने के लिए खुदाई करने हेतु स्थापित कर रखी हैं। उनकी खुदाइयाँ इस तथ्य की निपट अज्ञानावस्था में की जाती हैं कि वे जो भी कुछ उत्खनन में प्राप्त करते हैं वे सभी हिन्दू देव-देवियाँ ही हैं जिनकी उपयुक्तता, सार्थकता और परस्पर सम्बन्ध केवल हिन्दू जनश्रुति के सन्दर्भ में ही जाने जा सकते हैं और यह कार्य भी मात्र किसी हिन्दू पौराणिकत्व-विशेषज्ञ की सहायता से ही किया जा सकता है। ब्रिटिश और अमरीकी-दलों, दोनों में ही, एक भी ऐसा हिन्दू विशेषज्ञ सम्मिलित किया मालूम नहीं पड़ता। उनकी धारणा कदाचित् यह मालूम पड़ती है कि यूनान में उत्खनन करते समय किसी हिन्दू पौराणिक-विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं है। यदि उनका यही दृष्टिकोण है तो यह अति भ्रान्त धारणा, विचार है। प्राचीन इतिहास में रुचि रखनेवाले सभी लोगों को यह अवश्य जान लेना चाहिए कि यूनानी और रोमन व परिणामस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप की पौराणिकता व देव-पूजा-पद्धति ही हिन्दू (पद्धति) है। यदि उनको

हिन्दू रूप में पहचानने में कोई, कुछ कठिनाई उपस्थित हो रही है तो उसका कारण वे विकृतियाँ हैं जो हिन्दू राज्य-शासन समाप्त हो जाने और यूरोप में शिक्षा का प्रचार होने तक बीच में व्यतीत हुई शताब्दियों की अवधि में प्रविष्ट हो गयीं। या अन्य बात यह भी हो सकती है कि ब्रिटिश और अमरीकी दल यह सोच रहे हों कि उन्हीं में से एक श्वेत, कृस्ती-सदस्यों को ही पूर्ण रूप में सारी जानकारी दे दी जाए जिससे वह हिन्दू पौराणिकता का परामर्शदाता, सलाहकार, मार्गदर्शक या व्याख्याकार का काम कर सके। आत्म-निपुणता, विशेषज्ञता में ऐसा विश्वास पश्चिम में इतनी दृढ़, पक्की जड़ें जमा चुका मालूम पड़ता है कि मैक्समूलर, मैकॉले, सर विलियम जोन्स, बूहलर और कीलहॉर्न के दिनों से ही यूरोपियन और अमरीकी विद्वानों ने हिन्दू-धर्म, हिन्दुत्व के नाम पर कुछ भी कहने, लिखने का एकाधिकार अपने पास ही सुरक्षित होने का दम्भ कर लिया है। यह तो हिन्दू-धर्म का खुल्लमखुल्ला निरादर, अपमान है जिसे कभी भी सहन नहीं किया जा सकता। अपने साम्राज्यवादी शैक्षणिक एकाकीवाद और ऊँची इमारतों की गुस्ताखी, धृष्टता में ये तथाकथित पश्चिमी विद्वान् उस कर्म के अपराधी हैं जिसे शब्दों में कहें तो शैक्षणिक अत्याचार कहा जा सकता है।

उनके शैक्षणिक अविवेकी निष्कर्षों, कार्यों की गणना सूचीबद्ध करें तो पूरी ग्रन्थमाला न सही, एक बृहद ग्रन्थ तो अवश्य तैयार हो ही जाए। यह कोई अतिशय उक्ति, बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी बात नहीं है। उदाहरण के लिए, जनरल कनिंघम ने, जिसने भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण विभाग के बहु-खण्डीय प्रतिवेदन प्रकाशित किए हैं, भारत के ऐतिहासिक उद्यानों, भवनों और नगरों को इसलामी आक्रमणकारियों और विध्वंसकों द्वारा निर्मित बताकर भयंकर भूल की है। परिणामस्वरूप सभी पश्चिमी विद्वानों ने भी, जो सारे विश्व में पुरातत्त्व, शिल्पकला, इतिहास या संग्रहालय-शास्त्र का शिक्षण करते रहे हैं, भयंकर भूल करनेवाले छद्म, झूठे, नकली, पाखण्डी विशेषज्ञों की शृंखला ही तैयार कर दी है। वे भी तोता-रटन्त कर रहे हैं और सम्पूर्ण शैक्षणिक विश्व को हिन्दू शिल्पकला को इसलामी शिल्पकला का विश्वास दिलाकर और वैसी ही व्याख्या करके सारे शिक्षा-जगत् को भी

संदूषित, विकृत, भ्रष्ट कर रहे हैं। अतः परसी ब्राउन और फ़र्ग्युसन जैसे लेखकों ने तथाकथित इसलामी शिल्पकला के बारे में जो भी कुछ लिखा है वह पूरी तरह गलत, भ्रामक और निराधार है।

हिन्दू-सम्बन्धी विषयों में विशेषज्ञों के रूप में अपनी सक्षमताओं, योग्यताओं के बारे में पश्चिमी विद्वानों के आत्म-थोपित, अनुचित विश्वास का एक अन्य उदाहरण अमरीकी नगर में एक राष्ट्रीय संग्रहालय का भ्रमण करनेवाले मित्र ने दिया। जब भारतीय पर्यटक ने अष्ट-भुजा हिन्दू देवी को देखा जिसके खुले बाल पीठ पर फैले, बिखरे हुए थे, तब उसने संग्रहालय-पालक से पूछा कि यह कौन, क्या है। पश्चिमी पालक का उत्तर था कि यह बुद्ध था।

सम्पूर्ण विद्वत् समाज को ऐसे तथाकथित पश्चिमी विशेषज्ञों को तिरस्कृत, अमान्य और अस्वीकार कर देना चाहिए जो हिन्दू कला और संस्कृति पर अपनी चौधराहट, पण्डिताई, विद्वत्ता बघारते हैं। उन लोगों ने सारे संसार में बेहूदी, बे-बुनियाद धारणाएँ प्रचारित करके हिन्दुओं को बदनाम किया है जैसे वैदिक युग के हिन्दुओं को लिखने की कला का ज्ञान नहीं था या हिन्दुओं ने जब कभी विश्व का उल्लेख किया तब उनका आशय केवल भारत से ही होता था। दुर्भाग्यवश अपने पश्चिमी गुरुओं से शिक्षित हिन्दू लोग भी पिछलग्गू भेड़-बकरियों के समान कातर भाव से और तोते जैसे मशीनी, यांत्रिक रूप से उन्हीं मूढ़तापूर्ण, आत्म-निन्दक धारणाओं को दोहराए जाते हैं।

हिन्दू लोग तो, अ-विस्मरणीय विगत युगों में सम्पूर्ण विश्व को प्राथमिक स्तर से अन्तर-ग्रहों की यात्राओं तक की शिक्षा देनेवालों में सर्व-प्रथम व्यक्ति थे। ऐसे लोगों को लेखन-कला का ज्ञान नहीं होना—कहने की बात तो निकृष्ट मिथ्यापवाद की कल्पनातीत सीमा है। प्रसंगवश, ऐसा मिथ्यापवाद इसके आविष्कारकों और प्रचारकों की बौद्धिक क्षमताओं और प्रामाणिकता, ईमानदारी पर तीव्र, सनसनीदार प्रकाश भी डालता है।

परिणामतः एथेन्स में पुरातत्त्व की अमरीकी और ब्रिटिश शाखाएँ अपना समय, प्रयास और धन व्यर्थ ही गँवा रही हैं यदि वे हिन्दू विद्या, जनश्रुतियों में हिन्दू विशेषज्ञों का परामर्श, मार्गदर्शन प्राप्त नहीं कर रही

है। किन्तु यदि उनका पुरातात्त्विक कार्यकलाप किसी अन्य गर्हित, निहित, स्वार्थमय प्रयोजन से चल रहा है तब तो एक हिन्दू पौराणिकता-विशेषज्ञ की अनुपस्थिति ग्राह्य है, समझ में आ सकती है।

कोरिन्थ में अमरीकी उत्खननों के प्रकाशनों की रिपोर्ट (प्रतिवेदन) में अन्य बातों के अतिरिक्त, देवताओं की माता (अर्थात् अदिति) और भयानक देवी (अर्थात् देवी कालिका उपनाम काली) की प्रतिमाओं की उपलब्धियों का भी उल्लेख है। वे हिन्दू देवियाँ हैं और फिर भी एथेन्स स्थित अमरीकी पुरातत्त्व शाखा इस प्रतिमा-द्वय की ऐसी पहचान करने में विफल रहती है। तथ्य रूप में तो यदि उन्होंने यह अनुभूति कर ली होती तो भारतीय और यूनानी इतिहासों के संगम-स्थल की महत्त्वपूर्ण खोज कर लेने के एक सार्थक, अधिक महान् और पूरक प्रयास से उनकी यश-गरिमा अत्युच्च, अति भव्य हो गयी होती। उन्होंने वह स्वर्णिम अवसर गँवा दिया, खो दिया यद्यपि एडवर्ड पोकोक की पुस्तक 'इण्डिया इन ग्रीस' (यूनान में भारत) पहले ही पथ-प्रदर्शन कर चुकी थी।

कोरिन्थ संग्रहालय में सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित पच्चीकारी में कृष्ण का चित्र यूरोपीय विद्वानों को दशकों से ज्ञात है, फिर भी उनमें से एक ने भी इसे कृष्ण के रूप में कभी नहीं पहचाना। एक वायुयान चालक, जिसने मेरी पुस्तकें पढ़ी थीं और जो छुट्टी पर कोरिन्थ जा पहुँचा, इस आकृति को कृष्ण के रूप में पहचान गया और मेरे लिए एक चित्र भी वहीं से लेता आया। यह प्रदर्शित करता है कि यदि व्यक्ति में सूक्ष्म दृष्टि नहीं है तो सामने दृश्यमान साक्ष्य की भी उपेक्षा हो जानी सम्भव है। वायुयान चालक ने प्राचीन हिन्दू विश्व साम्राज्य के सम्बन्ध में मेरी मान्यता के अध्ययन के माध्यम से प्राप्त सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा ही सुदूर कोरिन्थ में भी कृष्ण को पहचान लिया। इसी प्रकार जब उघारे, फ़ैरो लोगों के शरीर पर पवित्र हिन्दू चन्दन-छापों युक्त शोध-चित्रों को मैंने सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किया तब काहिरा से होकर आनेवाले पर्यटकों ने मुझे बताया कि ऐसे चित्रों को तो काफी संख्या में काहिरा-संग्रहालय में देखा था। यह सिद्ध करता है कि यदि व्यक्तियों में सूक्ष्म (अन्तर) दृष्टि का अभाव है तो साक्ष्य को अपने पास पाकर भी वे उसका महत्त्व गँवा देते हैं।

अध्याय २१

वैटिकन (वाटिका) नगरी

चूँकि कृस्ती-पंथ कृष्ण-नीति है, इसलिए यह भी स्वत: स्पष्ट है कि ईसाई जगत् की धार्मिक सत्ता के प्रधान केन्द्र वैटिकन को भी एक हिन्दू धार्मिक केन्द्र ही होना चाहिए था।

यदि किसी विद्वान् या संगठन, संस्थान ने वैटिकन के कृस्ती-पूर्व इतिहास पर शोध-कार्य किया है, तो हमें प्रसन्नता ही होगी। यदि अभी तक ऐसा नहीं किया गया है, तो अब भी ऐसा शोध-अध्ययन अति महत्त्वपूर्ण और आकर्षक, सम्मोहक होगा।

यह तथ्य तो हर व्यक्ति को स्पष्ट समझ में आ जाना चाहिए कि जब रोमन सम्राट् को स्वयं कृस्ती-पंथ में धर्म-परिवर्तित कर दिया गया, तो उसने भी उसी क्रम में वैटिकन स्थित अपने हिन्दू पुरोहित को विवश कर दिया कि वह भी नव-स्थापित कृस्ती-आस्था, विश्वास, धर्म के अनुरूप लक्षित होने के लिए अपनी कार्यशैली और आध्यात्मिक अनुकम्पा प्रदान करने की पद्धति बदल ले।

स्वयं वैटिकन (वाटिकन) नाम पर विचार करें। यह संस्कृत मूल का शब्द है। संस्कृत भाषा में, वाटिका का अर्थ लतामंडप, कुंज-निकुंज या वन-संकुल होता है। इसलिए, हिन्दू धार्मिक केन्द्र या एकान्तवासी, तपस्वी का तपोवन आश्रम-वाटिका, धर्म-वाटिका या आनन्द-वाटिका जैसे नामों से पुकारे जाते थे। रोम में वाटिकन भी एक ऐसा ही स्थान था।

यह निष्कर्ष इस तथ्य से संवर्धित, पुष्ट होता है कि रोम महान् हिन्दू अवतार भगवान् राम के नाम में ही स्थापित है। परम शत्रु रावण, जिसे भगवान् नाम ने पराभूत किया था, के नाम पर भी इटली में एक नगर है रावेन्ना (रावण)।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कृस्ती-पूर्व युगों में, वाटिका एक ऐसा हिन्दू धार्मिक केन्द्र था जहाँ हिन्दू देवकुल के राम, कृष्ण, शिव और अन्य देवता प्रतिष्ठित थे तथा उनकी पूजा-अर्चना होती थी।

इसका समर्थन पुरातात्त्विक उपलब्ध वस्तुओं से भी होता है। वाटिकन से खुदाई में प्राप्त एक हिन्दू शिवलिंग वहीं एट्रूस्कन संग्रहालय में दर्शनार्थ रखा हुआ है। इस प्रकार की अधिक जानकारी एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (ब्रिटिश ज्ञानकोश) के खण्ड ८ में 'एट्रूटिया और एट्रूस्कन' शीर्षकों के अन्तर्गत मिल सकती है।

प्राचीन इटली 'एट्रूरिया' के नाम से जाना जाता था। यह हिन्दू ऋषि एट्री उपनाम अत्रि के नाम पर रखा गया था जो अविस्मरणीय भूतकाल में धार्मिक, चिकित्सीय, शैक्षिक, सामाजिक और धर्मार्थ कार्यों का रोम में प्रबन्ध, देखभाल किया करते थे।

यूरोपीय विद्वानों को एक ऐसे अन्तिम ज्ञान-बिन्दु पर पहुँच जाने का बहाना, पाखण्ड करने की दक्षता प्राप्त है जहाँ अन्य ज्ञान-खोज उनकी परेशानी का कारण बन जाता है। एट्रूस्कन सभ्यता एक ऐसा ही बिन्दु है। संयोगजन्य रूप से अभी तक संग्रहीत चित्रों, मूर्तियों-प्रतिमाओं, भाषा, धार्मिक रीति-रिवाजों तथा साक्ष्य की ऐसी ही प्रत्येक अन्य वस्तु से यही निष्कर्ष निकलता है कि वे भारत के हिन्दू ही थे।[1] अतः इसे वहीं मँझधार, अधर में छोड़ दिया गया था।

यूरोपीय कृस्ती विद्वान् या उनके धन-पोषक और प्रायोजक उस बिन्दु से आगे जाने में किसी प्रकार भी लेशमात्र इच्छुक नहीं थे। कृस्ती और इसलामी शक्तियों व हितार्थियों दोनों ने ही उस शोध की दिशाओं, निदेशों की उपेक्षा की है, उनका गला घोंटा है या उनका पूर्ण रूप में दमन किया है जो उनके धार्मिक अहम् को बढ़ा न पाया, उसके अनुकूल न था।

विल डूरण्ट कहते हैं, "एट्रूस्कन लोग इतिहास के विक्षुब्धकारी दुर्बोध अंधकारपूर्ण निःशेष लोगों में से हैं। उन्होंने रोम पर १०० या

---

१. अधिक जानकारी के लिए हमारा प्रकाशन : 'विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय' शीर्षक पुस्तक के पृष्ठ २०१ से २१२ देखें।

अधिक वर्षों तक राज्य-शासन किया; रोम के रंग-ढंग, रहन-सहन पर ऐसा विभिन्न प्रभाव डाला कि उनके बिना रोम को ठीक प्रकार समझा ही नहीं जा सकता, फिर भी रोम का साहित्य उनके बारे में ऐसे ही चुप, गुमसुम है जैसे कोई विवाहिता अपने यौवनकाल की सभी समर्पण-स्मृतियों को सार्वजनिक रूप से भुला देने के लिए उद्यत, आतुर हो। उनकी भाषा के मात्र कुछ ही अस्पष्ट शब्दों का अर्थ निकाला गया है और एट्रूस्कन-रहस्य के समक्ष चैम्पोलियन से पूर्व मिस्र के फ़ैरो लोगों के बारे में व्याप्त रहस्य से भी अधिक गहन अन्धकार में आज सम्पूर्ण विद्वत्ता (आ) खड़ी (हुई) है। परिणामस्वरूप, लोग अभी भी इस सम्बन्ध में वाद-विवाद करते हैं कि एट्रूस्कन लोग कौन थे और वे कहाँ से (रोम में) आए थे। उनके धर्म, उनकी वेशभूषा और कला के अनेक तत्त्वों से ऐसा लगता है कि वे एशियायीमूल के थे। उन लोगों ने अनेक नगरों की स्थापना की, ज्यामितीय आधारवाली सड़कों व मकानोंवाले चारों ओर की प्राचीरोंयुक्त नगरियाँ बसायीं···उनके स्वतंत्र, पृथक्-पृथक् नगर-राज्य-थे···जो प्रायः उस समय अलग-थलग खड़े, बने रहे जब अन्य लोगों पर हमले होते थे और एक-एक कर, एक के बाद दूसरा रोम के समक्ष घुटने टेकता चला गया। किन्तु ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के अधिकांश काल में ये मित्र नगर-सीमाएँ इटली की सुदृढ़तम राजनीतिक शक्ति थीं···पुरुष व महिलाएँ दोनों ही आभूषण पसन्द करते थे। उनका जीवन संघर्षों, युद्धों से कठोर हो गया था, ऐश्वर्य के कारण नरम बना हुआ था और उत्सवों-त्योहारों व खेल-कूद से प्रसन्न, प्रफुल्लित व द्युतिमान था···।"[1]

डूरण्ट एट्रूस्कनों के इतिहास को एक दुर्बोध विक्षुब्धकारी अंधकार समझते हैं क्योंकि उन (डूरण्ट) के अग्रज (यूरोपीय) लोग इसे ऐसे ही अस्पष्ट रखना पसन्द करते रहे हैं। यह विश्वास सही नहीं है कि उन (एट्रूस्कन) लोगों ने मात्र लगभग एक सौ वर्ष तक ही रोम पर राज्य-शासन किया। रोमन-साहित्य एट्रूस्कन लोगों के बारे में जानबूझकर चुप है क्योंकि कृस्ती-पंथ, धर्म में परिवर्तित हुए रोमन लोगों ने इटली का कृस्ती-

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खण्ड III, पृष्ठ १ से ६।

पूर्व इतिहास उसी प्रकार जानबूझकर नष्ट किया और पूरी तरह दबा दिया है जिस प्रकार अरब के लोगों ने अपने इसलाम-पूर्व इतिहास को कत्ल कर दिया और उन्होंने जिन-जिन देशों को अपने पैरों तले रौंदा, उन सभी को वैसा ही स्वयं भी करने के लिए मजबूर कर दिया।

एट्रूस्कन भाषा के केवल कुछ ही शब्दों के अर्थ पता कर पाने का कारण यह है कि उनके शोध-कार्य में किसी संस्कृतज्ञ का सहयोग नहीं लिया गया है। प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी शोध में यूरोपीय व अमरीकी विद्वान् तब तक कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि वे अपने कार्यों में कुछ हिन्दू संस्कृतज्ञों का सहयोग न ले लें। ऐसा साहचर्य न होने के कारण वे ऊल-जलूल निष्कर्ष निकाल लेते हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने यूनान में जिस कृष्ण-पच्चीकारी को खोजा और कोरिन्थ के संग्रहालय में जिसे टाँग रखा है उसे निपट मूढ़ता, अज्ञानवश 'एक पशुचारी दृश्य' की संज्ञा, शीर्षक प्रदान कर रखा है। कुछ अन्य यूरोपीय विद्वान् उसे पीटर पान नाम देकर अपना अज्ञान, अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट कर रहे हैं।

कोरिन्थ में खुदाई-कार्य करनेवाली ब्रिटिश और अमरीकी पुरातत्त्व-शाखाएँ अपनी प्राप्तियों, उपलब्धियों को विचित्र उपहासास्पद नाम दे देते हैं और स्वयं को व सारे विश्व को अज्ञान, अंधकार में रखते हैं। अपने गले में नरमुण्डों की माला धारण की हुई 'भयानक देवी' की मूर्ति को खोदकर निकालनेवाले अमरीकी लोग उसे कालिका अर्थात् काली देवी की संज्ञा नहीं देंगे, उसे उक्त सही नाम से नहीं पुकारेंगे। एक अन्य स्थल पर उन्हें देव-जननी की प्रतिमा प्राप्त हुई किन्तु वे इसको हिन्दू नाम 'अदिति' से पहचानने में विफल रहे। परिणाम यह है कि उन्हें वस्तुएँ मिलती तो हैं किन्तु वे उन्हें 'हिन्दू' वर्गीकृत नहीं कर पाते।

दोगुने दुराग्रह ने इतिहास में उनके सम्पूर्ण शोध को विकृत कर दिया है। यूरोपीय होने के नाते उनको यह कष्टकारी अनुभूति होती है कि यूरोप में हिन्दू, एशियाई मौजूदगी या पैंठ स्वीकार की जाए। विद्वानों की भावी पीढ़ियों को यह जानकारी न हो जाए कि हिन्दुओं ने पहले कभी यूरोप व अरब देशों का स्व-उपनिवेशीकरण किया था और वे इसे साग्रह कहें—इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर यूरोपीय विद्वानों ने यह मनगढ़न्त, झूठ प्रचारित

कर दिया कि पश्चिम से, आर्यों का भारत में और अन्य पूर्वी देशों में निष्क्रमण हुआ था। इस प्रकार तथ्य को पूरी तरह उलट-पुलट देने से उन लोगों ने प्रयास किया कि अन्य अधिक निष्पक्ष विद्वान् भी भविष्य में यह दावा प्रभावी रूप से न कर सकें कि हिन्दुओं ने यूरोप को अपना उपनिवेश बनाया था। भारत की संस्कृत, हिन्दू-परम्पराओं और प्राचीन यूरोप व अरेबिया की भाषाओं व संस्कृति के मध्य किसी प्रकार की समानताओं-एकरूपताओं का पता न लग पाए—इस उद्देश्य से आर्यों का पूर्व दिशा में जाने का सिद्धान्त एक अत्यन्त कुटिल, चतुर प्रयास था। ऐसा करके वे उन समानताओं-एकरूपताओं का स्पष्टीकरण यह बताते हुए दे सकते थे कि ये तो यूरोप से पूर्व में जाने के कारण थीं—न कि पूर्व से यूरोप की ओर निष्क्रमण के कारण।

जब प्राकृतिक ढलान की ओर प्रवाहित होते किसी झरने की दिशा कृत्रिम बल-प्रयास से उलट देने का यत्न किया जाता है तो उससे जलावर्त्त और चक्रवात बन जाते हैं। यह पता न होने के कारण कि अब किधर जाना है, जलधाराएँ भ्रमित हो एक ही स्थल पर चक्कर लगाने लगती हैं। यूरोपीय विद्वानों ने 'आर्यों का पूर्व दिशा में निष्क्रमण'-सिद्धान्त प्रचारित कर जनमानस में यही भ्रम पैदा कर दिया है। ऐतिहासिक घटना तिथिक्रम और उपनिवेश-रचना का प्रवाह भारत से यूरोप की ओर है। यूरोपीय लोगों ने विपरीत दिशाओं में अपनी रचनाओं से इस पर जबरदस्ती, बल-प्रयोग किया। इस प्रयास ने विश्व के विद्वानों को चक्कर में डाल दिया है जो आर्यों के प्रश्न से अभी तक दिग्भ्रमित चले आ रहे हैं। तथ्य तो हिन्दू सम्राटों द्वारा यूरोप के उपनिवेशीकरण की ओर इंगित करते हैं। किन्तु यूरोपीय विद्वानों ने यही धारणा बारम्बार दोहरायी है कि देशान्तरण तो पश्चिम से भारत की ओर हुआ था। यह तथ्य-परिवर्तन ही विश्व के विद्वानों को भ्रम के जाल, चक्रवात में डाल चुका है जिसके कारण वे आर्य-निष्क्रमण प्रश्न के इर्द-गिर्द ही घूमते रहते हैं और उन्हें उस दिशा में कोई मार्ग सूझता ही नहीं। फिर भी, समय-समय पर क्षतिकारक, खतरनाक साक्ष्य यत्र-तत्र-सर्वत्र, यदा-कदा सामने आते ही रहते हैं।

उदाहरण के लिए, विल डूरण्ट कहते हैं, "इटली की कथा के कई

अध्याय अवाक्, चुप पड़े हैं। (प्राचीन) अवशेष दर्शाते, सिद्ध करते हैं कि ईसा से कम-से-कम तीस हजार वर्ष पहले तक भी (इटली में) मनुष्यों का रहन-सहन (वास) था।"

यह (कथन) यूरोपीय विश्वासों, साग्रह कथनों और शिक्षणों की जड़ों पर ही कुठाराघात करता है, उन्हें काटकर धराशायी कर देता है। वे लोग बड़े मनमौजी ढंग में परन्तु आधारहीन कथन देते फिर रहे थे कि प्राचीनतम राष्ट्र भी ३,००० वर्ष पुराने ही हैं और पश्चिम से आर्यों का भारत की ओर आना ईसा-पूर्व १५०० के लगभग हुआ था। इसके विपरीत हिन्दू लोग इटली व रोम में ३०,००० वर्षों पहले भी विद्यमान थे।

विल डूरण्ट द्वारा उल्लेख किए गए नगर-राज्य और गणतंत्र, नगरों की ज्यामितीय रूप-रेखा आदि निश्चित रूप से हिन्दू विशिष्टताएँ ही हैं। इसीलिए हमारा बार-बार साग्रह कथन है कि प्राचीन मामलों में हिन्दू, संस्कृत विशेषज्ञता के अभाव में कोई सार्थक शोध सम्भव ही नहीं है क्योंकि हिन्दू ही विश्व के सर्वप्रथम उपनिवेश संस्थापक थे।

"एक लम्बे शासन-काल के बाद रोमुलुस को एक चक्रवात में स्वर्ग तक ऊँचा पहुँचा, उठा दिया था, तत्पश्चात् किरिनस के रूप में उसकी पूजा की गई थी, जो रोम का एक अति लोकप्रिय देवता था।"[१]

उपर्युक्त उद्धृत अवतरण में हम दो सुविख्यात हिन्दू अवतारों राम और कृष्ण को खोज सकते हैं। समय और स्थान की विशाल दूरियों के कारण उन नामों की वर्तनियों और **उच्चारणों** में सहज ही विकृतियाँ आ गयीं। 'लम्बा शासनकाल' भी हिन्दू मूल ही है। हिन्दू-परम्परा में राम ने एक हजार वर्ष तक राज्य किया था। उसका स्वर्ग तक ऊँचा पहुँचा दिया जाना भी इस विश्वास का समर्थन करता है कि राम तो वह अवतार था जिसने अत्याचारी रावण का नाश करने के लिए ही संकटमोचनकर्ता की भूमिका निभाने के लिए ही पृथ्वी पर जन्म लिया था।

शिवलिंग मुख्य देवता होने के कारण ही रोम की मातृ-नगरी का नाम 'अल्बा लोंगा' पड़ा था।

---

१. 'सभ्यता की कहानी', खंड III, पृष्ठ २३।

एक अन्य लेखक ने भी स्वीकार किया है कि "एट्रूस्कनों के संगीत, आभूषण, खेल-कूद और भोजों के प्रति उनके प्रेम, उनके बहु-खर्ची होने, शकुन-विद्या विशेषकर सप्त-नक्षत्र विचार से उनका पूर्ण-देशीय चरित्र होना स्पष्ट है।"[१] "यदि सन्तुलन, निष्पक्षता की दृष्टि से हम पूर्व-देशीय मूल अस्थायी रूप से स्वीकार कर लें—जिस विचार को स्वयं एट्रूस्कनों ने रोमन साम्राज्य के प्रारम्भ में औपचारिक, सरकारी तौर पर माना था, तो उनके आगमन की तारीख (उनका आगमन स्वयं ही विवाद का विषय है) सामान्य रूप से ईसा-पूर्व ८०० सन् के बाद निर्धारित की जाती है।"

शिवलिंग अर्थात् हिन्दू शिव प्रतीक चिह्न इटली में कई स्थान पर जमीन में दबे हुए पाए गए हैं। चूँकि वाटिकन इटली के प्रधान उपासनालय, देवालय का एक प्राचीन स्थल है; अतः वाटिकन के प्रांगणों, वहाँ की प्राचीरों और कोठरियों-तहखानों में हिन्दू देव-मूर्तियाँ सैकड़ों की संख्या में अवश्य ही दबाई, छुपाई मिल जाएँगी। ऐसे स्मृति-चिह्नों की खोज, पुनः प्राप्ति के लिए विधिवत् पुरातत्त्वीय जाँच-पड़ताल प्रारम्भ करनी चाहिए। अब चूँकि हमने सिद्ध कर दिया है कि जीसस का कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था, इसलिए यह और भी जरूरी हो गया है कि वाटिकन का असली, वास्तविक प्राचीन हिन्दू मूल उचित प्रकार से अन्वेषण किया जाए।

कृस्ती-पंथ की शास्त्रीयता, इसकी सत्य-परख करनेवालों ने अभी तक जो एक अति महत्त्वपूर्ण पक्ष अपने ध्यान में नहीं लाया है वह वाटिकन का स्थान, उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी अवस्थिति है। यदि, जैसा सामान्यतः जोर देकर कहा जाता है कि कृस्ती-पंथ (धर्म) जरुस्लम में स्थापित हुआ था और जीसस ने अपना सम्पूर्ण जीवन वहीं बिताया था, तो रोम कृस्ती-पंथ का मुख्यालय कैसे, किन कारणों से बन गया? इस सम्बन्ध में दो परस्पर पूरक प्रमाण हैं। एक, चूँकि जरुस्लम में क्राइस्ट (कृस्त) नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं, और न ही जरुस्लम में या उसके आसपास कोई क्राइस्टवाद था, इसलिए कृस्ती-पंथ की कोई प्रभावकारी प्रधान संस्थापना वहाँ नहीं है।

दूसरी बात, सच्चाई यह है कि रोम कृस्ती-पंथ, कृस्ती-समुदाय का

१. मैथ्युइन : 'ग्रीक (यूनानी) और रोमन विश्व का इतिहास', पृष्ठ १५।

मुख्यालय बना क्योंकि रोम के सम्राट् के धर्म-परिवर्तन के साथ ही रोम की सेना सम्पूर्ण यूरोप के गले जबरदस्ती कृस्ती-पंथ (धर्म) को उतारने, ग्राह्य, स्वीकार्य कराने के लिए एक उपाय के रूप में उपयोग, इस्तेमाल की जाने लगी। अतः किसी भी व्यक्ति को यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि शस्त्र न होकर मात्र शास्त्र (प्रतीक चिह्न 'क्रॉस') ही था, ज्ञान या धर्म-व्याख्या ही थी जिसके आधार पर कृस्ती-पंथ के प्रचार-प्रसार, फैलाव में सहायता मिली।

इस बात का भी पूरा स्पष्टीकरण कभी प्रस्तुत नहीं किया गया कि यूरोप के सभी शासकों और वहाँ के शासित लोगों का दमन करने, उन पर जबरदस्त पराजय थोपने की शक्ति वाटिकन को कब, कहाँ से, कैसे प्राप्त हो गई। मुख्य कारण यह है कि अति प्राचीन काल में जब रोम एक हिन्दू, क्षत्रिय शासक वंश का मुख्यालय था, तब इसका प्रभुत्व सम्पूर्ण यूरोप पर छाया हुआ था। चूँकि हिन्दू शासक स्वयं संस्कृत के विद्वान् हिन्दू पुरोहित से मार्गदर्शन प्राप्त करता था, इसलिए रोम में अपनी धार्मिक आध्यात्मिक वाटिका में रहनेवाला हिन्दू पुरोहित समस्त यूरोप के लिए सर्वोच्च धर्माधिकारी बन गया। स्वयं 'पोप' की उपाधि या पदवी एक महत्त्वपूर्ण संकेतक है। असली, वास्तविक शब्द पाप है। यूरोपीय पद्धति के अन्तर्गत इसका उच्चारण पोप होने लगा।

स्वयं सम्राट् की 'आगस्टस (कैसर)' उपाधि भी महान् हिन्दू ऋषि अगस्त्य केसरी से व्युत्पन्न है। उक्त ऋषि का अपने पाण्डित्य और लम्बे-चौड़े भव्य व्यक्तित्व के कारण (श्रद्धायुक्त) विस्मय, भय और संमादर था। अतः उनको 'केसरी' अर्थात् एक सिंह, शेर समझा, माना जाता था। यह वही संस्कृत शब्दावली 'अगस्त्य केसरी' है जो 'आगस्टस केसर', (जर्मनी का) कैसर और (रूस का) 'क्जार' जैसे भिन्न-भिन्न रूप में उच्चारण किया जाने लगा। इसी प्रकार यूरोपीय भाषाओं में भव्यता और महानता का द्योतक 'आगस्ट' शब्द भी हिन्दू ऋषि अगस्त्य से ही व्युत्पन्न है। 'आगस्ट' (अगस्त) मास भी उन्हीं के नाम पर रखा हुआ है।

चूँकि संस्कृत 'पाप' (अर्थात् पाप से संरक्षण-बचाव करनेवाला) 'पोप' उच्चारण किया जाता था, राम भी रोम (रोमा) में उच्चरित होता था जो राजधानी रोम की यथार्थ वर्तमान इतालवी वर्तनी है।

अंग्रेजी आधार-ग्रंथ सूची

(BIBLIOGRAPHY)

1. Buddhist and Christian Gospels, by Albert J. Edmunds, The Yuhokwan Publishing House, Tokyo, 1905 A.D.
2. The Story of Civilization, by Will Durant, Volumes II and III.
3. A Social and Religious History of the Jews, by Salo Wittmayer Baron, 2nd edition, Columbia University Press, New York, 1962 A.D.
4. Collier's Encyclopaedia (Volume V), U.S.A., 1962 A.D.
5. The Works of Flavius Josephus.
6. Methuen's History of the Greek and Roman World.
7. The Civil and Literary Chronology of Greece (III Volumes), by Henry Fynes Clinton, Oxford University Press, 1834 A.D.
8. The Theogony of the Hindus, by Count M. Bjornstjeena, John Murray, Albemarle Street, 1944 A.D.
9. Constantine Porphyrogenitus De Administrando Imperio, Vol. II, edited by R.J.H. Jenkins, University of London. 1962 A.D.
10. Ancient India as Described by Megasthenes and Arrian, by J. W. McCrindle, Trubsnev Co., London, 1877 A.D.

11. An Appendix To a Dissertation on the Civil Government of the Hebrews, by Moses Lowman, London.
12. The Word, by Irving Wallace.
13. The Holy Bible, Cambridge University Press.
14. Encyclopaedia Judaica, Keter Publishing Co. Ltd., Jerusalem.
15. The Geography of Strabo, Translated, with notes by H.C. Hamilton and W. Falconer; published by Henry G. Bohn, York Street, Covent Garden, London.
16. Herodotus, Rawlinson's Translation, The Nonesuch Press, Great James Street, Bloomsbury.
17. The Koran, Translated with notes by N.J. Dawood, 4th revised edition, 1974 A.D. (Penguin Classics).
18. Christianity at Corinth, by C.K. Barrett.
19. A Commentary on the First Epistle to the Corinthians, by C. K. Barrett.
20. Encyclopaedia Britannica, Volumes XXV, eleventh edition.
21. Portraits of Christ, by Ernst Kitzinger and Elizabeth Semor, Penguin Books Ltd., Harmondsworth, U.K. 1940 A.D.
22. India in Greece, E. Pococke. John J. Griffin and Co., 58 Baker Street, Portman Square, London, 1852 A.D.
23. Did Jesus Exist? by G.A. Wells, Elek Pemberton, 54-58 Caledonian Road, London, NI 9 RN, 1975.
24. The Veil of Hebrew History—A Further Attempt to Lift It, by the Rev. T.K. Cheyne, Adam and Charles Black, London, 1913 A.D.
25. An Historical View of Christianity, by Edward Gibbon, by T. Cadell and W. Davies, Strand, London, 1800 A.D.

26. The History of the Decline and Fall of the Roman Empire, by Edward Gibbon, W. Strahan and T.Cadell, London.

27. The Jewish-Christian Argument, by Hans Joachim Schoeps, Faber and Faber, 24, Russel Square, London, 1963 A.D.

28. Ancient Indian Historical Tradition, by F. E. Pargiter, Humprey Milford, London, 1922.

29. Some Missing Chapters of World History, by P. N. Oak, 1973.

30 Jesus Died In Kashmir, by Andreas Faber-Kaiser.

31. Philosophy of Ancient India, by Richard Garbo, Chicago, 1897.

32. A History of Hindosthan, Its Arts and Sciences, by T. Maurice, 1795; reprinted in 1971 by Navrang Publishers, New Delhi.

33. The Odyssey.

34. St. Paul, His Life, His Work and His Writings, by W. H. Darrenport Adams, T. Nelson and Sons, Paternoster Row, Edinborough and New York, 1875 A.D.

35. Life of Jesus, by Ernest Renan.

36 Antiquities of the Jews, by Josephus.

37. The Mind of St. Paul, Fontana, 1965.

38. The Church And Jesus, by Rev. P. G. Downing, London, 1968.

39. In Search of the Historical Jesus, by H. McArthur, London, 1970.

40. The Trial and Death of Jesus, by H. Cohn, London, 1972.

41. Amen, by V. Hasler, Zurich and Stuttgart, 1969.

42. The Gospels, Their Origin And Growth, by F.C.Grant London, 1957.

43. Aretologies, Divine Men, Gospels and Jesus, by Morton Smith.

44. Marks's Contribution to the Quest of an Historical Jesus, by E. Schweizer.

45. Iscariot, by B. Gartner.

46. Life and Letters of Ram Mohan Roy, by Miss Sophia Collet.

47. The Fountainhead of Religion, by Ganga Prasad.

48. The Conflict Between Paganism and Christianity in the Fourth Century, by A. Momighano.

49. A Social and Religious History of the Jews by Salo Wittmayer Baron, II edition, 1962, Columbia University Press.

50. Mathuen's History of the Greek and Roman World.

51. Geography of Starbo (III Volumes).

अधिक प्रयोग में आनेवाले कुछ रूढ़ अंग्रेजी शब्द व उनके हिन्दी पर्यायवाची शब्द

1.	Acts	: धर्म चरित
2.	Apostles	: पट्ट-शिष्य
3.	Christ	: क्राइस्ट, क्रुस्त, क्रिश्त, ख्रिस्त, क्रस्त
4.	Christianity	: क्रिश्चियनिटी, क्रुस्ती-पंथ, क्रुस्त-पंथ, क्रुस्त-नीति, कृष्ण-नीति, ख्रिस्ती-पंथ, ईसाई धर्म/मत/पंथ
5.	Christian	: क्रिश्चियन, क्रुस्ती, क्रुस्त-पंथी, कृष्णी, कृष्ण-पंथी, ईसाई
6.	Christ Brotherhood	: क्रुस्त-भ्रातृसंघ
7.	Crucification	: 'क्रूस' या सूली पर चढ़ाना, फाँसी देना
8.	Disciples	: अनुयायी
9.	Epistles	: धर्मपत्र
10.	Evangelists	: सुसमाचार-लेखक
11.	Gospel	: गॉस्पल, सुसमाचार, धर्म सिद्धान्त, धर्मग्रन्थ
12.	Jews	: ज्यूस, यहूदी लोग
13.	Jewish Old Testament	: यहूदी पूर्व/प्राचीन विधान
14.	Old Testament	: प्राचीन/पूर्व विधान
15.	Logia	: सूक्ति संग्रह
16.	Mundane Correspondence	: धार्मिक/सैद्धान्तिक पत्रावली

17. New Testament : नव विधान, उत्तरार्द्ध
18. Pass Over : पास्का (ईस्टर), विच्छेद
19. Pagan : गैर-यहूदी, गैर-ईसाई
20. Roman : रोमन, रोमवासी
21. Snoptics : सहदर्शी

□□□





हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54, डी.बी. गुप्ता रोड़
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
टेलीफैक्स : 23553624, 51545969
e-mail : indiabooks@rediffmail.com